

संशोधित एवं विस्तृत संस्करण

बच्चे असफल कैसे होते हैं

"उन सभी के लिए, जो बच्चों के सम्पर्क में आते हैं और बच्चों
से सरोकार रखते हैं, एक निहायत ज़रूरी किताब"

- द न्यू यॉर्क टाइम्स



जॉन होल्ट

संशोधित संस्करण

☐ बच्चे

असफल ☐

☐ कैसे होते हैं

जॉन होल्ट

हिन्दी अनुवाद : पूर्वा याज्ञिक कुशवाह

प्रकाशक

एकलव्य

ई-7/543 एच. आई. जी.,

अरेरा कॉलोनी, भोपाल, (म. प्र.) 462 016

फोन : 0755-463380

बच्चे असफल कैसे होते हैं

© हिन्दी अनुवाद : एकलव्य

प्रथम संस्करण : 1993

द्वितीय संस्करण : 1995

तृतीय संस्करण : 1996

चतुर्थ संस्करण : 2002

जॉन होल्ट फाउंडेशन की अनुमति से प्रकाशित

मूल्य : 75 रुपए

मुद्रक : आदर्श प्रिन्टर्स एण्ड पब्लिशर्स

भोपाल, फोन : 550291, 555442

“अगर हम बच्चों को बोलना सिखा रहे होते, तो वे कभी न सीख पाते।”

विलियम हल

“चीजों के बारे में सोचो, शब्दों के बारे में नहीं।”

ओ. डब्ल्यू. होम्स, जूनियर

विषय सूची

जॉन होल्ट का जन्म न्यू यॉर्क सिटी में 1923 में हुआ था। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान वे अमरीकी नौसेना में रहे। युद्ध के बाद वे विश्व सरकार आंदोलन से जुड़े और अन्ततः संयुक्त विश्व संघवादियों की न्यू यॉर्क राज्य शाखा के कार्यकारी निदेशक बने। बाद में उन्होंने कॉलरेडो और मैराचुसेट्स के विभिन्न स्कूलों में पढ़ाया। साथ ही वे हार्वर्ड ग्रेजुएट स्कूल ऑफ एज्युकेशन और कैलिफोर्निया यूनिवर्सिटी, बर्कले में विज़िटिंग लेक्चरर भी रहे। वे होम-स्कूलिंग मूवमेंट के अग्रणी प्रवक्ता रहे और तमाम वैधानिक संस्थानों के समक्ष इस बाबत ठोस साक्ष्य भी प्रस्तुत करते रहे। अपने बच्चों को घर पर ही शिक्षा दे रहे अभिभावकों के लिए वे *ग्रोइंग विदाऊट स्कूलिंग* नामक एक पत्रिका भी निकालते थे। इसके अलावा जॉन होल्ट एक समर्पित चेलो वादक भी थे।

उन्होंने शिक्षा सम्बंधी कई पुस्तकें लिखीं मसलन, *हाऊ चिल्ड्रन लर्न*, *फ्रीडम एण्ड बियॉन्ड*, *एस्केप फ्रॉम चाइल्डहुड*, *द अंडर अचीविंग स्कूल*, *नेवर टू लेट* (वयस्क होने पर कोई भी संगीत-वाद्य बजाना सीखने के बारे में) और *टीच योर ओन*। उनके लेख और समीक्षाएँ तमाम पत्रिकाओं और जर्नलों जैसे *द न्यू यॉर्क रिव्यू ऑफ बुक्स*, *बुक वीक*, *लुक एण्ड पीस न्यूज़* (लंदन) में प्रकाशित हुए हैं।

प्राक्कथन

प्राक्कथन : संशोधित संस्करण

भाग 1 : पैतरेबाजी

भाग 2 : भय और असफलता

भाग 3 : वास्तविक ज्ञान

भाग 4 : स्कूल असफल कैसे होते हैं

भाग 5 : सार संक्षेप

आभार

और सब की तरह, मुझ पर भी, औरों का इतना ऋण है कि मैं जिन्दगी भर न तो उसे चुका सकता हूँ और न ही बता ही सकता हूँ। लेकिन कुछ चुनिन्दा व्यक्तियों के प्रति मैं विशेष रूप से आभारी हूँ जिन्होंने खासकर इस पुस्तक और इसमें निहित विचारों को विकसित करने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। उनमें प्रथम हैं एक्सेटर में मेरे अंग्रेजी के अध्यापक रॉबर्ट कनिंघम। वे कहा करते थे, “निश्चितता एक भ्रम है और विराम मनुष्य का भाग्य नहीं,” और इसी वजह से पहली बार शंका और बदलाव के प्रति मेरी आँखें खुलीं। इसके बाद हैं कॉलरेडो रॉकी माउंटन स्कूल के निदेशक जॉन व एन होल्डन, लेस्ली-एलिस स्कूल की प्रधानाध्यापिका मेरी राइट, जिन्होंने पढ़ाने के लिए मुझे कक्षाएँ उपलब्ध करवाई और स्वतंत्रता दी कि जैसा चाहे पढ़ाऊँ। स्वतंत्रता, गलतियाँ करने की और उनसे सीखने की। अब आती हैं पेगी ह्यूज़, जिन्होंने मुझे अपने शिक्षण सम्बंधी नोट्स को एक पुस्तक के रूप में छपवाने के लिए प्रेरित किया। मेरी बहन जेन पिचर, जिनसे मैंने छोटे बच्चों के बारे में काफी कुछ जाना और बच्चों के साथ रहने व आनन्द उठाने के बारे में सीखा, के प्रति भी मैं आभारी हूँ। उसके अलावा बिल हल के प्रति भी मैं आभारी हूँ। बिल ने मुझे कक्षा और मेरे द्वारा “पढ़ाएँ” जाने वाले बच्चों के दिमागों के बारे में राजसे ज्यादा समझ प्रदान की। और अन्ततः उन बच्चों के प्रति जिन्होंने मुझे उससे कहीं ज्यादा सिखाया, जितना कि मैंने उन्हें।

प्राक्कथन

अधिकांश बच्चे स्कूल में फेल होते हैं।

और उनमें से ज्यादातर के लिए यह असफलता प्रकट रूप से सम्पूर्ण होती है। स्कूलों में दाखिला लेने वाले चालीस प्रतिशत बच्चे स्कूली स्तर की शिक्षा पूरी नहीं कर पाते। महाविद्यालय-स्तर में दाखिला लेने वाले हर तीन छात्रों में से एक बीच में ही पढ़ाई छोड़ देता है।

पर जाहिरा तौर पर फेल होने वाले इन बच्चों के अलावा भी तमाम दूसरे बच्चे फेल होते हैं। अंकों की दृष्टि से नहीं, बल्कि एक दूसरे, कहीं गहरे अर्थ में असफल होते हैं। वे अपनी स्कूली शिक्षा महज इसलिए पूरी कर पाते हैं, क्योंकि हम शिक्षक उन्हें अपनी सहमति से अंक दे, धकियाकर, स्कूल से बाहर निकलने में सहायता करते हैं। फिर चाहे वे कुछ जानते हों, या न जानते हों। सच्चाई तो यह है कि ऐसे अप्रकट रूप से फेल होने वाले बच्चों की संख्या हमारे अनुमान से कहीं अधिक है। अगर हम “स्कूली शिक्षा का स्तर” कुछ ऊपर उठा दें, जैसा कि कई शिक्षाविद् करना चाहते हैं, तो हमें तत्काल अप्रकट रूप से फेल होने वाले बच्चों की सही संख्या का पता लग सकता है। हमारी सभी कक्षाएँ ऐसे छात्रों से भर जाएंगी जो परीक्षाएँ पास कर ही नहीं सके।

पर एक इससे भी गहरी असफलता है जो मुट्ठी भर छात्रों के अलावा सभी छात्रों में समान रूप से मिलती है। यह जरूरी नहीं है कि अपवादस्वरूप मिलने वाले ये मुट्ठी भर छात्र अच्छे छात्र ही हों। यह गूढ़ असफलता इस अर्थ में रहती है कि बच्चे सीखने, समझने और रचने के अपने जन्मजात और असीम सामर्थ्य का केवल एक छोटा-सा भाग ही स्कूलों में विकसित कर पाते हैं, जबकि जीवन के दो-तीन प्रारम्भिक वर्षों में वे इस सामर्थ्य का भरपूर उपयोग करते रहे थे।

यह असफलता बच्चों में क्यों आती है?

इसलिए, क्योंकि वे डरते हैं, ऊबते हैं और भ्रमित रहते हैं।

उनके मन में सबसे बड़ा भय होता है अपने आस-पास के वयस्कों को निराश और नाराज़ करने का। इन वयस्कों की असीम आशाएँ और अपेक्षाएँ बच्चों के सिर पर बादलों की तरह गहराती रहती हैं।

बच्चे ऊबते इसलिए हैं, क्योंकि जो कुछ उन्हें स्कूलों में करने को दिया या कहा जाता है, वह सबका सब बेहद निरर्थक और नीरस होता है। बच्चों से रखी जाने वाली अपेक्षाएँ नितान्त सीमित होती हैं, जबकि बच्चों की मेधा, उनकी प्रतिभा और उनके गुण असीम होते हैं।

बच्चे भ्रमित इसलिए होते हैं क्योंकि उनके सिर पर अर्थहीन शब्दों का प्रपात सवेग झरता रहता है। ये शब्द बराबर उस सबका खंडन करते हैं जो बच्चे को पहले बताया गया था। और तो और, बच्चे जो कुछ स्वयं अपने अनुभव से जानते हैं उससे भी इस शब्द प्रपात का कोई सम्बंध नहीं होता है। यथार्थ की जो अनगढ़-सी छवि बच्चों के मन में होती है, उससे पूरी तरह कटा हुआ होता है।

और यह व्यापक असफलता क्यों होती है? हमारी कक्षाओं में आखिर होता क्या है? ये असफल होने वाले बच्चे अपनी कक्षाओं में भला करते क्या हैं? क्या सोचते हैं वे? अपने सामर्थ्य का उपयोग वे क्यों नहीं करते?

यह पुस्तक इन्हीं प्रश्नों के उत्तर ढूँढ़ने के एक प्रयास का प्रारम्भिक और आंशिक लेखा-जोखा है। पुस्तक का जन्म हुआ था उन नोट्स के रूप में जो मैं हर शाम अपने मित्र और सहकर्मी बिल हल को लिखा करता था। बिल की पाँचवीं कक्षा को मैं उन दिनों पढ़ाता भी था और उसका अवलोकन भी करता था। उन दिनों लिखी इन अवलोकन टिप्पणियों को मैंने फिर से नहीं लिखा है। हाँ, उनका सम्पादन अवश्य किया है और उन्हें चार भागों में व्यवस्थित कर दिया है। ये चार भाग हैं — पैतरेबाज़ी (स्ट्रेटजी), भय और असफलता (फीयर एण्ड फेलियर), वास्तविक ज्ञान (रीयल लर्निंग) और कैसे असफल होते हैं स्कूल (हाऊ स्कूल्स फेल)।

पैतरेबाज़ी में बच्चों द्वारा अपनाई जाने वाली हर तिकड़म का वर्णन है जिसके सहारे वे स्कूलों में वयस्कों द्वारा की जाने वाली माँगों का सामना करते हैं या उनसे बचते हैं। भय और असफलता में बच्चों के मन में भय और पराजय की परस्पर प्रतिक्रिया एवं बच्चों द्वारा अपनाई जाने वाली पैतरेबाज़ी तथा सीखने की प्रक्रिया पर इन दोनों के संयुक्त प्रभाव की चर्चा है। बच्चे असल में जो कुछ सीख पाते हैं और जो कुछ जानने या सीखने की उनसे अपेक्षा की जाती है, उस अन्तर की चर्चा पुस्तक के तीसरे भाग वास्तविक ज्ञान में है। कैसे असफल होते हैं स्कूल? में इस बात का विश्लेषण है कि स्कूल कैसे बच्चों में बुरी रणनीतियाँ पनपाते हैं, उनमें डर जगाते हैं और ऐसे ज्ञान को पैदा करते हैं जो खंडित, विकृत और अल्पकालिक तो होता ही है, साथ ही उनकी वास्तविक ज़रूरतों की पूर्ति तक नहीं कर पाता।

यह तो ज़ाहिर ही है कि ये चारों भाग परस्पर एकाकी नहीं हैं। वे आपस में जुड़ते व घुल-मिल जाते हैं। शायद यह कहना उचित ही होगा कि ये सभी बच्चों के चिन्तन और उनके व्यवहार को देखने व समझने के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण मात्र हैं।

यह पहले ही स्पष्ट कर दूँ कि यह पुस्तक चुनिंदा खराब स्कूलों या प्रतिभाहीन और पिछड़े बच्चों के बारे में नहीं है। जिन स्कूलों के अनुभव पुस्तक में संकलित हैं, वे सभी ऐसे निजी शिक्षण संस्थान थे जो न केवल विख्यात हैं बल्कि जिनके स्तर भी ऊँचे थे। कुछ अपवादों को छोड़कर, जिन बच्चों का वर्णन हुआ है वे भी मेधा में सामान्य बच्चों से बेहतर थे। और तो और सरसरी तौर पर देखने में सफल भी नज़र आते थे। ये सभी छात्र-छात्राएँ अपने कदम “अच्छे” विद्यालयों, महाविद्यालयों की ओर बढ़ा रहे थे।

मेरे ऐसे सहकर्मी और मित्र, जो आजकल के बच्चों के चरित्र और मेधा पर स्कूलों के दुष्प्रभाव को समझते हैं, और जिन्होंने मुझसे कहीं ज्यादा स्कूल देखे हैं, उनका मानना है कि दूसरे स्कूल इन स्कूलों से बेहतर नहीं हैं बल्कि कुछ तो बदतर ही हैं।

प्राक्कथन संशोधित संस्करण

पुस्तक छपी ही थी कि लोगों ने मुझसे यह पूछना शुरू कर दिया कि आप शिक्षकों की असफलता पर पुस्तक कब लिखने वाले हैं? मेरा उत्तर था, “यह पुस्तक तो है ही इस बारे में।”

पर इतना अवश्य स्पष्ट करना चाहूंगा कि अगर यह पुस्तक उस शिक्षक के बारे में है जो अक्सर असफल होता रहा, तो यह पुस्तक उस शिक्षक के बारे में भी है जो अपनी असफलता को स्वीकार कर संतुष्ट नहीं हो गया, वरन् निरन्तर उनसे लड़ने का प्रयास करता रहा। बच्चों को सिखाना मेरी ही जिम्मेवारी थी, आखिर शिक्षक का काम मैंने स्वयं अपने लिए चुना था। और जैसे ही यह स्पष्ट होता कि मैं वह सब नहीं सीख पा रहे हैं जो मैं उन्हें सिखा-पढ़ा रहा था तो फिर यह दायित्व भी मेरा ही था कि मैं तब तक नए-नए तरीके अपनाता, जब तक मुझे उन्हें सिखाने का सही उपाय न मिल जाता।

वर्षों से मैं शिक्षकों और छात्र-शिक्षकों से यह अनुनय करता रहा हूँ कि वे भी अपने काम के प्रति यह दृष्टिकोण अपनाएँ। पर ऐसा कहते ही वे पलटकर मुझसे यह जानना चाहते हैं, “स्कूलों में होने वाली हरेक भूल के लिए आप हमें दोषी क्यों ठहराते हैं? आप हमें इस कदर अपराध बोध से क्यों दबा देना चाहते हैं?”

पर ऐसा तो मैंने कभी कहा ही नहीं। मैंने तो कभी स्वयं तक को दोषी नहीं ठहराया। न ही इस बात के लिए स्वयं को अपराधी माना

कि मेरे छात्र वह सब नहीं सीख सके जो मैं उन्हें सिखाता-पढ़ाता रहा, न इस बात के लिए कि मैं वह नहीं कर पा रहा था जिसका संकल्प मैंने अपना काम प्रारम्भ करने के पहले किया ज़रूर था, पर जिसे कर पाने की राह मुझे सूझी नहीं। पर इतना ज़रूर था कि अपनी असफलता के लिए मैं स्वयं को दोषी नहीं, तो जिम्मेवार अवश्य मानता था।

दरअसल “दोषी” और “अपराधी” दोनों ही शब्द रोंदू हैं। अच्छा हो कि शिक्षा की चर्चा से हम इन दोनों को ही बाहर रखें। हम उनके बदले “जिम्मेवार” शब्द का प्रयोग करें। हम यह कामना करें कि स्कूल व शिक्षक अपने कामों के लिए स्वयं की जिम्मेवारी स्वीकार करने लगे।

मैंने अपना दायित्व हमेशा स्वीकारा था। अगर मेरे छात्र वह सब नहीं सीख रहे थे जो मैं उन्हें सिखाता था तो मेरा दायित्व यही था कि मैं यह जानने की चेष्टा करूँ कि आखिर ऐसा क्यों होता है। बच्चे असफल कैसे होते हैं? शीर्षक की यह पुस्तक, जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूँ, इस बात को जानने का अपर्याप्त व आंशिक प्रयास है कि बच्चों में यह असफलता क्यों पनपती है। पुस्तक लिखने के प्रायः बीस वर्षों के बाद आज मैं यह बेहतर जानता हूँ कि ऐसा आखिर क्योंकर होता है। यही बात इस संशोधित संस्करण का कारण भी है।

मूल पुस्तक को मैंने जस का तस छोड़ दिया है। पर जिन स्थानों पर पुनर्विचार किया, उन्हें फिर से लिखा है और मूल के साथ शामिल किया है। पाठकों को लग सकता है कि जो कुछ भी मैंने जाना, उसे जानने में मुझे बहुत अधिक समय लगा। उन्हें यह भी लग सकता है कि मैंने ऐसी तमाम गलतियाँ भी कीं जो बेवकूफी भरी थीं। यह भी कि मैं अनेक साफ नज़र आने वाले इंगितों को पढ़ नहीं पाया। पर इन सबके लिए मेरे मन में अपराध-बोध नहीं है। क्योंकि, अपनी ओर से मैंने इन सभी दुरुह बातों को जानने का हर सम्भव प्रयास किया था। बल्कि मुझे यह भी लगता है कि जो रास्ता मैंने पकड़ा, उससे कम समय लेने वाला कोई दूसरा रास्ता था ही नहीं। आशा करता हूँ कि इस पुस्तक को पढ़ते समय आप यह देख सकेंगे कि मैं कहाँ से शुरू हुआ, किन घुमावों व मोड़ों पर चलता चला और अन्ततः वहाँ पहुँचा, जहाँ आज हूँ।

आजकल हर जगह ही हमारे स्कूलों के स्तर को ऊँचा उठाने की चर्चा है। यह चर्चा भी सुनाई पड़ती है कि बच्चों को अगली कक्षा में उत्तीर्ण करने के पहले हम यह “सुनिश्चित कर लें कि जो कुछ उन्हें जानना चाहिए उसे बच्चों ने जान भी लिया है या नहीं”। पर इन सुझावों को अपनाने पर उनका व्यावहारिक रूप क्या होगा? हम केवल उस छल-कपट को ही बढ़ावा देंगे जिसकी चर्चा मैं पुस्तक में कर चुका हूँ। इम्तिहानों के पहले हम बच्चों को बार-बार सब कुछ दोहराने पर बाध्य करेंगे, जिससे बाहरी तौर पर यह लगने लगे कि वे वह सब भी जानते हैं जो असल में वे जानते ही नहीं। साथ ही इन नियमों को समान रूप से लागू भी नहीं किया जाएगा। इससे होगा यह कि निर्धन व अश्वेत परिवारों के बच्चे, सम्पन्न या श्वेत परिवारों के बच्चों की तुलना में अधिक बड़ी संख्या में पीछे रोक लिए जाएँगे। और तब, अन्ततः हम यह भी साफ देख सकेंगे कि शायद हमें बहुत पहले ही समझ लेना चाहिए था कि किसी कक्षा को दोहराने मात्र से बच्चे पहले से अच्छे परिणाम नहीं ला पाते। बल्कि, शायद वे अपने पर्व उतने अच्छे भी नहीं कर पाते जितने उन्होंने पहले किए थे। और क्यों हों उनके परिणाम बेहतर? अगर कोई शिक्षण पद्धति पहली बार में बच्चों को कुछ सिखा नहीं पाई तो दूसरी बार वह क्योंकर सफल रहेगी? सच्चाई तो यह है कि फेल होने की शर्म का बोझ उठाए-उठाए ये बच्चे पहले से कहीं अधिक नाराज़ और भ्रमित होते जाते हैं। वे न केवल पहले से कहीं खराब काम करते हैं, बल्कि कक्षा में बाधाएँ भी उपस्थित करते चलते हैं।

दूसरे लफ्ज़ों में, “सामाजिक उत्थान” की बुराई के खिलाफ यह संघर्ष ज़्यादा दूर तक नहीं जाएगा। न ही इसके कुछ सकारात्मक नतीजे निकलेंगे।

कुछ ही समय पहले न्यू यॉर्क में शिक्षा लेखक संघ की बैठक में हार्वर्ड ग्रैज्युएट स्कूल ऑफ एज्युकेशन के प्रोफेसर डॉ. रॉनल्ड एडमंड्स को सुनने का मौका मिला। वे न्यूयॉर्क शहर के स्कूलों के अनुरोध पर किए गए अपने एक शोध पर बोल रहे थे। उन्होंने और उनके साथियों ने यह जानने की चेष्टा की कि ऐसी कौन-सी बातें हैं जो कुछ स्कूलों को अधिक “कारगर” बनाती हैं। कारगर का अर्थ इस शोध में यह था कि इन स्कूलों में आर्थिक रूप से कमज़ोर परिवारों से आनेवाले छात्रों का एक

खास प्रतिशत भी वह सब सीख रहा था, जो बच्चों के लिए किसी कक्षा में सीखना ज़रूरी माना जाता था। सीखने की मात्रा भी इतनी थी कि इन बच्चों को वैध रूप से अगली कक्षा में उत्तीर्ण किया जा सके। कमजोर तबके से आने वाले छात्रों का अनुपात भी प्रायः उतना ही था जितना कि मध्यमवर्गीय या सम्पन्न परिवारों से आने वाले छात्रों का था।

पहली महत्वपूर्ण बात जो इस शोध से स्पष्ट हुई वह यह थी कि संयुक्त राज्य अमरीका के सम्पूर्ण उत्तरी भाग में शोधकर्ता कुल पचपन स्कूल ढूँढ़ पाए जो “कारगर” स्कूलों की इस सीमित परिभाषा में आते थे।

इन स्कूलों की पहचान कर लेने के बाद शोधकर्ताओं ने उन्हें जाँचा और उन खासियतों को पहचानने की चेष्टा की जो इन सभी स्कूलों में समान रूप से मिलीं। जिन पाँच लक्षणों या विशेषताओं की सूची उन्होंने बनाई उनमें से मुझे दो निर्णायक लगती हैं। पहली समानता यह थी कि अगर छात्र कुछ नहीं सीख पाते तो उन्हें या उनके परिवारों को, उनकी पृष्ठभूमि या उनके मोहल्ले को, उनके दृष्टिकोण या उनके स्नायुतंत्र को, या ऐसे ही किसी बाहरी कारण को उनकी असफलता के लिए इन स्कूलों में उत्तरदायी नहीं ठहराया जाता था। छात्रों की सफलता या असफलता का पूरा दायित्व वे स्वयं स्वीकारते थे। दूसरे, जब कभी कक्षा में प्रयुक्त कोई विधि कारगर होती नहीं लगती तो वे उसे त्यागते और कोई दूसरा तरीका या दूसरी ही चीज़ करने की चेष्टा करते। वे हमेशा पद्धतियों या उपायों को असफल करारते, छात्रों को नहीं।

अगर हम स्कूलों, उनके प्रबन्धकों व शिक्षकों को इस दिशा में सोचने पर सहमत कर सकें तो स्कूलों को बेहतर होता देख सकेंगे। पर निकट भविष्य में ऐसा होने की सम्भावना नहीं दिखती, बल्कि सारे इंगित इसके विपरीत दिशा के हैं। नज़र आते हैं। जितने खराब परिणाम किसी स्कूल में आते जाते हैं, उतना ही ये स्कूल दावा करते हैं कि उनके तरीके सही हैं और बुरे परिणामों की ज़िम्मेवारी उनकी तो नहीं है।

अन्तिम टिप्पणी। बच्चों की मेधा का यह विनाश, जिसका वर्णन इस पुस्तक में है, आज से बीस वर्ष पहले भी हो रहा था।



पैंतरेबाज़ी

□ फरवरी 13, 1958

नैल को मैं भुला नहीं सकता। आज सुबह जब वह भिन्नो पर मुझ से बात कर रही थी तो मुझे लगने लगा मानो उसका दिमाग समझ को ही नकार रहा हो। क्या यह बात असामान्य नहीं है? ऐसा तो कई बार होता है कि बच्चे किसी विचार को समझ लेने का विरोध करते हैं, यह भी कि वे समझने की चेष्टा ही नहीं करते, पर क्या ऐसा भी होता है कि वे किसी विचार को समझने के बाद उसे तुरंत दिमाग से निकाल बाहर करें? ऐसा क्योंकर करते हैं बच्चे? नैल को देखकर तो यही लगा कि वह ठीक यही कर रही है। उसने कई बार मेरे शब्दों को समझने का प्रयास किया, और कई तरह से समझाने और कई चरणों को पूरा करने के बाद जब यह लगने लगा कि वह भिन्नो के विचार समझने लगी है तब उसने सिर हिलाया और कहा, “ना, मेरे पल्ले कुछ भी नहीं पड़ रहा है!” असफल रहने में भी क्या किसी बच्चे का कोई निहित स्वार्थ हो सकता है? क्या था वह सब? अंकों का खेल खेलते समय मार्था भी अक्सर यही करती है। वह समझती नहीं है, समझना चाहती ही नहीं है, वह तो बात सुनती तक नहीं है। जब कभी समझाने की चेष्टा करो तो कहती है, “दिमाग में सब गड़मड़ हो गया है।”

हो सकता है, इस सबका उत्पादक-विचारकरणनीतियों से ही कोई सम्बंध हो। (यहाँ उत्पादक शब्द का प्रयोग हम उस छात्र के लिए करते हैं जिसकी रुचि सही हल पा लेने तक सीमित हो और जो सभी नियमों और फॉर्मूलों का बिना सोचे समझे उपयोग करता है, ताकि उसे सही उत्तर मिल जाए। इसके विपरीत विचारक शब्द का उपयोग उन छात्रों के लिए किया जाता

है जो किसी भी दिए गए काम के अर्थों तक पहुँचने की, उसकी जड़ तक पहुँचने की कोशिश करते हैं। जो छात्र केवल सही उत्तर की दिशा में छलांग लगाते हैं उन्हें उत्तर न मिलने पर निराशा होती है। पराजय बोध उन्हें हताश कर देता है। जबकि सोचने-विचारने वाला छात्र सही उत्तर पाने के लिए इधर-उधर तलाश करने को तैयार रहता है।

मुझे कई छात्रों को यह कहते सुन कर आश्चर्य होता है कि मैं तो बिल्कुल ही बुद्ध हूँ। मैं यह समझता था कि इस तरह की टिप्पणियाँ बच्चे किशोरावस्था में पहुँचने के बाद ही करते हैं। पर ज़ाहिर है कि ऐसा नहीं है।

आज मेरी टोली अंकों का खेल अच्छा कर रही थी। (कक्षा के प्रायः दो-तिहाई बच्चे, कला या अन्य कार्यशालाओं में गए हुए थे। बिल हल ने एक विशेष घंटा “रूम पीरियड” ईजाद किया है, सो बाकी बच्चे इसी विशेष घंटे में मेरे पास थे। हम अपनी कक्षा के पास वाले एक छोटे कमरे में मिले। इस घंटे में हम कई तरह की पहेलियाँ या अन्य बौद्धिक खेल खेला करते हैं। ऐसी चर्चा भी करते हैं जो कक्षाओं में नहीं हो सकती। आज हम जो खेल खेल रहे थे, उसका नाम है “बीस सवाल”। खेल में शिक्षक कोई भी संख्या मन में सोच लेता है। तब बच्चे उससे सवाल कर उस संख्या तक पहुँचने की कोशिश करते हैं। 20 प्रश्नों के अंदर उन्हें उत्तर ढूँढ़ लेना होता है और शिक्षक इन प्रश्नों का उत्तर केवल “हाँ” या “ना” में ही दे सकता है।) लॉरा लगातार सबसे खराब प्रश्न पूछती रही। जब तक उसकी बारी आई तब तक सम्भव संख्याएँ सीमित हो तीन-चार ही रह गई थीं और इसलिए वह सही संख्या को अनुमान से चुन सकी। इसके बाद उसे लगने लगा कि उसके पास दिव्य दृष्टि ही है। सो, एक पारी में तो उसने संख्या का अनुमान तभी लगाया जब 12 सम्भावनाएँ बची थीं। इस प्रयास में उसकी टोली की तीन-चार पारियाँ बेकार हो गईं। इसके बाद मेरी को यह खुशफहमी हो गई कि वह सामने वाले का विचार पढ़ सकती है। सो वह सवाल करने के बदले संख्या का अनुमान शुरू से ही लगाने लगी। काफी देर तक उसकी टोली के बाकी बच्चे भी इस तिकड़म से प्रभावित रहे। कई असफलताओं के बाद ही वे अपनी पुरानी

नीति पर लौटे और सम्भावनाओं को सीमित करने के बाद अनुमान लगाने की कोशिश करने लगे।

बच्चे कमोबेश संतुलित और सहज थे और टोली के रूप में अच्छा काम कर रहे थे। गोकि हर प्रश्न के बाद जितनी संख्याओं को उन्हें सम्भावना के दायरे से बाहर कर देना चाहिए, वे नहीं कर पा रहे थे। अगर वे यह जान लेते कि संख्या 250 से 300 के बीच है, तो भी वे अगला सवाल कुछ यों ही करते, “क्या यह संख्या 250 से 260 के बीच है?” जबकि चाहते तो वे इसी प्रश्न में 260 से आगे भी बढ़ सकते थे।

नैन्सी अच्छा खेल रही थी, पर कुछ समय बाद वह खेल के दबाव से उत्तेजित हो चली, इतना कि उसके दिमाग ने काम करना बन्द कर दिया। पर नैल या मार्था की तरह इतना नहीं बौखलाई कि तुम्हें भिड़ने लगे। पर उसे यह नहीं सूझा कि वह क्या पूछे, सो वह चुप रह गई। चुप रहना एक बेहद सुरक्षित नीति है।

□ फरवरी 18, 1958

मेधा एक रहस्य है। यह तो अक्सर कहा जाता है कि व्यक्ति की अव्यक्त बौद्धिक क्षमताओं का एक छोटा सा हिस्सा ही विकसित हो पाता है और कई बार तो शायद इतना भी नहीं हो पाता। पर आखिर इन क्षमताओं का विकास होता क्यों नहीं है? लगता तो यह है कि हम अपने बुद्धि रूपी इंजन को उसकी क्षमता के दस प्रतिशत पर ही चलाते रहते हैं पर इससे अधिक क्यों नहीं चला पाते? क्योंकि आखिर ऐसे भी तो अनेक लोग हैं जो अपनी कुल क्षमता का बीस या तीस प्रतिशत या उससे भी अधिक इस्तेमाल कर पाते हैं।

ऐसा क्या है जो हमारी शक्ति के विकास के आड़े आता है और हमारी ऊर्जा को जागृत ही नहीं होने देता?

कॉलरेडो स्थित रॉकी माउंटन स्कूल में बैठा मैं पिछले चार वर्षों से इसी समस्या में उलझा हुआ हूँ। जब यहाँ काम करना शुरू किया था तो मैं

भी दूसरों की तरह यह मानता था कि कुछ लोग पैदा ही अधिक चतुर होते हैं, सो इसके बारे में किया ही क्या जा सकता है। और तो और, अधिकांश मनोवैज्ञानिकों का औपचारिक चिन्तन भी इसी बात की पुष्टि करता है। इस विचार को विश्वासपूर्वक स्वीकारना तब और भी सरल हो जाता है जब छात्रों से हमारा सम्पर्क औपचारिक हो, यानी कक्षाओं या मनोवैज्ञानिक परीक्षण भवनों तक सीमित हो। पर अगर शिक्षक किसी छोटे स्कूल में रहने लगे, जहाँ बच्चों को छात्रावास में निजी जीवन बिताते देख सके, तो यह विश्वास टूटता है। मनोरंजन, खेलकूद, कसरत व अन्य गतिविधियों के दौरान शीघ्र ही यह साफ होने लगता है कि कुछ बच्चे किसी समय या किन्हीं स्थितियों में, या कुछ गतिविधियों के दौरान दूसरे समय से अधिक दक्ष और कुशल नज़र आते हैं। ऐसा क्यों होता है कि कोई लड़की या लड़का जो कुछ परिस्थितियों में हाज़िरजवाब, सचेत, कल्पनाशील और तर्कबुद्धि से भरपूर यानी कि मेधावी होता है, कक्षा में घुसते ही वह मानो, जादू से, ठस्स-दिमाग बच्चे में बदल जाता है।

मेरे सम्पर्क में जो सबसे खराब कहलाने वाला छात्र आया था वह भी कक्षा के बाहरी जीवन में उतना ही परिपक्व, मेधावी व रोचक था, जितने स्कूली छात्र हो सकते हैं। फिर गड़बड़ कहाँ हुई? विशेषज्ञों ने उसके माता-पिता को बुलाकर उनके कानों में “मस्तिष्क दोष” की बात फुसफुसा दी। यह था उस रहस्य को समाप्त करने का सबसे आसान तरीका। न जाने कब स्कूली शिक्षा के दौरान उसकी मेधा और प्रतिभा का स्कूली पढ़ाई से विच्छेद हो गया। न जाने कहाँ? न जाने कैसे?

पिछले वर्ष मुझे बेहद खराब छात्र मिले। मैंने दो विषयों—फ्रेंच व बीजगणित—में जितने छात्र फेल किए, उनकी संख्या अन्य शिक्षकों द्वारा फेल किए गए बच्चों की संयुक्त संख्या से भी अधिक थी। उन्हें उत्तीर्ण कर सकने का हर प्रयास मैंने किया था। हर परीक्षा से पहले रटंत विद्या की बैठकें की थीं जिन्हें हम शिष्टतापूर्वक “पुनरावलोकन” (रिव्यू) का नाम देते हैं। हर परीक्षा के बाद पोस्टमॉर्टम भी किया। यानी, कहाँ दोष रह गया यह देखने की चेष्टा भी की। तब फिर से पुनरावलोकन व पूरक परीक्षाएँ हुईं

(जो मूल परीक्षाओं से हमेशा अधिक सरल थीं), पर ये सभी छात्र हर बार अनुत्तीर्ण हुए।

सोचा तो यह था कि मैं इस समस्या का हल निकाल सकूंगा। कक्षा के हर काम को रोचक बना सकूंगा, कक्षा का वातावरण ही बदल डालूंगा, उसे एक उत्साह पैदा करने वाली जगह में बदल दूँगा। सच तो यह है कि अपने प्रयासों में मैं कभी-कभी सफल भी हुआ। अनुत्तीर्ण होने वाले कई छात्रों को भी मेरी कक्षाएँ अच्छी लगती थीं। उन्होंने उस भय पर भी विजय पा ली थी जो बच्चों को कुछ समझ न आने पर भी प्रश्न करने से रोकता है। मैं भी उन्हें जो कुछ समझ नहीं आता था, उसे बारबार दोहराकर समझाता रहा। उन पर हमेशा एक तरह का दबाव भी डालता रहा। ये सारे उपाय किए थे मैंने। लेकिन परिणाम? अच्छे अंक पाने वाले “अच्छे छात्र” बने रहे, कुछ तो बेहतर भी हो गए, पर खराब छात्र खराब ही बने रहे। हाँ, कुछ खराब छात्र अवश्य और भी खराब हो चले। जो नवम्बर में अपनी परीक्षाओं में फेल हुए थे, वे जून में भी फेल होते रहे। इस समस्या का कोई न कोई समाधान तो होगा ही। शायद बच्चों को हमेशा फेल होने वाले छात्र बनने से पहले ही बचाया जा सके।



फरवरी 24, 1958

बिल हल की कक्षा का अवलोकन करते हुए :

आज वर्क पीरियड में तीन-चार बच्चे तुम्हारी सहायता लेने आए। वे सबके सब गणित के दूसरे सवाल पर अटक चुके थे। मैंने गौर किया था कि जब तुम बोर्ड पर सवाल समझा रहे थे तो उनमें से किसी ने तुम्हें सुनने की कोशिश तक नहीं की थी। मैं जॉर्ज को देख रहा था, वह ठीक उस समय अपनी दराज़ में बने एक छेद में अपनी पेंसिल घुसाने की कोशिश में लगा था। जब मैंने उसे छेद की सही जगह बता दी तो वह शान्त हो गया। जेरल्ड सपनों की दुनिया में था, शायद नैन्सी भी। पर जैसे ही नैन्सी से सवाल किया गया, वह तुरंत ही धरती पर लौट आई जो उसके

लिए बिल्कुल असामान्य बात है। डॉन आधे समय ध्यान दे रहा था, तो आधे समय नहीं। लॉरा भी शायद यही कर रही थी। मार्था ने अपने हाथ को एक जानवर के आकार में मोड़ लिया था जिसे वह पूरे मेज़ पर इधर-उधर दौड़ा रही थी।

दूतरे बच्चों को भी पढ़ते या पढ़ने की कोशिश करते मैं देख रहा था। मैंने पाया कि कुछ समय बाद उन्हें खुद ही यह पता नहीं चलता था कि उनका दिमाग विषय से परे भटकने लगा है। जब-जब मैंने किसी सपनों में खोए बच्चे का नाम पुकारा तो वह चौंककर धरती पर लौटा। इसलिए नहीं कि वह यह माने बैठा था कि उसकी भटकन मैं पकड़ नहीं पाऊँगा, बल्कि इसलिए कि अपनी भटकन का उसे बोध ही नहीं था।

मैं तो स्वयं को भी बड़ी मुश्किल से उस समय जगाए रख पाता हूँ, जब एक खास तरह की नींद मुझे जकड़ने लगती है। ऐसे में दिमाग विचित्र खेल खेला करता है। मुझे तो अपना वह अनुभव भी याद है जब मैं अपने शिक्षक की आवाज़ की लोरी सुनते-सुनते ही सो गया था। यह भी साफ-साफ याद है कि मेरे दिमाग में बैठा “चौकीदार” मुझे बराबर चेताता रहता था “जागते रहो बुद्धू” और यही चौकीदार था जो मुझे शिक्षक की आवाज़ मंद पड़ते ही पूरी तरह जगा भी देता था। पर दिमाग का वह हिस्सा जिसे नींद की ज़रूरत या चाहना होती थी, वह भी आसानी से परास्त नहीं होता था। वह हिस्सा मुझे सुलाने के लिए दिमाग में एक नकली आवाज़ पैदा कर देता था (और अब भी पैदा कर देता है), ताकि मैं उसे ही सुनते-सुनते सो जाऊँ। यह नकली आवाज़ तब तक बोला करती जब तक मैं पूरी तरह नींद के वश में न हो जाता, ताकि मेरे दिमाग का चौकीदार मुझे किसी हालत में न जगा सके। पर क्रमशः मेरे दिमाग का चौकीदार यह सगझने लगा था कि यह नकली आवाज़ हमेशा ही या तो किसी दूसरे ही विषय पर बोलती है या बिल्कुल अलाबला बकती है। सो कई बार जब मैं उस नकली आवाज़ को सुनते-सुनते सोना ही चाहता था कि चौकीदार चीखकर चेता देता, “जगो भई, जगो रहो। यह शिक्षक नहीं बोल रहा है। यह तो नकली आवाज़ है।”

अपने ध्यान पर लोगों का नियंत्रण अक्सर आंशिक ही होता है। अपने सामने रखे काम में हमारे दिमाग कब भटक जाते हैं, हमें पता ही नहीं चल पाता। अच्छा छात्र होने का एक अर्थ यह भी होता है कि हम न केवल अपने दिमाग की स्थिति को पहचान सकें, बल्कि अपनी समझ के स्तर को भी। कई बार अच्छे छात्र यह कहते हैं कि उन्हें कोई बात समझ नहीं आई, महज़ इसलिए कि वे अपनी समझ को जाँच सकें। पर बुरे छात्र अपने आपको समझते समय तटस्थ होकर देख ही नहीं पाते। सच तो यह है कि उन्हें यह पहचान ही नहीं होती कि उन्होंने किसी चीज़ को समझा भी है या नहीं। यही कारण है कि छात्र अपनी समस्याओं से सम्बंधित प्रश्न शिक्षकों से पूछ नहीं पाते। यानी जो हमारे छात्र जान गए हैं और जो वे नहीं जानते, इस अंतर को स्पष्ट करने में ही हमारी समस्या निहित है।

इस सारी चर्चा से हर्ब की याद हो आई। उस दिन ही तो गौर किया था कि लिखते समय कई बार उसके शब्द कागज़ के बाहर निकले जाते थे। बोर्ड या किताब पर लिखे किसी शब्द को उतारते समय वह एक बार में बस दो ही अक्षर उतारता है। लगता है कि वह इसके आगे देखता तक नहीं। शब्द के हिज्जों के बीच में पहुँचने के बाद भी शायद उसे यह पता नहीं होता कि जिस शब्द को वह उतार रहा है, वह क्या है? इसलिए शब्द की लम्बाई का उसे अन्दाज़ ही नहीं होता। वह यह अनुमान ही नहीं लगा पाता कि उसके लिए कितनी जगह चाहिए।

□ अप्रैल 21, 1958

गणित परीक्षा के घंटे में मैं रूथ को ध्यान से देखता रहा। घंटे का 4 बटा 5 हिस्सा उसने खिड़की से बाहर झाँकते हुए, अपनी पेंसिल चबाते हुए, नाखून कुतरते हुए या नैल की ओर चोर नज़रों से ताकते हुए बिताया। वह न तो परेशान दिख रही थी न ही भ्रमिता। लगा, मानो वह यह तय कर चुकी है कि गणित की परीक्षा उस समय दी ही नहीं जाती, जब

कक्षा के दूसरे बच्चे भी परीक्षा दे रहे हों। बल्कि शुक्रवार को दी जाती है जब शिक्षक केवल उसे लेकर बैठा हो ताकि ज़रूरत पड़ते ही उसकी मदद को हाज़िर हो जाए।

लगता है, सवाल के हल तक पहुँच सकने की स्थिति उसे बेहद पीड़ादायक लगती है। ऐसी स्थिति से बचने के लिए वह कुछ भी नहीं करना पसन्द करती है। वह उस समय का इन्तज़ार करना बेहतर समझती है जब अटकते ही वह हाँक लगाकर शिक्षक को अपनी मदद के लिए बुला सके। परामर्श घंटे (कॉन्फ़र्स पीरियड) में भी उसने आज लगभग कुछ नहीं किया। वह बराबर अपनी दराज़ से कुछ निकालना चाह रही थी। उसके हाथ-पैर झटके से हिलते हैं, इसलिए हर बार मेरा ध्यान उसकी ओर गया। मुझे देखते ही उसे हाथ रोकना पड़ा। पर वह इससे बाज़ नहीं आई, न ही उसे शर्मिंदगी महसूस हुई। वह अपनी कोशिश में लगी रही।

याद है वह घटना जब एमिली को “माइक्रोस्कोपिक” शब्द लिखने को कहा गया था और उसने मिन्कोपर्ट लिखा था? हफ़्तों पुरानी बात है यह। आज मैंने बोर्ड पर उसका बनाया वही शब्द मिन्कोपर्ट लिखा। आश्चर्य, उस शब्द को वह तत्काल पहचान गई। दूसरे बच्चे अचरज करते रहे, पूछते रहे, “यह कौन सा शब्द है?” मैंने भी चुनौती दी, “बूझो ज़रा!” एमिली ने इस पर जवाब दिया, “असल में यह माइक्रोस्कोपिक होना चाहिए था।” इसे पहचानने के बावजूद उसने अपने हाव-भाव से यह ज़ाहिर नहीं होने दिया कि माइक्रोस्कोपिक की यह विचित्र वर्तनी उसकी ही बनाई हुई है।

वर्तनी परीक्षा (डाएग्नॉस्टिक स्पेलिंग टेस्ट) में उसने “टेरिफ़” शब्द के हिज्जे कर उसे टेररफिट बना दिया था। आज अचानक सूझा कि वही शब्द फिर से दिया जाए। आज एमिली ने शब्द को टेरफिट बना दिया। क्या करती होगी वह इन मौकों पर? एक इंगित उसके पढ़ने के तरीके से मिलता है। जब कभी कोई अपरिचित शब्द उसके सामने आता है तो वह कुछ ऐसा व्यवहार करती है मानो अंधेरी रात में उसे कब्रिस्तान को पार करने को कहा गया हो। सो वह अपनी आँखें मूँद लेती है और सरपट

दौड़ लगाती है। और उस पार पहुँचने के बाद पलट कर एक नज़र देखती तक नहीं। देखना चाहती तक नहीं।

बरबस एन्शिअंट मैरिनर की कुछ पंक्तियाँ याद आती हैं, जो कविता होते हुए भी बेहतरीन भूत-कथा है :

सुनसान सड़क पर निपट अकेले राही की तरह,
चलता है भय से थरथराता वह,
बढ़ा जाता है मुड़ने के बाद भी
पलटकर कभी देखता नहीं,
जानता है उस भयानक दानव के अस्तित्व को
जो उसका पीछा करता चला आ रहा है।

क्या सचमुच कुछ बच्चे जीवन की राह पर ठीक इसी तरह चलते हैं?

□ मई 8, 1958

शोध-समिति को एक नोट :

दूसरी संस्थाओं की तरह इस स्कूल में भी शैक्षणिक समितियाँ हैं - गणित, अंग्रेज़ी, इतिहास, आदि विषयों की। इन समितियों में शिक्षक यह चर्चा करते हैं कि किस कक्षा में उन्हें क्या पढ़ाना चाहिए। बिल हल मुझसे दस वर्ष पहले से ही स्कूल में पढ़ा रहा है, सो वह जानता है कि इन समितियों में बच्चों के चिन्तन और कार्य का वैसा विश्लेषण नहीं होता जैसा वह और मैं अपनी कक्षा में करते हैं। उसने सोचा कि शायद कुछ शिक्षक बच्चों की शिक्षण सम्बंधी समस्याओं पर समय-समय पर बातचीत करना पसंद करें। यह चर्चा करना चाहें कि कक्षा में बच्चों का बौद्धिक व्यवहार कैसा रहता है? उनका व्यवहार सीखने में बाधक क्यों बनता है? क्या इस व्यवहार को बदला जा सकता है? इस समिति को शोध समिति का नाम दिया गया। पहली बैठक में कोई दर्जन भर शिक्षक रहे होंगे। पर जब यह स्पष्ट हो गया कि समिति में बिल क्या करना चाहता है तो दूसरी बैठक में संख्या और कम हो गई। तीन-चार बैठकों

के बाद चर्चा में रुचि लेने वाले शिक्षक इतने बचे कि हमें समिति को समाप्त करने का निर्णय लेना पड़ा। इसे किसी को दुःख नहीं हुआ।

मैंने एमिली का जिक्र किया था जिसने “माइक्रोस्कोपिक” की जगह मिन्कोपर्ट लिखा था। शब्द को सुनकर उसके हिज्जों का अनुमान तक नहीं लगाया था उसने, बस हवाई तुक्का मारा था। और तुक्के से शब्द को लिखने के बाद न उसने अपना लिखा शब्द फिर से पढ़ा, न ही उच्चारण और वर्तनी के तालमेल पर कुछ सोचा। मैं कई बच्चों में इस एकांगी “पलटकर-देखना” वाली रणनीति को पाता हूँ। एमिली ने तो इसके ऐसे-ऐसे उदाहरण दिए हैं कि उनकी चर्चा किए बिना नहीं रह सकता।

वर्तनी परीक्षा के कुछ दिनों बाद मैंने बोर्ड पर मिन्कोपर्ट लिखा। एमिली और एक दूसरे बच्चे ने (जो वर्तनी में अच्छा है) कहा कि शब्द “माइक्रोस्कोपिक” के बदले लिखा गया है। बच्चों को यह सुनकर बड़ा मज़ा आया, एमिली को भी। वह एक बेहद पारदर्शी बच्ची है। उसकी आवाज़, हाव भाव, चेहरे के रंग से यह पता चल जाता है कि वह क्या सोच रही है। पर इस समय साफ लग रहा था कि शब्द के ये हिज्जे ईजाद करने वाले के रूप में वह स्वयं को स्वीकार नहीं कर रही थी, बल्कि उसके व्यवहार से तो यह लगा रहा था कि वह इस विचार को ही नकार चुकी है कि वह स्वयं कभी इतनी बेवकूफी भरी वर्तनी लिख भी सकती है।

आज उसने टाँगने के लिए मुझे एक छोटा बोर्ड पकड़ाया जिस पर उसने अपने दोस्त द्वारा अखबारों से काटे चुटकुले चिपकाए हुए थे। मैंने पाया कि उसने आखिरी कतरन पर गोंद उस तरफ लगा दिया था जिस तरफ चुटकुला छपा होगा। फलतः चुटकुले की जगह किसी समाचार के कुछ अर्थहीन शब्द दिख रहे थे। मुझे आश्चर्य हुआ कि वह कतरन बिना पढ़े यों ही चिपका सकी थी। जब वह बोर्ड लटका दिया गया और बच्चे उसे पढ़ने को घिर आए, तो मैंने एमिली से कहा, “तुम्हारा आखिरी चुटकुला तो हमारी समझ में नहीं आया, तुम्हें समझाना होगा।” सोचा मैंने यह था कि उस पर एक नज़र डालते ही वह भाँप लेगी की उसने कतरन ही उलटी चिपका दी है। पर मुझे अचरज हुआ कि वह मुस्कुराकर लापरवाही

से बोली, “यह चुटकुला मुझे भी समझ नहीं आ रहा है!” वह अपना काम देख चुकी थी, फिर भी वह यह स्वीकारने को तैयार थी कि एक अर्थहीन चुटकुले को उसने चिपका दिया है। पर यह संभावना उसके मन में उपजी ही नहीं कि उसने कहीं कतरन उलटी तो नहीं चिपका दी।

मैं बच्चों में चीजों को अपने दिमाग में उलटकर देखने की क्षमता के बारे में हमेशा से जिज्ञासु रहा हूँ। सो, एक दिन मैंने बच्चों से कहा कि मैं बोर्ड पर कुछ शब्द लिखूँगा। और उन्हें उन शब्दों को उलटकर लिखना है, जैसे वे आइने के सामने रखने पर नज़र आएँ। मैंने यह भी समझाया कि जहाँ बड़े अक्षर (कैपिटल लेटर) हों वहाँ उन्हें बड़े ही लिखना है और जहाँ छोटे हों, वहाँ छोटे। मैंने सबसे पहले बड़े अक्षरों में कैट (CAT) लिखा। एमिली ने उसे उतारते समय CAT लिखा। उसे यह बिल्कुल अटपटा नहीं लगा कि वह दो तरह के अक्षरों, बड़े व छोटे, का इस्तेमाल एक शब्द में कर रही है। पर संभव है उसने इस पर गौर ही न किया हो। तब उसने यह निर्णय लिया कि आइने में अक्षरों का क्रम उलट जाता है। सो, अब उसने TaC लिख डाला। यानी, पहले का t अब T बन गया और A, a अगला शब्द जो मैंने लिखा था वह था बर्ड (BIRD)। इस बार वह अक्षरों के क्रम को उलटने की बात भूल गई। उसने तय किया कि प्रत्येक अक्षर का आकार उलटना चाहिए। सो क्रम उसने नहीं छोड़ा, केवल अक्षरों के आकार ही उलटे। कॉपी में शब्द उतारते समय ही उसने R को r कर डाला, पर बाकी अक्षर बड़े ही उतारे थे। उसने सबसे पहले B का आकार सही-सही उलटा। तब I भी। अब वह r पर आई। उसे लगा कि वह उलटा हुआ L है। उसने तय किया कि अगर बोर्ड पर L उलटा लिखा है तो कॉपी में उसे सीधा लिखना चाहिए, सो उसने L लिखा। अगला अक्षर था D। उसने तय किया कि D का आकार उलटना नहीं चाहिए। कुछ और सोचने पर उसने तय किया कि B को भी उलटना नहीं चाहिए। उसका अन्तिम हल था BILD (जिसमें हर अक्षर बड़ा था) और यह हल किस सवाल का था, इसका उसे पता ही न था। जो कुछ वह करने बैठी थी वह तो उसके दिमाग से न जाने कब का निकल चुका

था। या फिर दिए गए काम का रूप ही उसके दिमाग में बदल चुका था। उसे यह कतई याद नहीं था कि अक्षरों का क्रम बदलना है, कि उनका आकार उलटना है या उन्हें ऊपर से नीचे पलटना है।

यह बच्ची हमेशा सही होना चाहती है। भूल करने की कल्पना तक उसे अच्छी नहीं लगती। जब कोई गलती उससे होती है, वह उसे तुरन्त भूल जाना चाहती है। जाहिर है कि वह अपने आप से यह कभी नहीं कहती कि उसने कोई भूल की है। क्योंकि आखिर यही क्या कम है कि दूसरे हमेशा उसकी गलतियाँ निकालते रहते हैं। जब भी कोई काम दिया जाता है, वह मानो भय के बोझ से त्रस्त उसे आनन-फानन में कर डालती है। उसे अपने से ऊपर बैठे किसी व्यक्ति को सौंप देती है और तब वह उन जादुई शब्दों का इंतजार करती है, सही या गलत। अगर टिप्पणी सही होती है तो उसका पिंड छूट जाता है, आगे सोचने की जरूरत ही नहीं रहती और अगर गलत कहा जाता है तो वह उस बारे में सोचना नहीं चाहती। बल्कि यों कहें कि सोच सकती ही नहीं है।

भय के दबाव से वह कई ऐसी चालें भी चलती है जो दूसरे बच्चे भी काम में लेते हैं। वह यह जानती है कि कविता पाठ के घंटे में शिक्षक का ध्यान बीस बच्चों में बँटा होता है। वह यह भी जानती है कि शिक्षक अक्सर उन बच्चों से सवाल करते हैं जो जवाब नहीं जानते, ध्यान नहीं दे रहे होते या भ्रमित लगते हैं। सो उसे लगता है कि उचित और सुरक्षित नीति यही होगी कि वह अपना हाथ ऊपर उठाए और चेहरे पर ऐसे हाव-भाव लाए, मानो वह उत्तर देने को लालायित हो। फिर चाहे उसे जवाब आता हो या न आता हो। यह उसका मुझे यह बताने का भी तरीका है कि उसे कम से कम बखूबी यह मालूम है कि कक्षा में आखिर हो क्या रहा है। जब कोई बच्चा सही उत्तर देता है तो वह भी गर्दन हिलाकर हाँ में हाँ मिलाती है। कभी-कभार अपनी टिप्पणी भी जोड़ देती है। पर तब उसके हाव-भाव और आवाज़ से पता चलता है कि उसने एक जोखिम उठाया है। मजेदार बात यह है कि वह तब तक अपना हाथ ऊपर नहीं करती, जब तक करीब आधा दर्जन बच्चों के हाथ न उठ चुके हों।

ऐसा भी होता है कि कोई सवाल उससे भी किया जाए, जैसा उस रोज़ हुआ था। सवाल किया गया था कि अड़तालीस का आधा क्या है? उसका हाथ ऊपर उठा था। जवाब उसने फुसफुसा कर दिया, “चौबीस।” मैंने उसे उत्तर दोहराने को कहा। उसने ज़ोर से कहा, “मैंने कहा,” और धीमे से जोड़ा, “चौबीस।” कई बच्चे उत्तर सुन नहीं पाए। मैंने उसे फिर से उत्तर दोहराने को कहा। उसके चेहरे पर तनाव था। अब उसने साफ और ऊँची आवाज़ में कहा, “मैंने कहा था कि अड़तालीस का आधा होता है...” और तब काफी नीची आवाज़ में कहा, “चौबीस।” फिर भी कई छात्रों ने उत्तर नहीं सुना। इस पर वह नाराज़ हुई। उसने कहा, “ठीक है, अब मैं चिल्ला कर जवाब दूँगी।” मैंने कहा, “ठीक है, वह भी चलेगा।” वह आत्मदम्भ के साथ चीखी, “सवाल है कि अड़तालीस का आधा क्या है, ठीक है न?” मैंने सहमति जताई। अब उसने फुसफुसाहट से कुछ ही ऊँचे स्वर में जोड़ा, “चौबीस!” मैं उससे किसी हालत में यह कबूल न करवा सका कि उसने केवल सवाल ही ज़ोर से दोहराया था, जवाब नहीं।

असल में यह तिकड़म अक्सर काम दे जाती है। जब कभी शिक्षक सवाल करता है तो उसके कान सही उत्तर सुनने को तैयार रहते हैं। क्योंकि आखिर तभी तो यह सिद्ध होता है कि उसका पढ़ना कारगर रहा और अब आगे बढ़ा जा सकता है। सो वह सही उत्तर-सा लगने वाला जो कुछ भी सुनता है, यही समझ लेता है कि सही जवाब उसे मिल गया है। उत्तर के बारे में शंकित छात्र के लिए ऐसे में फुसफुसाना ही सुरक्षित उपाय है। लिखते समय जब यह पता न हो कि किसी शब्द की वर्तनी में A आएगा या C तो इन दोनों के बीच कोई चीज़ वह गढ़ लेता है।

फुसफुसाने का उपाय भाषा की कक्षाओं में खासतौर पर प्रभावी सिद्ध होता है। फ्रेंच की कक्षा में बच्चे अक्सर इसे मुझ पर आजमाते थे और मैं भाँप ही न पाता था। उपाय खासतौर पर उन शिक्षकों के साथ और भी कारगर सिद्ध होता है जिन्हें अपने उच्चारणों पर गर्व हो और जो सही उच्चारण के बारे में तुनकमिजाज़ हों। ऐसे शिक्षकों का सामना करने का एक ही उपाय है कि उन्हें स्वयं ही अपने सवाल का जबाब देने दिया

जाए। बस बुदबुदा कर कुछ अफ्रेंच आवाजें निकालने की ज़रूरत है। शिक्षक उस ध्वनि से ही घबरा जाएगा और तब विशुद्ध फ्रेंच उच्चारण में उत्तर दे डालेगा। छात्र तब शिक्षक के पीछे-पीछे उत्तर दोहरा सकेगा और तब तक उसका खतरा भी टल चुका होगा।

गेम थ्योरी के तहत ऐसी पैतरेबाजी को “मिनिमैक्स” कहते हैं, जो जीत की सम्भावनाएँ बढ़ाए और हार की सम्भावनाओं को घटाए। बच्चे ऐसी नीतियाँ रचने में माहिर होते हैं। वे अपनी अटकलों और तुक्कों को ढाँपने-लुकाने के रास्ते भी ढूँढ़ लेते हैं। कुछ दिनों पहले हम अपनी कक्षा में तौल का खेल कर रहे थे। खेल के लिए हमारे पास लकड़ी का एक छड़ीनुमा तराजू था जो बीचों-बीच एक हुक पर टिका था। उसकी दोनों बाजूओं पर समान दूरी पर निशान लगे हुए थे। इस खेल में तराजू के हुक को इस तरह पकड़ा जाता है कि वह स्वतंत्र न लटक सके और उसके एक ओर कोई भी वज़न लटका दिया जाता है। अब एक दूसरा वज़न बच्चे को दिया जाता है, जो पहले वज़न के बराबर, उससे कम या ज्यादा भी हो सकता है। उस बच्चे को बांट के वज़न का अंदाज़ लगा कर उसे तराजू के दूसरे सिरे पर ठीक उस जगह लटकाना होता है, जहाँ उसे लगे कि छड़ी संतुलित रहेगी। तराजू को स्वतंत्र लटकाने से पहले ही टोली के हर छात्र से पूछा जाता है कि वज़न सही जगह लटकाया गया है या नहीं। इसके बाद ही तराजू को मुक्त छोड़ा जाता है।

एक दिन एमिली की वज़न लटकाने की बारी आई। काफी सोचने के बाद उसने वज़न गलत जगह लटकाया। टोली के सब बच्चों ने एक के बाद एक यही कहा कि वज़न सही जगह नहीं लगा है और डंडी संतुलित नहीं रहेगी। एमिली का आत्मविश्वास धीरे-धीरे कम होता गया और जब हुक खोलकर डंडी के संतुलन को जाँचने का समय आया तो उसने भी चहककर कहा, “मुझे भी नहीं लगता कि तराजू सीधा रहेगा।” उसकी आवाज़, उसके लहजे का वर्णन शब्दों में संभव नहीं है। उसने उस समय अपने आपको उस बेवकूफ बच्ची से पूरी तरह दूर कर लिया था, जिसने उस ऊलजलूल स्थान पर वज़न लटकाया था। जैसे ही उसने हुक खोला और

तराजू झटके से एक ओर को लटक गया तो लगा मानो वह उबर गई हो। कई बच्चे अपनी अटकलों को छुपाने की चेष्टा अवश्य करते हैं, पर ऐसे बच्चे बहुत ही कम होते हैं जो लज्जा के भाव से इस कदर मुक्त हों। बल्कि कुछ बच्चे तो अपने विश्वासों को स्वीकारने का साहस न होना ही लज्जाजनक मानते हैं।

मैं अब यह देख सकता हूँ कि उस समय एमिली के बारे में मेरी धारणा गलत थी। उसने “माइक्रोस्कोपिक” शब्द लिखने का, शब्दों को उलटकर लिखने का या वज़न लटकाने का काम किया ही नहीं था। उसके दिमाग में जो कुछ रहा होगा वह शायद यह था कि यह शिक्षक मुझसे कुछ करवाना चाहता है। मुझे तो पता ही नहीं है कि वह क्या काम करवाना चाहता है? फिर मुझे क्यों परेशान करते हैं ये लोग? मैं कुछ भी किए देती हूँ, शायद तब ये मेरा पीछा छोड़ दें।

□ मई 10, 1958

बच्चे अक्सर शिक्षकों से उत्तर उगलवाने की नीतियों को खुल्लम-खुल्ला अपनाते हैं। मैं एक बार किसी शिक्षिका की कक्षा का अवलोकन कर रहा था। वे शब्द-भेद की परीक्षा ले रही थीं। बोर्ड पर उन्होंने तीन कॉलम बनाए - संज्ञा, विशेषण व क्रिया के। परीक्षा का तरीका यह था कि वे कोई एक शब्द बोलतीं और बच्चों से पूछतीं कि उसे किस कॉलम में रखा जाए।

अधिकांश शिक्षकों की ही तरह इस शिक्षिका ने भी दो बातों पर ध्यान नहीं दिया था। पहली बात यह कि उसके दिए गए कई शब्द एक से ज्यादा कॉलम में लिए जा सकते थे। दूसरी यह कि वाक्य में शब्दों का प्रयोग ही यह तय करता है कि वह संज्ञा है, विशेषण है या क्रिया है।

ज़ाहिर है कि बच्चों ने अपनी आजमाई हुई नीति अखियार की - अटकलें लगाने और तुक्के भिड़ाने की। शब्द-भेद बताते समय उनकी नज़रें शिक्षिका के चेहरे पर गड़ी होतीं ताकि उन्हें पता चल सके कि उत्तर सही है या नहीं। इस शिक्षिका के चेहरे पर हाव-भाव नहीं पढ़े जा सकते थे, पर फिर

भी अधिकांश तुम्हें निशाने पर बैठ रहे थे। मैं बच्चों के चेहरों, उनके हाव-भाव और बातचीत से यह बखूबी समझ पा रहा था कि उनके पल्ले कुछ नहीं पड़ा है। अन्ततः एक बच्ची ने कह ही दिया, “टीचर जी, आप कम से कम हर बार सही उत्तर बताया तो न करें।” शिक्षिका हैरान हो गई। उन्होंने पूछना चाहा कि वे उत्तर कैसे बता रही हैं। बच्ची ने सफाई दी, “उंगली से इशारा तो नहीं कर रही हैं आप, लेकिन आप उस कॉलम के पास खड़ी हो जाती हैं जो सही उत्तर वाला कॉलम है।” शिक्षिका बात फिर भी न समझी। वे तो अपनी ही जगह खड़ी थीं। काफी देर बाद मैं समझ सका कि बच्ची क्या कहना चाह रही थी। होता यह था कि शिक्षिका कोई शब्द तो सही कॉलम में लिख रही होती, लेकिन वे लिखने की तैयारी में कुछ ऐसी खड़ी हो जाती कि उनका शरीर उस कॉलम की ओर इशारा करने लगता जहाँ अगला शब्द लिखा जाना होता। बच्चे शरीर के कोण से सही उत्तर के उस झीने से इशारे को पकड़ रहे थे।

और सिर्फ इतना भर नहीं था। हर तीन शब्दों के बाद तीनों कॉलम में शब्दों की संख्या बराबर रहती थी। मसलन एक संज्ञा, एक विशेषण और एक क्रिया के क्रम में उन्होंने अपने शब्द चुन रखे थे। तीन शब्दों की एक पंक्ति पूरी होते ही, अनुमान के लिए केवल तीन ही सम्भावनाएँ थीं। पहले शब्द के सही बैठते ही सम्भावनाएँ दो ही रह जाती थीं और तीसरा शब्द तो बचे हुए कॉलम के लिए था ही। किसी भी बच्चे ने इस सुनहरे मौके को गँवाया नहीं। वे इतनी आतुरता के साथ तीसरे शब्द का सही जवाब बता रहे थे कि कुछ ही देर में शिक्षिका इस चाल को भाँप गई। क्योंकि वे आम शिक्षकों से कहीं तेज़ थीं। इसके बाद उन्होंने कतारों को असमान करना शुरू कर दिया यह सोचकर कि तुम्हें लगाने वालों का काम कुछ कठिन हो जाएगा।

तब इस सबके बीच कुछ ऐसा हुआ जो अक्सर स्कूलों में होता रहता है और सोचने वाले बच्चों को और भटका देता है। शिक्षिका ने, जिनका विषय अंग्रेज़ी था, बच्चों को बता रखा था कि क्रिया, कुछ करने के शब्दों को कहते हैं, जो अंग्रेज़ी में हमेशा लागू नहीं होता। उन्होंने एक शब्द पूछा,

“ड्रीम”। यह शब्द उन्होंने संज्ञा के रूप में चुना था और लगता है कि वे यह भूल ही गई थीं कि “ड्रीम” क्रिया भी हो सकती है। एक छोटे से लड़के ने तुम्हें भिड़ाय़ा, कहा यह शब्द क्रिया है। उस पर शिक्षक ने बच्चे की सहायता करने के इरादे से एक ऐसा “स्पष्टीकरण” दे डाला जो अक्सर सीखने में सहायक नहीं, बाधक ही बनता है। उन्होंने कहा, “पर क्रिया में तो एक्शन होना चाहिए। क्या तुम ड्रीम को काम में लेते हुए एक ऐसा वाक्य बना सकते हो जिसमें एक्शन हो?” लड़के ने कुछ देर सोचने के बाद वाक्य बनाया, “मैंने ट्रेजन युद्ध के बारे में सपना देखा (आई हैड ए ड्रीम अबाउट द ट्रेजन वॉर)।” इससे अधिक “एक्शन” किसी वाक्य में लाना कठिन है। लेकिन शिक्षिका ने उस बच्चे को गलत ठहराया जिससे वह बच्चा सहमकर एकदम चुप बैठ गया। शिक्षिका अपने सोचे हुए सही उत्तर से इस कदर प्रसन्न थीं कि न तो वे यह समझ पाईं कि बच्चा क्या कह और सोच रहा है और न यह कि उसके विचार तार्किक व सही थे। वे यह नहीं स्वीकार सकीं कि गलती उनकी थी, बच्चे की नहीं।

अभी उस दिन एक जाने-माने प्राथमिक विद्यालय में जो कुछ हुआ, वह इस बात का उदाहरण था कि शिक्षकों को अक्सर यह पता ही नहीं चलता कि उनकी कक्षा में क्या हो रहा है।

कक्षा गणित की थी। शिक्षक अनुभवी थे। वे बोर्ड पर उस दिन एक नई समस्या का हल निकालना समझा रहे थे। बच्चों का ध्यान काम की ओर बाँटने के लिए बीच-बीच में वे पूछते रहे थे, “सही है ना?” कक्षा इतनी उबाऊ थी कि मुझे भी ध्यान केन्द्रित करने में कठिनाई हो रही थी। मुझे पता लग रहा था कि बच्चों का ध्यान इधर-उधर हो रहा है। मैं देख रहा था कि उनका मानसिक चौकीदार उन्हें तब फौरन चेता देता था जब उनका नाम पुकारा जाता। शिक्षक बीच-बीच में नाम पुकारकर किसी बच्चे से पूछते कि अगला चरण सही किया है या नहीं। बच्चा उत्तर में कहता, “जी सर, सही है।” और लक्षा आगे घिसटती जाती थी। कुछ ही देर में मेरा मन पूरी तरह भटक गया। अचानक मेरा ध्यान किसी बात से कक्षा में लौटा। मैंने पाया कि जिस बच्चे से अब उन्होंने पूछा

कि फलौ-फलौ सही है या नहीं, वह खड़े होकर ध्यान से बोर्ड को देख रहा है। कुछ देर बाद उसने उत्तर दिया, “जी नहीं सर, वह उस जगह ठीक नहीं है, उसकी जगह फलौ होना चाहिए।” शिक्षक प्रसन्न हो गए। वे मुस्कुराए, और लुत्फ लेते हुए बोले, “बिल्कुल ठीक, यहाँ इसकी जगह, तुम्हारा बताया चरण आना चाहिए था।” तब उन्होंने बोर्ड पर सुधार कर लिए। उनके सभी छात्र और मैं फिर से अपनी-अपनी दुनिया में खो गए।

बच्चों के चले जाने के बाद मैंने शिक्षक को धन्यवाद दिया। उन्होंने पूछा, “आपने मेरा पैतरा देखा? मैं बीच-बीच में ऐसी टेढ़ी चालें चलता रहता हूँ। सब चुस्त रहते हैं इससे।” मैंने उनकी हाँ में हाँ मिलाई। उन्हें यह बताने का समय नहीं था कि टेढ़ी गेंद फेंकते समय उनकी आवाज़ इतनी बदल गई कि न केवल बच्चे बल्कि मुझ जैसा अपरिचित भी चेत गया था कि अब कुछ होने वाला है, सो पूरा ध्यान केन्द्रित कर डालना चाहिए।

पुस्तक छपने के कुछ ही समय बाद एक बैठक में मुझे विद्युत इंजीनियरिंग के एक शिक्षक मिले। उन्होंने बताया कि पुस्तक पढ़ने के बाद उन्हें पता चल पाया कि पिछले दस वर्षों से उनके छात्र उन पर वे सारी की सारी कुटिल चालें आजमाते रहे थे, जिनका पुस्तक में उल्लेख था। बुदबुदाकर अस्पष्ट उत्तर देना, अनुमान लगाना व चेहरे की ओर देखना, तुक्के भिड़ाना व प्रतिक्रिया का इंतज़ार करना और शिक्षक से ही उत्तर उगलवाने की चेष्टा करना।

काफी दिनों बाद मुझे यह अहसास हुआ कि सभी लोग ज़रूरत के समय ऐसी चालें चलने पर बाध्य होते हैं जब उन्हें कोई व्यक्ति अपने सिर पर न्यायाधीश-सा बैठा दिखता है।

□ जुलाई 7, 1958

मैं पिछले वर्ष सर्दियों एवं वसन्त में लिखे नोट्स को पढ़ रहा था। यह भी कैसी अशांत और अव्यवस्थित करने वाली प्रक्रिया है, जब मनुष्य को अपनी दृढ़ धारणाएँ बदलने के लिए बाध्य होना पड़ता है। मैंने तब

यह लिखा था कि बच्चों पर एक सतत दबाव बनाए रखना आवश्यक है। पर अन्ततः अब जाकर पता चला कि ऐसा करने से उनके चिन्तन में बाधा पड़ती है। और तो और, इन दबावों से बच्चे आत्मरक्षा में सँकरी नीतियाँ अपनाने पर मजबूर होते हैं। वे यह भी मानने लगते हैं कि उन्हें हर कीमत पर वयस्कों को खुश रखना ज़रूरी है। जो बच्चे सचमुच सोच सकते हैं, केवल उन्हें ही बड़ों को खुश करने की ज़रूरत महसूस नहीं होती। ऐसे बच्चों में कुछ “अच्छे छात्र” होते हैं, कुछ शायद अच्छे नहीं होते। पर अच्छे हों या बुरे, वे हमें यानी शिक्षकों को, खुश रखने के लिए काम नहीं करते। वे काम करते हैं स्वयं को खुश करने के लिए।

पर वॉल्टर इसके विपरीत है। जो भी कहा जाए, उसे करने को प्रस्तुत रहता है और काम भी अच्छा ही करता है। (परम्परागत मानदंडों के अनुसार वह एक बेहतरीन छात्र है, इतना कि लोग उसे प्रखर और मेधावी छात्र कहते हैं, जो कि वह निश्चित रूप से नहीं है।)

हमारे सामने गणित की एक समस्या थी : अगर हम 40 मील प्रति घंटे की रफ्तार से जा रहे हों, तो 10 मील तक जाने में हमें कितना समय लगेगा?

वॉल्टर : 4 मिनट

मैं : यह उत्तर कैसे मिला?

वॉल्टर : 40 को 10 से भाग दिया।

मेरे चेहरे पर एक नज़र डालते ही वह भाँप गया कि उसका जुगाड़ उत्तर नहीं चलेगा। कुछ और देर बाद उसने कॉपी पर लिखा - 15 मिनट। मैं फिर भी उसकी समझ को परखना चाहता था।

मैं : अगर तुम 50 मील प्रति घंटे की रफ्तार से जा रहे हो तो 24 मिनट में कितनी दूर पहुँचोगे।

वॉल्टर (तेज़ी से) : 36 मील।

मैं : उत्तर कैसे पाया?

वॉल्टर : 60 में से 24 घटाया है।

यानी बात वह अभी भी नहीं समझा था। मैंने फिर कोशिश की।

मैं : तुम अगर 50 मील प्रति घंटा की रफ्तार से जा रहे हो तो 30 मिनट में कितनी दूर पहुँचोगे?

वॉल्टर : 25 मील। 30 मिनट यानी आधा घंटा होता है। 50 मील का आधा 25 मील है।

सुनकर यह लगा कि वह अन्ततः समझ सका है कि वह इन सवालों में क्या कर रहा है। मैंने सोचा कि वह अब 24 मिनट वाली समस्या हल कर सकेगा। पर ना, काफी समय लगा उसे। मैं उसे कुछ संकेत देता गया और तब जाकर वह समझ पाया कि 24 मिनट, घंटे का 2/5 भाग होता है। और अगर वह 50 मील की रफ्तार से बढ़ रहा है, तो उतनी देर में वह 50 की 2/5 दूरी या 20 मील तक पहुँच जाएगा। अगर मैं उससे इतने संकेतों और सुझावों भरे प्रश्न न पूछता तब भी क्या वह हल तक पहुँच पाता? कहना कठिन है।

अधिकांश शिक्षक तो उसी समय यह मान लेते, जैसे मैं भी एक समय मान लेता कि अगर वह 15 मिनट वाला सवाल हल कर पाया है, तो वह समय और दूरी के विचार को तथा उसको सौंपे गए काम को भी समझ गया है। शिक्षक शंकालु होता तो भी वह 30 मिनट के बारे में दी गई व्याख्या से पूरी तरह संतुष्ट हो जाता, लेकिन हर चरण में इस बच्चे ने यही जताया कि वह असल में बात समझा ही नहीं था।

इस स्थिति में उसकी रणनीति क्या रही होगी? वह निश्चित रूप से अंकों को इधर-उधर धकिया रहा था, बल्कि उससे भी कुछ अधिक कर रहा था। और सवाल हल करने के अपने तरीके की व्याख्या भी कर रहा था। क्या यह संभव नहीं कि जिस समय वह “आधे घंटे में पचास मील का आधा” कह रहा हो, उस समय शब्दों को भी धकिया रहा हो? उसकी व्याख्या मुझे सही इसलिए लगी कि इत्तफाक से उसके मुँह से जो शब्द निकले, वे सही थे। पर वह? वह तो अगली बार दी गई गलत व्याख्या से भी उतना ही खुश था जितना पहली बार।

यह विचार वास्तव में पीड़ादायक है, क्योंकि आखिर हमारा दावा और विश्वास तो यही है न, कि हम बच्चों को स्कूलों में यह सिखलाते हैं कि गणित में हम “क्या” और “क्यों” करते हैं। हमारी सिखलाने की पद्धति कैसी होती है? बच्चे क्या कर रहे हैं या क्यों कर रहे हैं, यह सब हम उन्हें “स्पष्टीकरणों” के माध्यम से बतलाते हैं। इसके बाद बच्चों को पलटकर वहीं स्पष्टीकरण हमें देना पड़ता है। यानी बच्चे यह समझ लेते हैं कि केवल सही उत्तर या हल निकाल लेने भर से काम नहीं चलेगा, बल्कि उन्हीं सही स्पष्टीकरणों की ज़रूरत भी पड़ेगी। यही वॉल्टर को भी लगा होगा। पर एक बात और भी है। सही व्याख्या के साथ सही लहजा होना भी ज़रूरी होता है। वॉल्टर का उदाहरण यह स्पष्ट करता है कि किस तरह “सफल” छात्र सवाल को बिना समझे ही सही हल पा लेते हैं, या सही जवाब दे देते हैं।

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि जिस स्कूल की बात मैं कर रहा हूँ वह एक विशिष्ट स्कूल था, जिसमें उच्च बौद्धिक स्तर वाले सम्पन्न परिवारों और महत्वाकांक्षी माता-पिता के बच्चे दाखिला पाते थे। साथ ही यह स्कूल “प्रगतिशील” होने की ख्याति के बावजूद पूरी तरह रूढ़ पद्धतियों की ओर लौट चुका था।

□ जुलाई 25, 1958

बिल हल की कक्षा का अवलोकन करते समय : _____
पिछले छः महीनों में जो कुछ देखा, समझा व सीखा उसमें एक अहम बात साफ-साफ उभरकर आई है। जो कुछ कक्षा में घटता है, असल में वह कतई नहीं होता जो शिक्षक सोचता है। कम से कम मेरी कक्षा में निश्चित रूप से वह नहीं होता था जो मैं सोचा करता था। वर्षों से मेरे दिमाग में अपनी कक्षा की एक छवि रही है। पर जिस वास्तविकता को मैं पहचानता रहा, वह असल में केवल आंशिक रूप से ही शारीरिक थी और आंशिक रूप से मानसिक व आत्मिक। दूसरे शब्दों में कहूँ तो कह

सकता हूँ कि मैं केवल यह सोचता व मानता रहा कि मैं कमोबेश जानता हूँ कि मेरी कक्षा के छात्र क्या कर रहे हैं, क्या सोच रहे हैं, और क्या महसूस कर रहे हैं। आज समझ पा रहा हूँ कि वास्तविकता की मेरी छवि प्रायः पूरी तरह से ही गलत थी। मैं यह पहले क्यों नहीं पहचान सका?

कमरे के इस कोने में बैठे-बैठे मैं कक्षा के बच्चों को देख रहा हूँ। इस इरादे से नहीं कि उनकी चौकसी करूँ, बल्कि यह जानने के लिए कि ये बच्चे उन बच्चों से कितने भिन्न हैं जिन्हें मैं पढ़ाया करता था। और तब अचानक बैठे-बैठे ही यह अहसास हुआ कि जिस समय हम बच्चे का नाम पुकारकर उसे बुलाते हैं, उस समय उसे देखने से यह अनुमान नहीं लगाया जा सकता कि वह कक्षा में क्या कर रहा है। अगर सच में यह जानना हो तो उसके लिए बिना जताए लम्बे समय तक गौर से देखना जरूरी है।

कविता-पाठ के घंटे में जब काफी सारे बच्चे, कहने को तो सामूहिक रूप से काम करते हैं, लेकिन अक्सर अधिकांश बच्चे, क्या हो रहा है, उस पर ध्यान नहीं देते। बल्कि जिन्हें सबसे ज्यादा ध्यान देना चाहिए वे ही सबसे कम ध्यान देते थे। जिन्हें सवाल के उत्तर आते थे, वे यह सुनिश्चित कर लेते कि शिक्षक यह जान ले कि वे उत्तर जानते हैं। सो उनके हाथ हमेशा हवा में लहराते रहते। सही उत्तर जानने के कारण, वे मूर्खतापूर्ण उत्तर देने वाले अपने सहपाठियों का पूरा लुत्फ भी उठा सकते थे। पर सभी कक्षाओं में ऐसे छात्र कम संख्या में होते हैं। तो फिर उन असफल बहुसंख्यक छात्रों का क्या हाल रहा होगा?

उनकी एकाग्रता इस बात पर निर्भर थी कि कक्षा में क्या हो रहा है। कक्षा के भावनात्मक तापमान के बढ़ते ही उनके कान खड़े हो जाते थे। अगर कोई झड़प हो जाती या कोई सहपाठी परेशानी में फँस जाता या गलत उत्तर देने पर किसी बच्चे का मज़ाक उड़ाता तो वे हमेशा चौकन्ने रहते। और अगर किसी पिछड़े हुए बच्चे को ऐसी कोई आसान सी चीज़ समझाई जाती, जो हर कोई जानता हो, तो उनके हाथ हिलते और वे “ओह-ओह” कहकर उसकी दुर्दशा का मज़ा लेते। पर जब कभी कोई

चीज़ उन्हें समझाई जाती, सवाल पूछे जाते या कोई चर्चा होती तो उनका ध्यान या तो बिल्कुल नहीं रहता या कम रहता। कुछ सपनों में खोए रहते। उन्हें झटके से धरती पर बुलाने की मेरी चेष्टाएँ, उनके दोस्तों को मज़ेदार लगतीं, पर सपने देखने का सिलसिला वे जारी रखते। कुछ बच्चे पर्चियों की अदला-बदली करते, कुछ फुसफुसाते, कुछ इशारों में बातचीत करते और बहुत-से किताबों, कागज़, या मेज़ पर ही चित्र बनाते या रबर, पेंसिल, स्केल से ही खेलते रहते।

उन्हें सपनों में खोए हुए कितनी ही बार क्यों न पकड़ा जाता, कितनी ही शर्मिन्दगी का अहसास उन्हें क्यों न होता, पर यह आदत बनी रहती। बावजूद इसके कि हम अपनी कक्षा को एक रोचक व सुरक्षित स्थान बनाने का हर सम्भव प्रयास करते। कक्षा उनके लिए फिर भी एक उबाऊ, भ्रमित करने वाली और खतरनाक जगह ही बनी रहती। यानी सपनों में खो जाना ही पलायन का अकेला रास्ता उनके पास रह जाता।

इन हालातों में अगर शिक्षक बच्चों को केवल चुप या व्यस्त रखने के बदले सचमुच कुछ पढ़ाना भी चाहे, तो वह बहुत कुछ हासिल नहीं कर सकता। सच पूछें तो किसी कक्षा में बैठा कोई शिक्षक ठीक उस स्थिति में होता है जैसे घुप्प अंधेरी रात में जंगल में टॉर्च थामे, भटकते हुए किसी व्यक्ति का हो सकता है। जहाँ भी वह टॉर्च चमकाता है, उस ओर के जीव-जंतु टॉर्च की रोशनी में आ जाने के कारण असहज हो जाते हैं और उनका व्यवहार बदल जाता है। यानी निरीक्षण की प्रक्रिया ही व्यवहार को बदल देती है। व्यक्ति अपनी टॉर्च की रोशनी चाहे जिस ओर क्यों न फेंके, वह रात्रि-जीवन के बारे में बहुत कुछ नहीं जान पाता।

कक्षा में शिक्षक अपना ध्यान कभी इस, तो कभी उस बच्चे की ओर केन्द्रित करता है। पर ऐसा करते ही बच्चों का व्यवहार तत्काल बदल जाता है। जब कोई शिक्षक किसी एक बच्चे पर अपना ध्यान केन्द्रित कर, यह जानने की कोशिश करता है कि बच्चा क्या कर या पूछ रहा है, या वह स्वयं क्या समझा रहा है, तो उस समय वह यह नहीं जान पाएगा कि बाकी क्लास क्या कर रही है। अगर वह यह देखकर कि दूसरे

बच्चे कुछ ऐसा कर रहे हैं जो उन्हें नहीं करना चाहिए, बच्चों को टोक भी दे, तो भी बच्चों को यह पता होता है कि उन्हें केवल तब तक इंतज़ार करना है जब तक शिक्षक अपना काम दोबारा न शुरू कर दे। जो लोग कक्षा के अवलोकन करते हैं, वे यह सब क्यों नहीं देख पाते? कारण यह है कि उनमें से कुछ तो इतने लम्बे समय तक किसी समूह के बीच बैठते ही नहीं कि बच्चे उनकी उपस्थिति को सामान्य मान सकें। जो बैठते भी हैं, उनका ध्यान हमेशा बच्चों पर कम और शिक्षकों पर अधिक रहता है। छात्र-शिक्षक (वे लोग जो शिक्षक बनने का प्रशिक्षण ले रहे होते हैं) अवश्य लम्बे समय तक किसी एक कक्षा में समय बिताते हैं। पर वे यह मानकर चलते हैं कि उनका काम एक प्रवीण गुरु को देखकर उससे पढ़ाना सीखना है, बच्चों को व्यवस्थित रखने के गुर सीखना है। उनका सरोकार केवल बच्चों को सम्भालने व नियंत्रित करने भर से होता है, बच्चों को समझने का वे कोई प्रयास नहीं करते। वे केवल शिक्षक को देखते हैं और शिक्षक की नज़र जिस चीज़ पर पड़े, सिर्फ उसी पर वे नज़र डालते हैं। इस तरह वे एक अनमोल अनुभव का काफी कुछ गँवा बैठते हैं।

मुझे तो यह आवश्यक लगता है कि ऐसी स्थितियाँ पैदा की जाएँ, जहाँ दो अनुभवी शिक्षक एक ही कक्षा में साथ-साथ हों। बच्चों के एक समूह को पढ़ाते और उनका अवलोकन करते हों, ताकि वे बच्चों को बातचीत करते, सोचते, विचारते व काम करते देखें और यह समझ सकें कि आखिर बच्चे क्या देख व सुन पाते हैं। यह तो तय है कि स्कूल के पास ऐसी कोई वित्तीय व्यवस्था नहीं है। वे तो बमुश्किल एक कक्षा में एक शिक्षक उपलब्ध करा पाते हैं। कभी-कभी लगता है कि कुछ संस्थान इस काम में मदद कर सकते, तो अच्छा होता। वे तो हमेशा ही तमाम ऐसी महत्वाकांक्षी योजनाओं के लिए अनुदान देते रहते हैं, जिनका परिणाम केवल प्रचार या कोई सैद्धांतिक शोध-परियोजना होती है। शायद उन्हें लगता है कि दो शिक्षकों पर इस काम के लिए पैसा खर्च करना फिजूल है। पर मैं उनसे सहमत नहीं। जब कभी मैं इस वर्ष के अनुभवों पर सोचता हूँ तो चकित रह जाता हूँ। इस दौरान मैंने बच्चों के व्यवहार और विचारों के

बारे में इतना कुछ जाना है कि अनुसंधान व चिन्तन के तमाम नए रास्ते खुल गए हैं। मैं तो उन खोजों व उस ज्ञान के विचार से ही अभिभूत हो जाता हूँ जो शिक्षक ऐसे मौके पाने पर स्वयं प्राप्त कर सकते हैं।

ऐसे अवलोकन से कुछ स्पष्ट संकेत इस बारे में भी मिलते हैं कि किसी वयस्क को कक्षा में अकेले काम करते समय क्या करना चाहिए। और तीन वर्षों बाद, अपनी कक्षा में मैं वह सब करने भी लगा जिसका जेम्स हर्नडन ने अपनी पुस्तक *हाउ टु सरवाइव इन योर नेटिव लैंड* में इसका वर्णन किया है। सबसे पहले तो शिक्षक एक भौतिक, बौद्धिक व भावनात्मक जगह बनाता है, जहाँ बच्चे एक रोचक जीवन बिता सकें। इसके बाद ही वह यह देख सकता है कि बच्चे उस जगह का कैसा उपयोग करते हैं।

बर्नाड शॉ के नाटक *सीज़र और क्लिओपैट्रा* में क्लिओपैट्रा अपनी परिचारिकाओं से कहती है कि सीज़र ने उसे कहा है कि वह अपनी परिचारिकाओं को, जो कुछ वे चाहें, कहने की छूट दे। और जब क्लिओपैट्रा ने जानना चाहा कि इस छूट का मकसद क्या है तो सीज़र का उत्तर था, “ताकि तुम यह जान सको कि वे क्या हैं?” हमें भी अपने छात्र-छात्राओं के बारे में जानना है कि आखिर वे क्या हैं? और यह जानने के लिए हमें फाइलों में दबे छद्म मनोवैज्ञानिक निदानों को पढ़ने की आवश्यकता नहीं है जिनमें बच्चे की कमियों की लम्बी फेहरिस्त हो। बल्कि आवश्यकता यह है कि हम उन्हें वैचारिक स्वतंत्रता दें। बोलने, करने की छूट दें - उस सीमा तक, जितनी किसी स्कूल में दे पाना सम्भव हो।

अगर हम शिक्षक बच्चों पर अपनी गिद्ध दृष्टि केवल इसलिए टिकाए रखें कि हम यह देख सकें कि वे वह सब कर या नहीं कर रहे हैं जो कुछ उन्हें करना या नहीं करना चाहिए, तो यह तय है कि हम सबसे रोचक और महत्वपूर्ण बातों से वंचित रह जाएँगे। शायद यही कारण है कि वर्षों के अनुभव के बावजूद कई शिक्षक बच्चों के असली स्वभाव को इतना कम समझते हैं। जो माता-पिता अपने बच्चों को घर पर ही पढ़ाते हैं, वे इस दिशा में कहीं अधिक प्रगति कर पाते हैं। उनके पास

अपने बच्चों की रुचियों को जानने का समय भी होता है और इच्छा भी। वे उन सभी इंगितों को पढ़ पाते हैं जिनके द्वारा बच्चे अपने मनोभाव अभिव्यक्त करते हैं। जब शिक्षक स्वयं को एक बॉस, धानेदार या न्यायाधीश की पारम्परिक भूमिका में देखना बंद करेंगे, केवल तभी वे अपने शिक्षार्थियों को पहचान पाएँगे। केवल तभी वे उनकी सहायता कर सकेंगे।

उस समय जब, बिना कोई लम्बी-चौड़ी योजना बनाए, मैं अपनी कक्षा के बच्चों को आपस में बात करने का, साथ-साथ काम करने का मौका देने लगा तब अचानक उनके अनुभवों, विचारों, रुचियों को भी जानने लगा। मुझे तब यह भी सूझने लगा कि मैं कैसे अपनी कक्षा को एक काम की जगह बना सकता हूँ। सच यह था कि बच्चों को मैं कुछ सिखा पाता, उसके पहले उन्हें ही मुझे बहुत कुछ सिखाना पड़ा।

इस दौरान मैंने एक छात्रा को अपने दोस्तों से बात करते हुए सुना तो जाना कि उसे छोड़े अच्छे लगते हैं। बच्ची को “पढ़ने में समस्या” आती थी। नई सूचना मिलते ही मैंने उसके आसपास नेशनल वेल्थ्वेट की एक प्रति उपलब्ध करवा दी। जैसी मुझे आशा थी किताब उसे अच्छी लगी। उस कहानी और उसके पात्रों के प्यार ने उसमें अपनी “पढ़ने की समस्या” पर काबू पाने की इच्छा और ताकत जगाई। उसके मन में असल में यह भय बैठा हुआ था कि वह पढ़ना सीख ही नहीं सकेगी और ऐसा सिद्ध होने पर उसे लज्जित होना पड़ेगा।

□ जुलाई, 27, 1958

पिछले सालों में क्रमशः यह अहसास बढ़ा है कि बच्चे स्कूल को हर दिन, हर घंटे, शिक्षकों द्वारा आरोपित काम के संदर्भ में ही देखते हैं। पर शिक्षकों का नज़रिया तो यह नहीं है। कर्तव्यनिष्ठ शिक्षकों के मन में तो एक महान लक्ष्य की ओर यात्रा की एक छवि होती है। उन्हें लगता है कि उस गंतव्य की महिमा ही रास्ते की सारी तकलीफों और अड़चनों को सहनीय बना डालती है। अगर शिक्षक इतिहास पढ़ाता है तो उसे लगता है कि इतिहास

सा रोचक, उत्तेजक या महत्वपूर्ण विषय कोई है ही नहीं। वह मानता है कि यह छात्रों का सौभाग्य है कि वे उसके ज्ञान में हिस्सा पा रहे हैं। शिक्षक अगर फ्रेंच पढ़ाता है तो वह फ्रेंच साहित्य के गौरव व बोलचाल की भाषा के माधुर्य और सौंदर्य के बारे में सोचता है। और फ्रांसीसी पाक-कला का शिक्षक पाक-कला के रस के विषय में सोचता है। उसे यह लगता है कि वह इन सभी आनन्दों को अपने शिक्षार्थियों को परोस रहा है। हर विषय का शिक्षक इस तरह अपने-अपने विषय के बारे में सोचता है।

स्पष्टतः इस सोच का कारण यह है कि शिक्षक यह मान लेते हैं कि उनकी और उनके छात्रों की रुचियाँ समान हैं। मुझे भी यही लगता था कि मैं अपने छात्रों का एक ऐसी यात्रा के दौरान मार्गदर्शन कर रहा हूँ जो वे करना तो चाहते हैं, पर मेरे बिना पूरी नहीं कर सकेंगे। यह तो मैं भी जानता था कि यात्रा कठिन है, पर साथ ही यह विश्वास मन में था कि उस गंतव्य को बच्चे भी उतना ही साफ-साफ देख पाते हैं, जितना मैं। और तो और, मैं तो यह भी मानता था कि वे वहाँ तक पहुँचने को भी उतने ही आतुर हैं, जितना मैं। उस समय मुझे यह बेहद आवश्यक लगता था कि मैं छात्रों में यह भावना जगाऊँ कि हम जिस ओर बढ़ रहे हैं वह एक सार्थक गंतव्य है। आज मैं जानता हूँ कि इस आशय से मैंने बच्चों को जो कुछ भी कहा होगा, वह सब निरर्थक ही था। मैं तो शायद तब यह भी सोचता था कि मेरे छात्र मेरी कक्षा में इसलिए हैं, क्योंकि वे वह सब सीखना चाहते हैं जो मैं उन्हें सिखाता था। पर मेरे छात्र स्थिति को कहीं बेहतर समझते थे। वे स्कूल में महज इसलिए थे क्योंकि उन्हें वहाँ दाखिल किया गया था। मेरी कक्षा में वे इसलिए थे क्योंकि उन्हें वहाँ भेजा गया था। और फिर वे मेरी कक्षा में न होते तो किसी दूसरी कक्षा में होते, जो सम्भवतः और बुरी हो सकती थी।

बच्चों का स्कूल में आना और उनका डॉक्टर के पास जाना, इन दोनों स्थितियों में समानता है। डॉक्टर यह कहते हुए पगला भी जाए कि उसकी दवा बच्चे के लिए बेहद फायदेमंद है, फिर भी बच्चे का पूरा ध्यान दवा की कड़वाहट या अपनी पीड़ा की ओर ही केंद्रित रहता है।

सच पूछें तो अगर बच्चों का बस चलता तो वे किसी हालत में इन स्थितियों में नहीं फँसते। सो, स्कूल में जो भी बच्चे होते हैं वे एक गरिमामय गंतव्य की ओर आतुरता से कदम बढ़ाने वाले नन्हे यात्रियों की टोली नहीं, बल्कि जंजीरों में जकड़े बंदियों की तरह हैं। वे उस ऊबड़-खाबड़ कँटीली राह पर महज इसलिए चलते हैं क्योंकि दंड का भय उनके सामने मुँह बाएँ खड़ा होता है। सच तो यह है कि अपने गंतव्य को वे कतई देख नहीं पाते, बल्कि आसपास उन्हें ऐसी धुंध घेरे रहती है कि दो कदम दूर की राह तक नज़र नहीं आती। सच, ऐसे ही लगते हैं बच्चों के स्कूल। स्कूल एक ऐसी जगह है जहाँ उन्हें वे भेजते हैं, जहाँ वे उन्हें तमाम उटपटाँग कामों को करने को कहते हैं। अगर उनके बताए गए कामों को सही-सही न किया जाए तो वे बच्चों का जीना दूभर कर सकते हैं।

बच्चों के लिए स्कूल में सबसे महत्वपूर्ण काम “सीखना” नहीं है, फिर चाहे इस धुंधले शब्द का कोई भी अर्थ क्यों न हो। बल्कि उनके लिए मुख्य है रोज़मर्रा के कामों को कर डालना या किसी तरह निपटा देना। असल में दिया गया हर काम बच्चों को एक लक्ष्य लगता है। वे उसे कैसे पूरा करते हैं, इससे उनका कोई सरोकार नहीं होता। अगर वे उसे पूरा कर परे सरका सकते हैं तो वे वैसा कर देते हैं। पर उनका अनुभव यह बताता है कि अगर वे काम स्वयं न कर सकें तो किसी न किसी हथकंडे को अपनाना ही बेहतर होगा। सो वे वैध नहीं तो अवैध तरीके अपनाते हैं। यानी बच्चों को कोई भी काम सौंपने का लक्ष्य ही परास्त हो जाता है।

दूसरों से अपना काम करवाने में बच्चे माहिर होते हैं। वह दिन अभी तक मेरे दिमाग में ताज़ा है जिस दिन रूथ ने मेरी आँखें खोल दी थीं। हम गणित के सवाल कर रहे थे। मैं अपने आप को दाद दे रहा था कि मैं उसे सीधे-सीधे सवाल हल करने का तरीका बताने के बदले सवाल दर सवाल पूछ उसे “सोचने” पर बाध्य कर रहा हूँ। काफ़ी समय लग रहा था इस सबमें। मेरे हर सवाल के जवाब में वह चुप्पी साधे रही। न उसने कुछ किया, न ही कुछ कहा। वह चुप बैठी अपने चश्मे के पीछे

से मुझे घूरती रही। मैं हर बार अपने सवालों को आसान करता चल रहा था। पर वह तब तक चुप्पी साधे बैठी रहती जब तक मैं एक आसान सवाल तक न पहुँच जाता। ऐसा मैं इसलिए कर रहा था, ताकि वह बेझिझक उत्तर दे सके। हम यों रेंग रहे थे कि अचानक मैंने गौर किया कि वह तनिक भी सोच नहीं रही थी। वह शान्त मन से मुझे देख रही थी। वह मेरी सहनशक्ति जाँच रही थी और उस प्रश्न का इंतज़ार कर रही थी, जिसका उत्तर देना आसान हो। मैं चौंका। मन में सोचा, “लो, इसने तो मुझे ही फँसा दिया।” रूथ यह सीख चुकी थी कि वह अपना काम मुझसे कैसे करवा ले। ठीक यही तरीका वह दूसरे शिक्षकों के साथ भी अपनाती रही थी। और अगर मैं झक में आकर उसे सीधे-सीधे हल नहीं बताता तो वह मुझसे सवाल दर सवाल होते हुए उत्तर उगलवा ले रही थी।

स्कूल और शिक्षक, दोनों ही बच्चों की रणनीतियों के प्रति उतने ही अंधे होते हैं, जितना मैं था। अन्यथा वे विषयों के पाठ्यक्रम ऐसे बनाते जिनसे केवल सफल छात्रों के ही उत्तीर्ण होने की सम्भावना रहती। केवल वही छात्र उत्तीर्ण होते, जिन्होंने अर्थों पर विचार किया हो। यानी बिना सोचे-समझे अपनाए गए सारे अवैध हथकंडे विफल रहते। पर स्कूलों में इसका उल्टा ही होता है। स्कूल केवल उत्पादक छात्रों को ही उत्साहित करते हैं। ये ऐसे बच्चे होते हैं जिनकी रुचि हर हालत में “सही उत्तर” तक पहुँचने में रहती है व ऐसे ही बच्चे स्कूलों में सफल होते हैं। जो तंत्र ही “सही उत्तरों” पर चलता हो उसमें इसके अलावा हो भी क्या सकता है? यही कारण है कि तमाम स्कूल विचारक छात्रों को हतोत्साहित करते हैं।

कुछ समय पहले तक मैं यह भी नहीं जानता था कि बुरे छात्र पढ़ाए जाने वाले विषयों के बारे में अच्छे छात्रों से अलग तरह से सोचते हैं। मैं यह मानता था कि वे केवल उन विषयों में अदक्ष हैं। पर अब मुझे लगा है कि जब बच्चों पर असफलता की संभावना और भय हावी होने लगते हैं तो वे एक खास तरह से सोचने और व्यवहार करने पर बाध्य हो जाते हैं। उनकी रणनीतियाँ तब आत्मविश्वास से भरे बच्चों से भिन्न

हो जाती हैं। एमिली इसका अच्छा उदाहरण है। उसमें अपने किए हुए काम को तटस्थ हो गौर से देखने की भावनात्मक व बौद्धिक क्षमता ही नहीं है। वह अपने विचारों की वास्तविकता से तुलना नहीं कर सकती। न ही उनका मूल्य तोल पाती है। वह मुझे हमेशा एक ऐसे असहाय जन्तु की याद दिलाती है जो किसी खतरे का सामना कर रहा हो। ऐसा पशु जो हवा के वेग से दौड़ता है, मुड़कर देखता तक नहीं, क्योंकि वह बखूबी जानता है कि पीछे खतरा है। उस खतरे से जितना दूर वह हो सकती है, उतना दूर भाग खड़ी होती है। क्या दूसरे बच्चों में भी भय की ऐसी प्रतिक्रियाएँ होती हैं?

□ सितम्बर 22, 1958

अपने शिक्षकों को पहचानने में बच्चों को समय नहीं लगता। कुछ बच्चे तो यह पहले से ही जानते हैं कि शिक्षकों के सामने काफी बोलना चाहिए और तमाम विचार उछालने चाहिए। फिर चाहे वे विचार कितने ही विचित्र क्यों न हों। पर हम उन बच्चों के साथ क्या करें जो सोचते हैं, सोचना चाहते और पसंद करते हैं, पर बोलना नहीं?

मेरी गणित की कक्षाओं में मेरे सामने एक दुविधा हमेशा रहती है। मैं चाहता हूँ कि बच्चे यह भी सोचें और समझें कि जो कुछ वे कर रहे हैं वह वे क्यों कर रहे हैं। अगर मैं अपने सवाल पेचीदा या कठिन बनाता हूँ तो मुझे लगता है कि मेरे छात्र मेरे मन को पढ़ने के प्रयास में जुटने लगे हैं। और तब वे अजीबोगरीब विचार, उत्तर के रूप में उछालने लगते हैं। जैसा उन्होंने आज सुबह किया। लगता है उन्होंने मेरी एक टिप्पणी को उसके शाब्दिक अर्थ में ग्रहण कर ही ऐसा किया होगा। मैंने कहा था कि किसी विचार के न होने से बेहतर है कोई गलत विचार होना। यह मैंने इसलिए कहा था ताकि बच्चे पूरे आत्मविश्वास से उत्तर दें। क्या मैं अब भी वहीं कर रहा हूँ जो रूथ के साथ करते हुए मैंने स्वयं को पिछले साल पकड़ा था? क्या मैं अब भी उनके लिए सोच रहा हूँ।

सम्भव है कि कोई मध्यम मार्ग हो ही नहीं। शायद मुझे कभी कठिन, तो कभी सरल सवाल उठाने चाहिए।

असल में मुश्किल यह थी कि मैं बहुत अधिक सवाल पूछता था। काफी समय बाद मैंने सवाल करना बंद किया, चुप रहना सीखा। उस चेष्टा को ही दबाया जो मुझे यह जानने के लिए, कि बच्चे सब कुछ समझ गए हैं या नहीं, सवाल करने पर उकसाती थी। हमें अपने शिक्षार्थियों को यह तय करने देना होगा कि वे कब कुछ पूछना चाहते हैं। कई बार उन्हें यह जानने में भी समय लगता है कि उन्हें कौन-सा सवाल पूछना है? सीखने वालों की समझ को सतत जाँचना शिक्षक का सही काम नहीं है। यह दायित्व तो है ही शिक्षार्थी का। और सच तो यह है कि इसकी सही जाँच भी वही कर सकता है। शिक्षक का काम है शिक्षार्थियों द्वारा उठाए गए प्रश्नों का उत्तर देना। जब वे कुछ खुलासा चाहें तो उनकी समझ को और पैना व स्पष्ट बनाना।

हम बच्चों की समझ को इसलिए जाँचना चाहते हैं न कि हम किसी चीज़ को और साफ समझने में उनकी सहायता कर सकें? पर हम शायद यह नहीं जानते कि बच्चों को जाँच का ऐसा तरीका दूसरी स्कूली परीक्षाओं की तरह ही लगता है। वे इस जाँच से, कक्षा में शिक्षक द्वारा पूछे गए सवालों से और अधिक घबरा जाते हैं, और अधिक भ्रमित होते हैं।

□ अक्टूबर 13, 1958

उस दिन छठी कक्षा के शिक्षकों की बातचीत से लगा कि हमारे पिछले साल के पैतरेबाज़ सुधरे नहीं हैं। पर हमें इससे हताश नहीं होना चाहिए। ये सारे बच्चे जो निकटगामी और खुद को ही परास्त करने वाली नीतियाँ अपनाते हैं, जो उत्तर झपटने को लपकते हैं, जो शिक्षकों को खुश रखना चाहते हैं, उनके लिए भी हम धीमे-धीमे ऐसी स्थितियाँ पैदा कर सकते हैं कि उनमें से भी कुछ अपने दिमागों का बेहतर इस्तेमाल कर सकें। और सम्भव है कि वे इन नए तरीकों का नई परिस्थितियों में भी इस्तेमाल

करना सीख लें। यह तो सच है कि ऐसी आशा प्रत्येक शिक्षार्थी से नहीं की जा सकती। यह भी सम्भव है कि अधिकांश बच्चे अपनी पुरानी रणनीतियों और सुविधाजनक ढर्रे पर लौट आएँ।

ऐसे बच्चे तो कम ही होंगे जो एक सत्र के दौरान ही अपने स्कूली जीवन से जूझने के तौर-तरीकों को बदल डालें। अगर भाग्य हमारा साथ दे तो हम कुछ बच्चों में यह भावना जगा सकते हैं कि किसी भी समस्या या सवाल को हल करने के लिए वे अपनी पूरी बुद्धि, रचनात्मक सोच व मौलिकता का उपयोग करें। यह भी कि सुरक्षात्मक रणनीतियाँ और टालमटोल के तरीकों को त्यागना चाहिए। यह आशा भी हम कर सकते हैं कि उन्हें इस तरह काम करना इतना सुखद लगेगा कि वे इस अनुभव को बार-बार दोहराना चाहेंगे। है तो यह एक आशा मात्र।

दूसरे शब्दों में कहूँ तो कह सकता हूँ कि हम अपने शिक्षार्थियों को मेधा के परदेस की एक झलक दिखा दें और तब उन्हें प्रोत्साहित करें कि वे कुछ देर को ही सही, वहाँ की यात्रा पर ज़रूर निकलें। पर अगर हमारा ध्येय अपने बच्चों को अच्छे नागरिक बनाना है तो हमें हमारे पास उपलब्ध समय से कहीं अधिक समय चाहिए।

यह कह पाना तो कठिन है कि अगर हम अपने स्कूलों में ऐसा वातावरण तैयार करते जिसमें स्कूली जीवन की शुरूआत से ही मेधा स्वतंत्रता से पनप सकती तो क्या होता? क्योंकि एक बड़ा सत्य यह भी है कि सोचने की क्षमता के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ होने मात्र से, सोचने की क्षमता का विकास नहीं हो जाता।

सैम का ही उदाहरण लें। मानसिक रूप से सही तरीके से सोचने के लिए वह पूरी तरह तैयार है पर बिरले ही सोचता है। उस दिन मैं बोर्ड पर कुछ अंक क्रमों को लिख रहा था। मैंने अपनी कक्षा से कहा कि वे उनमें किसी भी तरह का सम्बंध या सामान्यीकरण देखें तो मुझे बताएँ। सैम की प्रारम्भिक दो-तीन टिप्पणियाँ थीं : “ऊपरी पंक्ति में 1 की संख्या है, बीच की पंक्ति में भी है। तीसरी संख्या में 2 है, पाँचवीं में भी 2 है। उसकी सभी टिप्पणियाँ नितान्त सतही थीं, सामान्यीकरण वह नहीं कर

पाया था। तब अचानक उसने एक ऐसा ज़बर्दस्त सामान्यीकरण कर डाला, जो मुझे भी नहीं सूझा था।

मजेदार बात तो यह थी कि उसे यह अहसास तक न था कि उसका कोई एक विचार उसके दूसरे विचारों से बेहतर भी है। किसी दिन वह यह कह सकता है कि घोड़ों और गायों में समानता यह है कि दोनों घास खाने वाले पालतू जानवर हैं, तो ठीक दूसरे दिन वह यह भी कह सकता है कि वे दोनों इसलिए समान हैं, क्योंकि उसने उन दोनों पर ही सवारी नहीं की है। या ऐसी ही कोई दूसरी सतही बात कह सकता है। यह हम उसे कैसे समझाएँ कि वस्तुओं या स्थितियों को देखने के, या श्रेणियों में रखने के कुछ तरीके दूसरे तरीकों से अधिक लाभदायक होते हैं।

हमें बच्चों को यह मनवाना होगा कि सवाल पूछने से डरना नहीं चाहिए। इतना ही नहीं, आगे यह भी खुलासा करना होगा कि कुछ सवाल किन्हीं दूसरे सवालों से अधिक सार्थक होते हैं। साथ ही उन्हें यह भी समझाना होगा कि सही प्रश्नों के संदर्भ में उत्तर के रूप में पाया गया “ना” भी स्थिति का उतना ही खुलासा करता है, जितना “हाँ”। और इन सब चीज़ों को बच्चों को समझाने में मददगार होते हैं “बीस सवाल,” “ताश के खेल,” “संतुलन का खेल”।

वैज्ञानिक जब प्रकृति के सम्बंध में कोई सवाल उठाता है - यानी जब भी कोई प्रयोग करता है - तो उसके परिणाम की चिंता नहीं करता, क्योंकि परिणाम चाहे कुछ भी क्यों न हो उसे कोई न कोई सूचना अवश्य मिलती है। उस सूचना के आधार पर ही वह यह तय कर पाता है कि उसका अगला चरण क्या हो। उसके सवालों का एक उद्देश्य होता है। यानी सवाल पूछना ही एक निहायत सूक्ष्म कला है। क्या पाँचवीं कक्षा के बच्चे इस कला को सीख सकते हैं?

पिछले साल जब नैसी और शीला तराजू का खेल करते थे तो वे अक्सर सही हल के आसपास मँडराया करते थे, पर हल फिर भी उनकी गिरफ्त से बाहर सरक जाता था। यह इसलिए होता था क्योंकि उन्हें अपने विचारों को एक ऐसा रूप देना नहीं आता था, जिसके आधार पर वे प्रयोग कर

सकें और उनका परीक्षण कर सकें। एक बार उनमें से एक ने कहा, “संतुलन-छड़ी के सिरे की ओर वजन लटकाने से वे भारी हो जाते हैं।” यह संतुलन के विचार को समझने की दिशा में एक बड़ा चरण था। पर इस अन्तर्दृष्टि को जाँचने या परिष्कृत करने का उपाय उन्हें नहीं सूझा। वे अपने आप से (अपने ही शब्दों में) यह कभी नहीं पूछ पाई कि छड़ी के मध्य से कितनी दूरी पर लटकाने पर वजन कितना बढ़ जाता है ?

बिल और मैंने जो गलती की थी, वह सहज थी। हम दोनों ने सोचा था कि कक्षा के बच्चों में बाहरी तौर पर दिखने वाले अन्तर का सम्बंध सोचने की तकनीकों से है। हम यह मानते रहे कि सफल बच्चों की सोचने की तकनीक अच्छी है और असफल या “उत्पादक” बच्चों की तकनीक गलत है। यही कारण था, हमने यह भी मान लिया कि हम शिक्षकों का काम बच्चों को बेहतर तकनीक सिखाना है। पर सच्चाई यह थी कि असफल बच्चे असल में वह काम कर ही नहीं रहे थे जो सफल बच्चे करते थे। वे तो दूसरा कुछ कर रहे थे। स्कूल और सारे स्कूली काम को देखने का उनका नज़रिया ही भिन्न था। स्कूल ऐसे बच्चों के लिए एक बेहद खतरनाक जगह थी और ऐसे में उनका सबसे अहम काम था उन खतरों से बचना। यानी स्कूल में उनका उद्देश्य कुछ सीखना था ही नहीं। उनका उद्देश्य तो पलायन बन चुका था।

प्रायः तीन वर्ष बाद मैं उसी स्कूल में विशेष पठन अनुदेशक के रूप में काम कर रहा था, जहाँ मैं कुछ वर्षों तक पाँचवीं कक्षा का शिक्षक भी रहा था। मैंने आग्रह किया कि पहली कक्षा के लिए गैटेग्नो की रचना *वर्ड्स इन कलर* काम में ली जाए। यह पुस्तक एक ऐसी अनूठी रचना है जिसमें अंग्रेज़ी उच्चारण की प्रत्येक ध्वनि को उसका एक निश्चित रंग दिया गया है।

मैं जिन बच्चों को पढ़ना सिखा रहा था उनमें से एक सात साल का बच्चा भी था जो पढ़ना नहीं सीख पा रहा था। बल्कि कहना चाहिए कि वह पढ़ना सिखाने के हर प्रयास का विरोध करता रहा था। मुझसे अनुरोध किया गया कि मैं उसे अकेले पढ़ाऊँ। उसको पढ़ाने के लिए

मैंने जो पद्धति अपनाई वह यह थी कि मैं *वर्ड्स इन कलर* के चार्ट में से अक्षर काटकर छोटे-छोटे शब्द बनाता और उसे पढ़ने को देता। आज लगता है कि क्या ही अच्छा होता कि मैं उसे स्वयं ही शब्द बनाने देता और तब उसके बनाए शब्दों को पढ़ता। और तब कभी-कभार इस क्रम को उलट भी देता।

बहरहाल मैं उन अक्षरों से PAT जैसे शब्द बनाता। जो शब्द उसे देता उसका उच्चारण पहले वह करता, तब मैं। तब मैं P की जगह C रख देता और फिर उसे पढ़ने देता। गैटेग्नो ने इस विधि को “रूपांतरण” का नाम दिया है। इस विधि से बच्चे यह स्पष्ट रूप से देख पाते हैं कि किसी अक्षर के बदलते ही शब्द की ध्वनि भी बदल जाती है। जुगत तो अच्छी थी। वह लड़का तीन-चार रूपांतरण तक ठीक-ठीक पढ़ता, गोकि उसकी चाल काफी सुस्त रहती थी। पर यह तो स्पष्ट ही था कि वह पढ़ सकता था। वह यह भी समझता था कि पढ़ने का अर्थ क्या होता है। पर इसके बाद वह अचानक ऐसा कुछ कहता जिसका हमारे सामने रखे शब्द से कोई लेना-देना नहीं होता। वह हर बार उस एक ही शब्द को उछालता। हम RUN, BUN, FUN जैसे शब्दों से काम कर रहे थे कि अचानक उसने एक दिन कहा, “STUT”। मैंने जानना चाहा, “क्या?” उसने और गम्भीर आवाज़ में दोहराया, “STUT”।

शब्द ने मुझे एक ज़बर्दस्त झटका दिया। क्योंकि मैं तो उस समय तक यह मानने लगा था कि अक्षरों, शब्दों और ध्वनियों का विचार उसके दिमाग में स्पष्ट होने लगा है। और तभी वह अचानक अपने निरर्थक शब्द के साथ मेरे सामने खड़ा हो गया था। वह ऐसी गलती कैसे कर सका था ? इस सबका क्या अर्थ था? मुझे इस स्थिति से कैसे निपटना चाहिए? ऐसे तमाम सवाल मेरे सामने खड़े हो गए।

मुझे स्थिति समझने में लम्बा समय लगा - कई सप्ताह, शायद कई महीने, कि जब उस लड़के ने STUT कहा था तो वह कोई गलती नहीं थी। उसने केवल दृश्य बदलने का प्रयास किया था। मैंने उसे यह काम दिया था कि वह मेरे द्वारा बनाए गए शब्दों को पढ़े और उनका उच्चारण

करो। अब उसने अपनी ओर से कुछ देर मुझसे पिंड छुड़ाने और सुस्ताने के लिए मुझे एक काम सौंप दिया था। मेरे जिम्मे सौंपा गया काम यह था कि मैं यह ढूँढ़ूँ कि उसका मतलब क्या है। अब तक गेंद उसकी ओर थी और अब गेंद अचानक उसने मेरी ओर उछाल दी थी।

काफी समय बाद अन्ततः मैं समझ सका कि हो क्या रहा है। सम्भव है यह मुझे जाँचने-परखने का उसका तरीका रहा हो। वैसा नहीं जैसा शब्दों को देखते समय रहता था। शब्दों को पढ़ते समय वह तनावग्रस्त हो जाता था, उसका पूरा ध्यान अपने काम पर केन्द्रित होता था। पर अपने गढ़े शब्द STUT को उछालने के बाद वह मुझे शान्तिपूर्वक जिज्ञासा से भरकर देख रहा था। मेरी प्रतिक्रिया क्या होती है, आगे क्या घटता है, इसका इंतज़ार कर रहा था। अचानक उस क्षण मैं उसके प्रयोग की वस्तु बन गया था, न कि वह मेरा।

इस समय तक मैं बच्चों की “तुक्का भिड़ाओ और शिक्षक की प्रतिक्रिया देखो” वाली रणनीति से परिचित हो चला था। सो मैं उसे पढ़ने के लिए शब्द देने के बाद अपना चेहरा दूसरी ओर फेर लेता था। अगर वह अनुमान ही लगाता और गलती करता तो मैं चुप ही रहता था। पर जैसे ही वह STUT कहता, मैं पलटकर उसकी ओर ताकने लगता। काफी समय बाद मैंने यह करना बन्द किया। मैं STUT सुनकर भी चुप्पी साधे रहता। वह दो-चार मिनट सुस्ता लेता और यह समझ लेता कि गेंद उसकी ही ओर वापस चली आई है। तब वह अपना काम आगे बढ़ाता।

पर इस मशक्कत के बावजूद हम बहुत प्रगति नहीं कर पा रहे थे। कारण उस समय मैं समझ नहीं सका था, पर आज स्पष्ट समझता हूँ। असल में इस लड़के को पढ़ना आता था। वह साधारण शब्द पढ़ सकता था। वह केवल पढ़ना चाहता नहीं था। उसने ठान लिया था कि वह नहीं पढ़ेगा।

शायद उसके और मेरे लिए यह लाभदायक होता कि मैं उस समय का सदुपयोग उसकी पसन्द की किताबें सुनाने में करता, या उसे खुद ही वे किताबें चुपचाप बैठकर पढ़ने देता। केवल इतना-भर स्पष्ट कर

देता कि ज़रूरत पड़ने पर मैं उसे शब्दों के उच्चारण तथा उनके अर्थ बता दूँगा। बिना सवाल किए, बिना लम्बे-चौड़े स्पष्टीकरण दिए।

□ दिसम्बर 7, 1958

कुछ पैंतरेबाज़ी काम पर :

एटलस के द्वितीय पर्चे में छात्रों से एक सवाल पूछा गया है : “एटलस की तालिका में दो मूल शब्द (की वर्ड्स) दिए गए हैं। पृष्ठ पर एक नज़र दौड़ाकर बताइए कि वे शब्द क्या हैं?” पृष्ठ के ऊपरी हिस्से में शब्दकोश की तरह उस पृष्ठ में आनेवाले प्रथम व अंतिम स्थानों के नाम कुछ मोटे अक्षरों में छापे गए थे। अपेक्षा यह थी कि बच्चे इस पर गौर करेंगे। यानी वे उपरोक्त सवाल का उत्तर तत्काल ही समझ लेंगे। अभी उस दिन ऐंबी और जेन को यह समझ ही नहीं आया कि सवाल उन्हें क्या करने को कह रहा है। हमने पर्चे में दिए गए उदाहरण भी पढ़ डाले, पर बात नहीं बनी। अंततः मुझे कहना पड़ा कि वे अपनी जगह पर लौट जाएँ और गहराई से सोचें कि सवाल क्या है। दो-एक मिनट में जेन फिर से दरवाज़े पर दिखाई दी और कुछ रोष में भरकर बोली, “क्या आपको ठीक-ठीक पता है कि उत्तर में वे दो शब्द नहीं लिखने हैं जो पन्ने के ऊपरी हिस्से में छपे हुए हैं?” क्योंकि मैंने इसका कोई ज़िक्र ही नहीं किया था, मैं हक्का-बक्का रह गया। मैंने आश्चर्य से भरकर कहा, “मैंने यह कब बताया?” जेन तुरन्त ऐंबी की ओर मुड़ी जो दरवाज़े पर ही थी, “लिख लो।” उसे वे सारे इंगित मिल गए थे जिनकी उसे ज़रूरत थी।

□ मार्च 21, 1959

कुछ बच्चे संतुलन का खेल कर रहे हैं। खेल का ज़िक्र 8 मई 1958 के तहत हो चुका है। खेल में एक बच्चे को सोचकर ऐसी जगह वज़न लटकाना होता है, जिससे छड़ी संतुलित रहे। तब शेष बच्चों को अनुमान लगाकर बताना होता है कि वज़न सही जगह लटकाया गया है या नहीं।

ऐबी : छड़ी एक ओर शायद झुके, पर बहुत ज्यादा नहीं झुकेगी।

इलेन : थोड़ा झुका-उधर हो, और तब सीधी हो जाए। पर शायद पूरी तरह सीधी न हो। (उसने सभी सम्भावनाओं को समेट लिया था।)

रेशल : शायद संतुलित रहे।

पैट : काफी संतुलित रह सकती है।

इलेन : ज़रा सा झूल-झुलानी, तब सीधी होगी।

अगला उदाहरण था - 4×5 यानी 4 वज़न 5" की दूरी पर लटके हुए हैं। तथा $2 \times ?$ का मतलब होता बच्चे को लटकाने के लिए 2 वज़न दिए गए हैं और उसे बताना होगा कि वे वज़न कहाँ लटकाए जाएँगे। ऐसे में जवाब 2×10 होता। यानी 2 वज़न 10" की दूरी पर लटकाने से छड़ी संतुलित हो जाती।

सवाल सामने रखा गया - 4×5 , $2 \times ?$ । इलेन ने पहली बार दोनों वज़न 2" पर लटकाए। तब कुछ सोचा और पहले 1" और फिर 9" पर वज़न लटकाए। मैंने पूछा, "क्या यह तुम्हारा अन्तिम चुनाव है?" उसने उत्तर दिया, "हाँ, पर छड़ी संतुलित नहीं रहेगी।" इस पूरे उपक्रम का ध्येय तो छड़ी को संतुलित करना ही था। पर उसने वज़न की जगह नहीं बदली।

जब हेस्टर से पूछा गया कि वह अंदाज़ लगाए और बताए कि छड़ी सीधी रहेगी या झुकेगी, तो उसने उत्तर दिया, "लगता है किसी न किसी तरह छड़ी संतुलित रहेगी।"

8×2 ; $4 \times ?$

रेशल (वज़न को बिना आत्मविश्वास के आगे-पीछे सरकाती रही) : लगता है, छड़ी संतुलित नहीं रहेगी।

बारबरा : तो वज़न उस जगह लटका दो ना, जहाँ तुम्हें लगता हो कि छड़ी सीधी रहेगी। (बारबरा उन गिने-चुने शिक्षार्थियों में से है, जो हर काम में सकारात्मक रणनीति का सहारा लेते हैं)।

रेशल वज़न 1" पर लगाती है। ज़ाहिर है छड़ी संतुलित नहीं होती।

3×2 ; $6 \times ?$ । हेस्टर छड़ी के दूसरी ओर 6 वज़न कुछ-कुछ दूरी पर लटका देता है। शायद इस आशा में कि उनमें से कोई तो इत्तफाक से छड़ी को सीधी कर डालेगा।

बारबरा की बारी है। यह पहले तय है कि इस बार हर बच्चा यही अनुमान लगाएगा कि छड़ी संतुलित रहेगी।

2×3 ; $1 \times ?$ । बारबरा पहले वज़न को 5" पर लटकाती है। वह इंचों के निशान के बीच की जगह गिनने के बदले, निशान गिन रही थी। तब वह अपनी गलती पकड़ती है और वज़न को 6" पर लटकाती है। हेस्टर के अलावा सभी बच्चे कहते हैं कि छड़ी संतुलित रहेगी।

1×10 ; $2 \times ?$

बारबरा : 2×5 ! उत्तर विश्वास से दिया गया है। तब वह उत्तेजित हो उठती है, "हाँ, बिल्कुल सही है। इससे ही बात बन जाएगी।"

इलेन : अगर वज़न यहाँ (1" पर इंगित करते हुए) लटकाओ तो वह हल्का होता है, पर यहाँ (5") लटकाओ तो भारी हो जाता है।

गैरी की बारी आने पर वह टिप्पणी करता है : "लगता है शायद छड़ी एक ओर कुछ झुकेगी। पर यही शायद ठीक है।"

1×10 ; $1 \times ?$ । बैटी ने वज़न 10" पर लटका दिया।

गिल : "छड़ी पहले कुछ झुकेगी तब सही हो जाएगी।"

गैरी : "संतुलित रहेगी।"

बैटी : "मुझे तो लगता है, शायद सीधी ही रहे।"

4×6 ; $4 \times ?$ । रैल्फ ने वज़न 6" पर लटकाए। पर टोली के दो सदस्यों ने अनुमान लगाते समय कहा कि छड़ी संतुलित नहीं रहेगी। इस पर बैटी बोली : "फिर मैं यह कहे देती हूँ कि छड़ी सीधी रहेगी, क्योंकि अगर कहीं वह सीधी रह गई तो हमारे नम्बर कम नहीं होंगे।" अब कीजिए आप बात "मिनीमैक्स" की।

असल में हमारा तरीका यह था कि टोली के प्रत्येक सदस्य द्वारा लगाए गए सही अनुमान के भी हम एक-एक अंक देते थे। यही कारण था कि

कुछ समय बाद बच्चों का सरोकार छड़ी को सीधी संतुलित रखने से नहीं रहता था, बल्कि उन्हें अपने अंकों की चिंता हो उठती थी। हमारा उद्देश्य तो यह था कि हम उन्हें छड़ को संतुलित रखना सिखाएँ। अंक तो केवल उन्हें प्रोत्साहित करने के लिए दिए जाते थे। पर बच्चों ने भी हमें क्या खूब छकाया। उन्होंने अच्छे अंक पाने की ऐसी राह ढूँढ़ ली जिसका छड़ी के सीधे होने न होने से कोई सम्बंध ही न था।

4 x 9"; 4 x 9"। सैम ने वज़न 9" पर लटकाए। रैल्फ ने इस पर कहा, "सैम ने तो मेरा विश्वास नहीं किया था। पर मैं उस पर भरोसा करूँगा, क्योंकि अगर मैं होता तो ठीक इसी जगह वज़न लटकाता।"

बाद में सैम ने अपने एक साथी से कहा, "तुम्हें जो सही लगता है वही करो।" इस पर बैटी ने, जो आम तौर पर सकारात्मक सोच रखती है, कहा, "सुरक्षात्मक चाल चलो।"

इस बीच बैटी ने यह समझ लिया था कि टोली के लिए अच्छे अंक पाने का सबसे आसान तरीका यह है कि वज़न गलत जगह लटका दिया जाए, ताकि हर सदस्य यह कह सके कि वज़न गलत जगह लटका है। यानी हरेक को एक-एक अंक मिल जाए। कुछ देर बाद नैट ने कहा, "भई, क्या ना वाले मत भी उतने ही कीमती हैं जितने हाँ वाले मत?" सवाल अच्छा था। अंक अगर देने ही थे तो हमें उत्तर में हाँ का मूल्य अधिक रखना चाहिए था।

एक दूसरा समूह काम कर रहा है।

4 x 8"; 4 x 8"। टोनी दोनों वज़न 7" पर लगाता है और कहता है, "अब सब असहमत होने को तैयार हो जाओ।" फिर उसने 8" पर वज़न लटकाए। सबने उससे सहमति जताई। पर नैट अभी भी संतुष्ट नहीं था।

बाद में जब अनुमान लगाने की उसकी बारी आई तो उसने कहा, "कितनी बुरी बात है कि जवाब इतने निश्चित देने पड़ते हैं।"

इस पूरे प्रयोग में एक बात सबसे महत्वपूर्ण है। खेल करवाते रहने के करीब दो वर्षों बाद मैंने संतोलक छड़ी और कुछ वज़न अपनी कक्षा

की एक पिछली मेज़ पर रखवा दिए। बच्चों से कुछ नहीं कहा। यह ज़िन्नत तक नहीं किया कि उससे क्या "सीखा" या "सिखाया" जा सकता है। कोई स्पष्टीकरण नहीं दिया। सभी बच्चे, उनके समेत जो सुस्त या पिछड़े बच्चों की गिनती में आते थे, उससे अपने आप खेलते रहे और स्वयं ही छड़ी को संतुलित करने का सिद्धान्त भी सीख गए।

□ अप्रैल 28, 1959

उस दिन जब चौथी कक्षा के बच्चे 20 सवाल का खेल खेल रहे थे, मैंने कुछ बातों पर गौर किया।

मैंने पाया कि कुछ बच्चे सवाल पूछने की अपनी बारी आते ही काफी चिन्तित हो उठते हैं। यह खेल बच्चों से खिलवाने के पीछे हमारा उद्देश्य तो यह था कि बच्चे गुप्त या अप्रकट विचारों को ढूँढ़ने का प्रयास करें और इस प्रयास के दौरान ही वे अधिक से अधिक सूचना निकलवाने वाले पैने सवाल पूछना सीखें।

पर मैंने पाया कि बच्चों का इस खेल को देखने का नज़रिया ही दूसरा था। वे मन में यह सोचते हैं, "मेरी बारी आने पर मुझे भी कोई सवाल पूछना है।" सवालों से क्या और कितनी सूचना मिलती है, खेल का उद्देश्य क्या है, इससे उनका कोई सरोकार नहीं रहता। कोई रुचि नहीं होती। अपना काम वे कोई एक सवाल कर डालना ही मानते हैं, फिर चाहे सवाल कैसा भी क्यों न हो। क्योंकि खतरा तो यही है न कि बारी आए और वे चुप ही बैठे रह जाएँ। दूसरा एक खतरा यह भी है कि अगर सवाल नहीं हो तो दूसरे बच्चे मज़ाक न उड़ाने लगे। कहीं यही न कह दें, "बात कुछ बनी नहीं।"

यानी बच्चों की समस्या ऐसे में केवल एक प्रश्न उठाना भर नहीं रह जाती, बल्कि एक ऐसा प्रश्न पूछने में बदल जाती है जो सुनने में भी ठीक-ठाक लगे। और यह कर पाने का एक आसान तरीका भी है। कक्षा में जो बच्चे तेज़-तर्रार या अच्छे माने जाते हैं, उनके ध्यान से सुनो।

तब उनके पूछे गए सवाल जैसा खुद कोई एक सवाल गढ़ो। यही कारण था कि जब एक खेल के दौरान एक बच्चे को यह पता चला कि “क्या वह पानी है?” एक अच्छा सवाल है तो वह हर खेल में यही सवाल पूछने लगा, जबकि कई बार उसकी बारी आने के पहले यह पूरी तरह हो चुका था कि सोची हुई वस्तु का पानी से कोई लेना-देना नहीं था।

हमारे कई बच्चे भी ठीक इसी तरह खेल खेलते हैं। पैट, रेशल और कुछ अन्य बच्चों को खेल के उद्देश्य का पता ही नहीं रहता। न ही उन्हें इस बात का कोई अंदाज़ रहता है कि पिछले सवालों से कितनी सूचना एकत्रित हो चुकी है। उनका मकसद इतना भर रहता है कि जब उनकी बारी आए तो वे एक सवाल पूछ सकें, ताकि उनकी भद न उड़े। जैसी का खेल तो इससे भी एक कदम आगे बढ़कर सुरक्षात्मक होता है। वह कहती है, “मैं पास करती हूँ।” और सच, अपनी बारी गँवाकर वह काफी प्रसन्न दिखती है।

ग्राइंग विदाउट स्कूलिंग में हमारे पास एक व्यक्ति का पत्र आया। उसने पत्र में वर्तनी को लेकर अपनाई गई अपनी रणनीति का उल्लेख किया था। उसने बताया कि जब कभी उससे कोई ऐसा शब्द पूछा जाता जिसके हिज्जों के बारे में उसे शत-प्रतिशत विश्वास न होता तो वह चुपचाप खड़ा रह जाता। न कोई अनुमान, न कोई सवाल, बस एक अटूट खामोशी। उसके वे सहपाठी, जो दूसरे बच्चों की गलतियों पर ठठाकर हँसा करते थे, वे भी उस खामोशी से परास्त हो जाते, बल्कि शायद उसके प्रशंसक ही बन जाते। चुप्पी ने उसे कभी किसी तरह के संकट में नहीं फँसाया। यह थी एक श्रेष्ठ स्कूली रणनीति। बिल और मेरे पास भी हमारी कक्षा के मौन की रणनीति अपनाने वाले छात्र थे। वे यह तो समझते ही थे कि चुप रह जाने पर वे उस अपेक्षा की अवज्ञा कर रहे हैं, जो हम शिक्षकों के मन में थी, पर फिर भी उन्हें यह ज़रूर लगता था कि सबसे सुरक्षित उपाय यही है।

बच्चों में एक और रणनीति मिलती है - तुम्हें को ढाँपने की। हमारे बच्चे जब कभी 20 सवाल का खेल खेलते हैं तो हरेक सवाल एक अनुमान

ही होता है। उस दौरान कुछ बच्चे तो यह साफ-साफ समझ जाते हैं कि शुरू से अनुमान लगाना बेवकूफी होगा। वे समझ लेते हैं कि पहले सम्भावनाओं का दायरा काफी सीमित कर लेना चाहिए। ऐसे बच्चे अपनी टोली के उन साथियों की आलोचना करते हैं, जो शुरू से ही तुम्हें भिड़ाने लगते हैं। यानी ऐसे में अनुमान लगानेवाले बच्चों के सामने उपस्थित चुनौती का रूप बदल जाता है। उनकी चुनौती यह हो जाती है कि वे अपने अनुमानों को किस तरह एक झूठी सूझबूझ का बाना पहना दें। नैट द्वारा उठाया गया यह सवाल इसका अच्छा उदाहरण है, “क्या उसे ब्रूटस ने मारा था?” (इंगित सीज़र की ओर था जिसे ब्रूटस ने मारा था)। उनकी टोली में यह सवाल एक मज़ाक ही बन चुका है। पर इसके बावजूद नैट का हर सवाल ले-देके एक अनुमान ही होता है।

एक दिन हम इस खेल के लिए एटलस का उपयोग कर रहे थे। यानी हमने खेल के लिए भौगोलिक स्थानों के नाम चुने थे। सैम यह पूछना चाहता था कि सोचा गया देश कहीं इटली तो नहीं है। पर ऐसा करना तो अनुमान लगाना कहलाता। सो उसने पूछा, “क्या वह देश आकार में जूते की तरह लगता है?” जब भी सैम की बारी आती है वह कहता है, “मैं अन्दाज़ लगाऊँ?” उसे सम्भावनाओं के दायरे को पहले सीमित कर लेने की रणनीति सूझी नहीं है, और अगर सूझी है तो उसका उपयोग करना उसे नहीं आता।

बैटी एक ही बार में एकाधिक अनुमान लगाती है। अगर उसे लगे कि सोचा हुआ देश कॉरसिका या सारडेनिया हो सकता है तो वह पूछती है, “देश का नाम क्या C या S से शुरू होता है?” एक बार तो उसने पूछा, “क्या नाम B, D, C, P या T से शुरू होता है?” यह रणनीति भी बुरी नहीं है। एक बार वह अपने साथियों को चेता रही थी, “यह न कहा करो कि क्या नाम फल्लौ हो सकता है, पूछा करो कि क्या वह फल्लौ है?” उसका सोच सकारात्मक है।

कई बार इस खेल में हम संख्याएँ काम में लेते हैं। एक बार मैंने कहा कि मैं 1 से 10,000 के बीच की कोई संख्या सोचता हूँ और बच्चों

को 20 सवालों के अन्दर उस संख्या को ढूँढ निकालना था। जो बच्चे 1 से 100, या 1 से 500 के बीच की संख्या बड़े आराम से ढूँढ लेते हैं, वे भी 1 से 10,000 के बीच खो जाते हैं। कई तो शुरू से ही अन्दाज़ लगाने लगते हैं। मैं अगर यह बता भी दूँ कि संख्या काफी बड़ी है फिर भी वे 65, 113 या 92 जैसी कोई संख्या की अटकलें प्रस्तुत करते हैं। कुछ दूसरे जो पहले सम्भावनाओं को सीमित कर यह पता लगा लेते हैं कि 8,000 से 9,000 के बीच की कोई संख्या सोची गई है, तो वे इसके बाद अनुमान लगाने लगते हैं, मानो चुनाव के लिए संख्याएँ बहुत कम रह गई हों। जब वे यह करते हैं तो उनके आत्मविश्वास पर हैरानी होती है। वे कहते हैं, “पकड़ लिया!” और जब उन्हें पता चलता है कि उनकी रणनीति काम नहीं कर रही है तो उन्हें बड़ी हैरानी होती है।

हमारे बच्चे अब भी इस विचार से चिपके हैं कि उत्तर में हाँ होना ना से अधिक अच्छा है। यह उस कुशिक्षा का ही परिणाम है जहाँ “सही उत्तर” को महत्व दिया जाता है। उन्हें अपनी गलतियों से सीखना नहीं आया। या कहें कि उन्हें यह सूझा ही नहीं कि गलतियों से कुछ सीखा भी जाता है। अगर वे सवाल करें, “संख्या 5,000 और 10,000 के बीच में है क्या?” और अगर मेरा उत्तर हाँ हो तो वे खुश होते हैं। एक दूसरे को दाद देते हैं। पर अगर कहीं मैं ना कह दूँ तो उनका चेहरा उतर जाता है, जबकि दोनों ही स्थितियों में जानकारी उन्हें उतनी ही मिलती है। जो बच्चे चिंताग्रस्त रहते हैं, वे बार-बार ऐसे सवाल पूछ बैठते हैं, जिनके जवाब दिए जा चुके हैं, ताकि वे हाँ सुनने का संतोष पा सकें। फिर चाहे उनके माहिर साथी यह क्यों न कहते रहें कि जिन सवालों का जवाब मिल चुका है, उन्हें पूछना बेवकूफी है।

एक सामान्य सवाल है जो किसी ने अब तक पूछा नहीं है। जो कुछ हम शिक्षक कक्षाओं में करते हैं, उसमें क्या सीखने में बाधक होता है और क्या सहायक? सवाल इसलिए नहीं पूछा जाता कि हम शिक्षक यह मान लेते हैं कि अगर शिक्षार्थियों में स्वयं ही कुछ कमी न हो तो जो कुछ भी जिस किसी भी तरह से पढ़ाया जाए, वह सब बच्चे

सीख ही लेंगे। सो हम शिक्षक यह माने बैठे हैं कि हमारा काम केवल यह सोच लेना है कि बच्चों को क्या पढ़ाया जाए।

एक बात हम शिक्षकों को समझ लेनी चाहिए। हम अपनी कक्षाओं में जो कुछ भी करते हैं उसमें से कुछ चीज़ें तो सीखने में सहायक होती हैं, कुछ निरर्थक होती हैं, और कई तो निश्चित रूप से हानिकारक ही होती हैं। यह जान लेने के बाद हमें यह जानने का प्रयास करना चाहिए कि हमारी कौन-सी गतिविधि किस श्रेणी में आती है। पर यह सवाल केवल शिक्षक ही स्वयं के लिए उठा सकते हैं। कक्षा के अपने दैनिक कार्यों और अनुभवों से वे इस प्रश्न के उत्तर को भी जाँच-परख सकते हैं। यही अकेला तरीका है सही शिक्षण-पद्धतियों तक पहुँचने का। इसके अलावा शिक्षण-पद्धतियों पर जो भी शोध किया जाता है, वह सब निरर्थक और महंगा सिद्ध होता है।

मानवीय गतिविधियों में अर्थशास्त्र को छोड़कर शायद शिक्षा ही एक ऐसा क्षेत्र है जिसमें सिद्धान्तों और अनुभव का कोई जुड़ाव है ही नहीं। सिद्धान्त का परीक्षण इस क्षेत्र में किया ही नहीं जाता। यह जानने की चेष्टा ही नहीं होती कि कोई सिद्धान्त सचमुच कारगर है या नहीं। और अगर कारगर नहीं है तो उसे नकारने का या उसे बदलने का भी प्रयास नहीं होता।

बिल हल और मैंने पाँचवीं कक्षा के साथ काम करते समय यह पहले ही समझ लिया था कि कई बच्चे कक्षाओं में इसलिए अच्छा काम नहीं कर पाते, क्योंकि वे सोचने व समस्या के समाधान के लिए गलत या अप्रभावी रणनीतियाँ अपनाते हैं। पर यह बात समझने में मुझे काफी समय लगा कि ऐसी सभी रणनीतियों के स्रोत असल में हम शिक्षक ही होते हैं। क्योंकि शिक्षकों के रूप में कक्षा में हमारा एक रुतबा है, हम आज्ञाएँ देते हैं, हम न्यायाधीश बनते हैं, अंक देनेवाले होते हैं। यानी बच्चों को जिन समस्याओं से निपटना है, वे गणित, पढ़ने, वर्तनी या इतिहास जैसे विषयों में नहीं होती हैं, बल्कि हम शिक्षकों में निहित होती हैं।

काफी समय बाद, एक दूसरे ही स्कूल में मुझे स्वतः यह सवाल सताने लगा कि मैं ऐसा क्या करूँ जिससे बच्चे मुझसे या दूसरे बच्चों द्वारा उपस्थित किए गए खतरों से मुक्त हों। ताकि वे एक बार फिर आतुरता से वास्तविकता की ओर हाथ बढ़ाएँ, जैसा कि वे बचपन में कर चुके होते हैं। यही है शिक्षक का सबसे बड़ा काम, खासकर नन्हें बच्चों के शिक्षक का। उसे दुनिया के एक ऐसे कोने को या मानवीय अनुमान के एक हिस्से को बच्चों के लिए रोचक, उत्तेजक, सार्थक, पारदर्शी और भावनात्मक रूप से पूरी तरह सुरक्षित बनाना है। एक ऐसा कोना बच्चों को उपलब्ध करवाना है।

और यही वे सब लोग कर रहे हैं जो अपने बच्चों को स्वयं घर पर ही “पढ़ाते” हैं। यह सब वे कैसे कर पाते हैं, उसका वर्णन मैंने अपनी पुस्तक *टीच यॉर ओन* में किया है। पर जो शिक्षक कक्षाओं में पढ़ाते हैं वे भी माता-पिता के इस अनुभव से काफी कुछ सीख सकते हैं।



भय और असफलता

इससे पहले जब मैंने बच्चों को एक-दूसरे से बचाने, सुरक्षित रखने का जिक्र किया था, तो मन में शारीरिक हिंसा की बात नहीं थी (गोकि यह समस्या भी हर ओर साफ दिखाई पड़ती है। बिल्कुल छोटी कक्षा के नन्हें-मुन्नों तक में)। उस समय मैं आत्मिक हिंसा की बात सोच रहा था। सैकड़ों लोग - शिक्षक, भूतपूर्व शिक्षक, छात्र-शिक्षक, अपने बच्चों को स्वयं पढ़ानेवाले माता-पिता - इस बात की पुष्टि करेंगे कि हरेक कक्षा में ऐसे बच्चे मिलते हैं जो किसी काम को नहीं कर पाने पर, या गलत करने पर, कक्षा के दूसरे बच्चों और स्वयं शिक्षक के तानों को झेलते हैं। ज्यादातर स्कूली बच्चे अपने साथियों द्वारा मज़ाक उड़ाए जाने से उतना ही खौफ खाते हैं, जितना अपने शिक्षकों से।

जब मैं स्वयं अपनी पाँचवीं कक्षा को पढ़ाने लगा तो मैंने इस स्थिति में बदलाव लाने की बात सोची। यह बात मन में इसलिए नहीं उपजी थी कि मेरे पास कोई ऐसे महान सिद्धान्त थे जो यह बताते हों कि त्रस्त बच्चों की सीखने की प्रक्रिया में बाधा कैसे आती है। ये सिद्धान्त तो बाद में आए। बस मैं तो उस समय इतना भर जानता था कि बच्चे मुझे बेहद प्यारे लगते हैं और उनसे कोई क्षुद्र या निर्मम व्यवहार करे, यह मैं सह ही नहीं सकता था।

मेरी कक्षा के कुछ बच्चे एक ऐसी चौथी कक्षा से आए थे, जिसकी अध्यापिका वैसे तो सजग व सहृदय थीं, पर उनकी एक बड़ी ज़रूरत भी थी (जैसी कि कई शिक्षकों की होती है)। वह यह कि वे स्वयं को सत्ता व सुरक्षा के एकमात्र स्रोत के रूप में स्थापित कर सकें। वे स्वयं तो बच्चों से घटिया व्यवहार नहीं करती थीं, कई बच्चे उन्हें चाहते

भी थे, पर उन्हें यह कभी नहीं सूझा था कि वे बच्चों का एक-दूसरे के प्रति दुर्भाव व्यवहार रोक भी सकती हैं। हाँ, इतना जरूर था कि जब बच्चे बेहद उग्र या हिंसक हो जाते या शोर-शराबा कर कक्षा के काम को ही ठप्प करने लगते तो वे कोई कार्यवाही अवश्य करती थीं। पर इस मसले पर उनकी सामान्य प्रतिक्रिया शायद यही होती, “बच्चे एक-दूसरे से घटिया व्यवहार करें तो क्या फर्क पड़ता है। मेरी खुद की समस्याएँ क्या कम हैं जो मैं इस समस्या से भी उलझने को आगे बढ़ूँ।”

शायद वे यह भी सोचती रही हों कि अधिकांश वयस्कों की ही तरह बच्चे भी “स्वभावतः” क्रूर व निर्दयी होते हैं। ऐसे में कोई इतना भर कर सकता है कि वह एक अन्तिम बाहरी सीमा बाँध दे। सम्भव है कि वे बच्चों को इस दृष्टि से देती हों कि वे अच्छे बच्चे हैं (यानी उनका कहा मान और कर रहे हैं) या बुरे (यानी उनकी भावना व चाहनाओं का उल्लंघन कर रहे हैं)। वे एक-दूसरे के साथ क्या और कैसा व्यवहार कर रहे हैं, यह शायद उन्हें नज़र नहीं आता हो। साल-भर पहले मेरे एक मित्र ने अपनी सहेली की बिटिया की बात बताई थी। बच्ची उस इलाके के “सबसे बढ़िया” माने जानेवाले स्कूल में पढ़ती थी। उसकी कक्षा के दूसरे बच्चों ने उससे न बोलने की साज़िश की। हफ्तों गुज़र गए और वह बच्ची पूरी तरह कटी, अलग-थलग पड़ी रही। इसके बावजूद उसकी शिक्षिका को इस बात की कोई खबर तक नहीं हुई।

पर यह सब बाद में सोची गई, पुनर्विचार से जन्मी बातें हैं। उस समय तो स्कूल-सत्र के प्रारम्भ होते ही मैंने इतना भर गौर किया कि कक्षा के सभी बच्चे इस होड़ में लगे थे कि वे स्वयं को मेरी नज़रों में श्रेष्ठ और अपने साथियों को निकम्मा सिद्ध कर दें। वे हमेशा एक-दूसरे की शिकायतें करते मुझ तक दौड़े आते, “सर, फलाने बच्चे ने अमुक-अमुक किया।” मुझे यह सख्त नापसन्द था। सो जब कभी कोई बच्चा अपनी कोई कहानी लिए मेरे पास आता तो मैं उसकी नज़रों में नज़रें डालकर सहृदय लेकिन सख्त आवाज़ में इतना भर कहता, “अपने काम से मतलब रखो।” बच्चे यह सुनकर आश्चर्य में पड़ जाते। उनके मुँह खुले के खुले

रह जाते। अक्सर मुझे अपनी बात दो बार दोहरानी पड़ती, “अपने खुद के काम से मतलब रखो।” शायद आगे कुछ और भी जोड़ता जैसे, “मुझे बताने का शुक्रिया। मैं समझता हूँ कि तुम मेरी सहायता करना चाहते हो पर (अपनी आँखों की ओर इशारा करते हुए) मेरी भी आँखें हैं। मैं देख सकता हूँ। (कान छूते हुए कहता) कान हैं, सुन सकता हूँ। और जो कुछ इनसे देखता-सुनता हूँ वह मुझे काफी व्यस्त रखता है। सो जब तक कोई बच्चा किसी मुसीबत में न पड़ा हो, यानी किसी के चोट न लग गई हो, या कोई सिर्फ तीन उँगलियों पर खिड़की के बाहर न लटक गया हो (हमारी कक्षा तीसरी मंज़िल पर थी) कृपया मुझे आकर कोई बात न सुनाया करो।” बच्चे यह सब सुन सोच में पड़ जाते थे। यह भला कैसी कक्षा थी? पर सच, उन्होंने बहुत जल्दी ही सीख-समझ लिया। कुछ ही सप्ताहों के अन्दर मेरी कक्षा में चुगली बन्द हो गई।

मैं यह एक बार फिर से साफ कर दूँ कि उस समय मेरे दिमाग में कोई सिद्धान्त न था। मैं यह सोचकर नहीं बढ़ रहा था कि अगर मैं कक्षा को सहकार की जगह बना दूँ तो बच्चे सहज ही एक-दूसरे से बहुत कुछ सीख पाएँगे। यह सम्भव है कि उस समय अगर कोई दूसरा यह सुझाता तो मैं इस बात पर शंका ही करता। मेरा ध्येय तो बस इतना था कि मैं बच्चों को तुच्छता और क्रूरता से रोक्कूँ। क्योंकि कक्षा में काम करने से मुझे जो आनन्द मिलता था, उसे बच्चों का दुर्भाव खत्म कर देता था। और मेरे द्वारा दिए गए ऐसे इंगित पर्याप्त थे। बच्चों ने अपने ही आप अपने को रोका, सँभाला। स्वयं ही कक्षा को सहकारी रूप दे डाला। उन्होंने ही मुझे सिखाया कि वे ऐसी कक्षा में, सहकार के वातावरण में, एक-दूसरे की कितनी मदद कर सकते हैं। परस्पर सीख सकते हैं। मेरा योगदान इतना भर था कि मैंने यह सब होने दिया। इसके लिए स्थान व समय उपलब्ध कराया। इस परिवर्तन को अपनी नज़रों से घटते देखा और उसका आनन्द उठाया। हाँ, बच्चों को भी अपनी खुशी का अहसास करने दिया। यह जान लेने दिया कि जो कुछ नया घटा था, उससे मुझे कितनी प्रसन्नता हुई है।

यह तो ऐसा कुछ है जिसे सभी स्कूल और शिक्षक बेहद सुविधा से कर सकते हैं। इसके लिए तो अतिरिक्त धन या साधन की आवश्यकता भी नहीं होती। हाँ, इतना ज़रूर है कि जिन स्कूलों में यह बात स्कूली नीति में न अपना ली गई हो, वहाँ ऐसा करनेवाला शिक्षक मुसीबत में फँस सकता है। ठीक वैसे ही जैसे मैं फँसा, या जिम हर्नडन (देखिए - *द वे इट स्पोर्ट्स टू बी*) फँसा था, या वे सभी शिक्षक जो कक्षा में व्यवस्था या अनुशासन के बारे में स्कूलों की आम धारणा से भिन्न विचार रखते हैं।

व्यवस्था की धारणा। यह जुमला वॉलेस स्टीवंस की कविता “आइडियाज़ ऑफ़ ऑर्डर ऐंड की वेस्ट” में आता है।

व्यवस्था के बारे में अपने निजी विचारों से अवगत करवाने के लिए मैं आपको Q के बारे में बताता हूँ।

पिछले स्कूल में मैं बिल हल के साथ काम करता था। बिल ने धीरे-धीरे कक्षा का काफी दायित्व मुझ पर छोड़ दिया, क्योंकि वह स्वयं कुछ दूसरे शिक्षकों के साथ मिलकर गणित-शिक्षण के शोध-कार्य में व्यस्त रहने लगा था। सर्दियों के आते-आते दूसरे सत्र तक, वह कक्षा बिल की कम और मेरी अधिक बन चली थी। शोरगुल सह पाने की मेरी क्षमता बिल से कहीं अधिक थी, सो मैं उसकी अनुमति अपने बच्चों को देता रहा था। पर इससे मेरे सामने एक भारी समस्या उपस्थित हो गई। मैं बच्चों को एक-दूसरे से बातचीत करने का, एक-दूसरे के साथ का आनन्द उठाने का मौका देता रहा था। पर बच्चों में अनन्त ऊर्जा होती है। और जब वे उत्तेजित हो जाते हैं तो अपने को रोक नहीं पाते। मुझे कोई ऐसा उपाय चाहिए था जिससे मैं उन्हें ज़रूरत पड़ने पर रोक सकूँ, नियंत्रित कर सकूँ, यहाँ तक कि पूरी चुप्पी भी पा सकूँ। पर हमेशा शान्त या मौन रहनेवाली कक्षा भी मुझे नहीं चाहिए थी। न ही मैं बच्चों को चीख-चीखकर, डाँट-डपटकर चुप करवाना चाहता था।

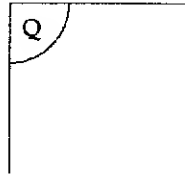
सो मैंने Q का आविष्कार किया। मैंने अपने बच्चों को समझाया कि उन्हें बातचीत करने का समय देना मुझे पसन्द है। पर कई बार उनका

शोर सहन करने की सीमा के पार चला जाता है। और फिर कई बार मुझे इसलिए भी शान्ति चाहिए होती है ताकि मैं जो कुछ उनसे कहना चाहता हूँ वह कह सकूँ। सो मैं बोर्ड के ऊपरी कोने में Q लिखता। अक्षर के बोर्ड पर आते ही कक्षा पर मानक स्कूल नियम लागू हो जाते। यानी “जब Q चिन्ह बोर्ड पर हो तो हाथ उठाकर अनुमति लिए और पाए बिना कोई बातचीत नहीं होगी।” यह था हमारा Q वाक्य। जो बच्चे बोर्ड पर Q चिन्ह के रहते हुए भी बातचीत करते, उनके नाम के आगे एक Q चिन्ह लग जाता। हर Q चिन्ह पानेवाले को मध्यान्तर में खेलने-भागने के पहले एक बार वह Q वाक्य लिखना पड़ता था। अगर उसे तीन Q चिन्ह मिले हों, तो वह तीन बार Q वाक्य लिखे बिना खेलने नहीं जा सकता था।

बाद में मैंने वाक्य को काट-छाँटकर और छोटा कर दिया, क्योंकि उनके खेल-कूद से बहुत समय लेना मुझे अच्छा नहीं लगता था। आखिर खेल का समय भी तो बच्चों के लिए आवश्यक होता है और फिर Q सज़ा का अर्थ तो केवल उससे पैदा होनेवाली झंझट में ही था न। खेल के समय में कुछ लिखना, फिर चाहे वह एक मिनट में लिखा गया वाक्य ही क्यों न हो, बच्चों को एक बड़ी बला लगती थी। खासकर तब, जब उनके सब साथी बाहर पहुँचकर खेल की व्यवस्था करने में जुट गए हों। ऐसे में लिखने में लगाया गया एक मिनट भी दूसरे किसी समय लगाए गए पाँच मिनट के समान असरदार होता था।

यह था हमारा Q। जब मैंने यह अक्षर पहले-पहल बोर्ड के ऊपरी कोने में लिखा था तो उसके इर्द-गिर्द एक घेरा बना डाला था। चूँकि बच्चे अच्छे वकील होते हैं, उन्होंने बाद में जिरह से यह सिद्ध कर दिया कि जब तक Q घेरे में बंद न हो जाए, तब तक Q नियम औपचारिक रूप से लागू नहीं माना जाएगा। मैं भी उनसे सहमत हुआ। तब हमारी कक्षा में एक बेहद मजेदार रिवाज़ जन्मा। जैसे ही मैं बोर्ड के बाएँ कोने पर Q चिन्ह बनाने लगता तो पूरी कक्षा के बच्चों में एक हल्की-सी भिनभिनाहट या फुसफुसाहट शुरू हो जाती, जो धीमे-धीमे तेज़ होती

चली जाती और बढ़ते-बढ़ते चीख में बदलने लगती। पर जैसे ही चॉक का घेरा Q के इर्द-गिर्द पूरा होता, कक्षा में शान्ति छा जाती।



जैसे-जैसे हम Q के आदी होने लगे, मुझे अक्सर यह लगता कि मुझे Q से पहले की चिल्लपों के बारे में कुछ करना चाहिए। पर किया मैंने कुछ भी नहीं। इसलिए नहीं किया कि अव्वल तो मुझे यह रीत ही प्यारी लगने लगी थी। आखिर यह सब बच्चों के स्वाभाविक उत्साह और उनकी मौलिकता का ही प्रमाण था। उन्होंने एक ऐसी चीज को भी अपने लिए रोचक बना डाला था, जिसमें पसन्द न आनेवाले नियम के अलावा कुछ भी न था। दूसरे मुझे धीमे-धीमे यह भी लगने लगा कि Q से पहले का शोर ही उसके कारगर होने का राज भी है। और सच, हमारी Q विधि बेहद प्रभावी थी। बच्चों ने अनायास ही Q को केवल मेरा नहीं बल्कि अपना सरोकार भी बना डाला था। और क्योंकि यह शान्ति थोपी हुई नहीं थी, बल्कि उनकी ओर से भी लागू होती थी, इसलिए वे उसे पूरी श्रद्धा देते थे।

बाद में जब मुझे यह लगने लगा कि ज्यादातर समय पूर्ण मौन नहीं, बल्कि थोड़ी शान्ति ही चाहिए तो मैंने अपनी Q विधि सुधार ली। मैं तब Q के बदले q लिखता, जिसका अर्थ होता कि फुसफुसाना चलेगा पर जोर से बोलना नहीं। और जो कोई जोर से बोलेगा उस पर Q के नियमानुसार ही सज़ा लागू होगी।

एक वर्ष बाद जब एक दूसरे ही स्कूल में मेरी खुद की पाँचवीं कक्षा थी, मैंने वहाँ भी फिर से Q का उपयोग किया। मैंने बच्चों को बताया कि पिछली कक्षा में Q क्यों लगाया गया। यह भी बताया कि यह तरीका

कितना असरदार रहता था। पर इसके अलावा कुछ नहीं बताया। Q नियम को अपनी नई कक्षा में लागू करने के दो-एक सप्ताह में ही बच्चों ने एक बार फिर से Q के पहले की चिल्लपों ईजाद कर डाली। शुरू में तो वे मुझे Q लिखता देखकर केवल जोर-जोर से बोलते, पर बाद में इस रिवाज़ ने भी ठीक वैसा ही रूप ले लिया जैसा कि पिछली कक्षा में था। पहले धीमी-धीमी गुनगुनाहट-फुसफुसाहट, जो क्रमशः बढ़ते-बढ़ते चीख-पुकार तक पहुँच जाती, पर इधर चॉक का घेरा पूरा होता और उधर एक झटके से शोर-शराबा कट सा जाता। और तब हर ओर शान्ति छा जाती।

मुझे इस रीत से पहले से भी कहीं अधिक खुशी हुई। मेरा विश्वास है कि किसी भी ऐसी कक्षा में या घर में, जहाँ बच्चे स्वयं को सुरक्षित महसूस करते हों, Q विधि लागू करते ही बच्चे Q शोर को भी खोज लेंगे। आशा करता हूँ कि शिक्षक विवेक के साथ उसे स्वीकार करेंगे।

इस पिछली कक्षा में केवल एक ही बार बच्चों ने Q की परीक्षा ली। उस समय तक यह कक्षा पिछली कक्षा से कहीं अधिक अनौपचारिक हो चुकी थी, मुझसे खुल चुकी थी। एक दिन जब Q बोर्ड पर लिखा था तो कुछ साहसी बच्चे, जिनमें वे बच्चे भी थे जो मेरे चहेते छात्र थे, जोर-जोर से बोलने लगे। मैं उनके नामों के आगे संख्याएँ लिखने लगा। बाकी बच्चों ने भी गौर किया और वे सब बोलने लगे। गदर! विद्रोह!! खेल ने जो शक्ति अख्तियार की वह यह थी कि “चलो देखें होल्त साहब से हम कितनी जल्दी-जल्दी संख्याएँ लिखवा सकते हैं।” कुछ देर बाद मैं चैता, समझ आ गया कि हो क्या रहा है। मैंने सब काम बन्द किया और कक्षा को एक भाषण दे डाला : “देखो भाई, जो कुछ हो रहा है वह मैं समझ रहा हूँ। तुम लोग जानना चाह रहे हो कि Q विधि को तुम लोग नष्ट कर सकते हो या नहीं? तो मैं अभी से बता दूँ कि ऐसा करना तो बड़ा आसान है। यह तो काम ही इसलिए करता है कि तुम लोग इसे काम करने देना चाहते हो। बस एक बात है कि अगर Q हमसे छिन जाता है तो उसकी जगह क्या रखा जाएगा?

मुझे तो शान्ति या मौन पाने के किसी न किसी तरीके की ज़रूरत पड़ेगी ही। मुझे तुम लोगों को आपस में बात करने देना ठीक लगता है, बावजूद इसके कि तुम लोग कभी-कभार बेहद शोर करते हो। पर उसे नियंत्रित तो करना ही पड़ता है मुझे। अगर Q न हो तो कोई दूसरा उपाय ढूँढना पड़ेगा। शायद दूसरे शिक्षकों की ही तरह बातचीत की पूरी मनाही करनी होगी।" मैंने तब यह जानना चाहा कि क्या उन्हें Q विधि अन्यायपूर्ण लगती है। ऐसा किसी को नहीं लगा। मैंने जानना चाहा कि क्या वे उसे बदलना चाहते हैं। वह भी नहीं। इस पर मैंने कहा, "तो ठीक है, फिर से शुरू करते हैं। तुम लोगों ने यह तो सिद्ध कर ही दिया कि यह व्यवस्था केवल तभी चल सकती है जब तुम इसे चलाना चाहो। मैं Q अंकों का यह कागज़ बाहर फेंक देता हूँ और तुम लोग फिर से पुराने तरीके पर आ जाओ।" और हमने यही किया। उन्होंने फिर कभी Q की परीक्षा नहीं ली और जैसे-जैसे वह वर्ष बीतता गया, वह कक्षा क्रमशः मेरी नहीं सबकी कक्षा बनती चली गई। जैसे-जैसे बच्चे स्वयं अपने शोरगुल पर नियंत्रण रखने लगे, वैसे-वैसे Q की आवश्यकता भी कम होती चली गई। बल्कि बाद में तो अगर बोर्ड पर मैंने कभी Q लिखा भी तो उन बच्चों के अनुरोध पर जिन्हें कुछ और शान्ति, कुछ और चुप्पी की ज़रूरत महसूस हुई।

पर स्कूलों में व्यवस्था की कल्पना अधिकतर यही है कि भय, धमकी या सज़ा के बिना व्यवस्था या अनुशासन सम्भव नहीं है। उन्हें ऐसा ही व्यवस्था-तंत्र पसन्द आता है जो भय पर आधारित हो फिर चाहे वह काम न भी करता हो, बनिस्बत ऐसे व्यवस्था-तंत्र के जो बच्चों के सहयोग पर आधारित हो और इसीलिए प्रभावी हो।

□ मार्च 27, 1958

इस बात पर तो हम सहमत हैं कि सभी बच्चों को सफलता की आवश्यकता होती है, पर क्या हम सबका आशय भी एक ही है? मेरा निजी विचार

तो यह है कि सफलता न तो सहज प्राप्त होनी चाहिए न आसानी से ही, और न ही वह हमेशा मिलती जानी चाहिए। सफलता का अर्थ ही बाधा को पार करना होता है। इस विचार के भी परे पहुँचना होता है कि शायद हम सफल न हो सकें। यह तो "मैं नहीं कर सकता" को "मैं कर सकता हूँ", "लो, मैंने किया", में बदलना होता है।

यह हमें शुरू से ही सीख लेना चाहिए कि हम हमेशा सफल नहीं हो सकते। बेसबॉल में बल्लेबाज़ी का बढ़िया औसत 300 माना जाता है, पर जिन्दगी की बल्लेबाज़ी का औसत इससे कहीं कम होता है। जीवन में हम सबको विजय से कहीं अधिक पराजय का सामना करना पड़ता है। तो फिर क्या इसकी हमें शुरू से ही आदत नहीं पड़ जानी चाहिए? हमें यह भी सीख लेना चाहिए कि जितनी हमारी पहुँच हो उसके पार ही हमारा लक्ष्य हो। "व्यक्ति की ललक उसकी पकड़ के परे होनी ही चाहिए, आखिर आशा है किसलिए?" जो हम आज नहीं कर सकते, वही हम कल या कोई दूसरा कर सकेगा। हमारी असफलता किसी दूसरे की सफलता के लिए राह तो तैयार कर सकेगी।

हमें बच्चों को इस स्थिति से बचाना चाहिए, जहाँ उन्हें अटूट असफलता ही मिलती रहे। असल में हमें असफलता के प्रति अपना दृष्टिकोण ही बदलना चाहिए। हमें देखना चाहिए कि असफलता की भी गरिमा होती है, उसका रूप सकारात्मक होता है न कि लज्जाजनक। शायद हमें असफलता में भाषाई भेद करना चाहिए।

यह विचार मन को ललचाता है कि असफल बच्चों के लिए हम ऐसी स्थितियाँ पैदा कर दें जिसमें उन्हें यह लगे कि वे अधिकतर समय सफल हो रहे हैं। पर यह बात किसी बच्चे से छुपाई तो नहीं जाती न कि उसके हमउम्र, उसकी कक्षा के साथी या दूसरे स्कूलों में पढ़ने वाले बच्चे क्या कर रहे हैं? बच्चों को तो केवल इस अहसास की ही आवश्यकता है कि वे भी किसी चीज़ को अच्छी तरह से कर सकते हैं। इतनी अच्छी तरह कि वे बिना किसी दूसरे के बताए स्वयं ही यह समझ लें कि उन्होंने वह काम बहुत दक्षता से किया है। हो सकता है कि इसके लिए किसी को

बाहर से ऐसे उपाय भी करने पड़ें, जिससे उनमें एकाग्रता और संकल्प की कमी पूरी की जा सके।

मैंने बिल के साथ सहयोग के प्रारम्भ में ही यह नोट लिखा था। उस समय तक मैं पारम्परिक शिक्षक के बाने को तार-तार हुई एक कमीज की तरह अपने तन से चिपकाए फिरता था। मैं सोचता था कि बच्चों से यह-वह करवाया जाना चाहिए। या उनके सामने “ऊँचे स्तर” प्रस्तुत किए जाने चाहिए।

इस नोट को लिखते समय जो विचार मेरे मन में था, वह कई स्कूलों में लोकप्रिय था। वह विचार योजनाबद्ध अनुदेश (प्रोग्राम्ड इन्स्ट्रक्शन) के पीछे भी था। विचार यह था कि बच्चों को अपने-आप से खुश रखने के लिए उन्हें करने को ऐसे आसान काम देने चाहिए कि वे उन्हें पूरा करने में चूकें ही नहीं। पर यह विचार बिरले ही सही उतरता है। दिए जानेवाले काम का चुनाव अगर बच्चों ने न किया हो, हमने किया हो तो बच्चे काम के बारे में नहीं, हमारे बारे में ही सोचते हैं। तब ऐसी गतिविधियों का परिणाम उन्हें पंगु ही बना सकता है। सफलता केवल तभी मिलती है जब काम इतना आसान बना डाला जाए कि न तो उसे करने का सन्तोष उसे मिले, न ही उसका आत्मसम्मान तुष्ट हो।

मेरा केवल इतना ही कहना है कि “सफलता” व “असफलता” दोनों ही वयस्क विचार हैं जो हम बच्चों पर आरोपित करते हैं। दोनों, सिक्के के दो पहलुओं की तरह हमेशा साथ-साथ चलते हैं। यह कल्पना ही असम्भव है कि हम बच्चों में “सफलता” के प्रति प्रेम, उनमें “असफलता” के प्रति भय जगाए बिना पैदा भी कर सकते हैं।

चलना सीखनेवाले बच्चे बार-बार गिरते भी तो हैं, छह-सात वर्ष के बच्चे साइकिल चलाना सीखते समय कई बार लुढ़कते और चोट खाते हैं। पर गिरते ही ये बच्चे यह नहीं सोचते, “लो देखो, मैं तो फिर से असफल हो गया।” नन्हे शिशु, छोटे बच्चे, अपने-आप अपनी बनाई कठिन योजनाओं से जूझते समय केवल यही सोचते हैं, “लो, अभी नहीं हुआ। चलो फिर से करें।” चलते समय या साइकिल चलाना सीखते समय बच्चे

यह भी नहीं सोचते, “वाह, मैं सफल हो रहा हूँ।” वे तो यही सोचते हैं, “वाह! अब मैं चल पा रहा हूँ। मैं चला पा रहा हूँ।” चलने या साइकिल चलाने के काम में ही उसका आनन्द निहित है, न कि सफलता के किसी विचार में।

अगर देखा जाए तो वयस्कों के लिए भी “सफलता” शब्द (अगर शब्द का प्रयोग हम धन या यश कमाने के अर्थ में नहीं कर रहे हों तो) केवल उन्हीं कामों के संदर्भ में इस्तेमाल किया जा सकता है, जिनमें दो ही सम्भावनाएँ हों। मसलन पहली को बूझना या किसी प्रतियोगिता को जीतना। इन स्थितियों में या तो व्यक्ति दिया गया काम पूरा कर पाता है और सफलता पाता है, या वह उस काम को नहीं कर पाता। ऐसी सफलता या असफलता का दूसरे कामों को करने की हमारी दक्षता या हमारे अन्य कौशलों से कोई सम्बंध नहीं होता जिन्हें हम ताउम्र करते हैं और जिनमें हम क्रमशः अधिक निपुण होते चले जाते हैं। मसलन मेरा चेलो सीखना या किसी नई और कठिन धुन को बजाने की चेष्टा करना - इवोराक के “अमेरिकन” या शूबर्ट की “डेथ ऐण्ड द मेडन”। मैं अपने लिए कुछ सीमित लक्ष्य भी निर्धारित कर सकता हूँ। जैसे, किसी धुन के एक अंश को याददाश्त के सहारे बजाना या किसी निश्चित लय पर बजाना। इन लक्ष्यों के बारे में मैं यदा-कदा कह सकता हूँ, “लो, अब मैं सफल हुआ हूँ।” (जबकि यह सम्भव है कि दो ही दिन बाद मुझे वही काम फिर से करना पड़े।) पर मेरा यह कहना तो निरर्थक ही होगा कि मैं चेलो या इन धुनों को बजाने में “सफलता” पा रहा हूँ। इन कामों में ऐसी कोई रेखा है ही नहीं, जिसके एक ओर सफलता और दूसरी ओर असफलता लिखा हो। बच्चे या हम वयस्क किसी काम को कैसे करते हैं, या बेहतर कर पाते हैं, इसकी समझ तक को ये दो शब्द विकृत कर देते हैं।

बच्चे जब किसी काम को शुरू करते हैं - जैसे मेरी पाँच वर्षीय सहेली वीटा, जिसने हाल में वायलिन सीखना शुरू किया है - तो वे सफलता या असफलता के संदर्भ में सोचते ही नहीं हैं। वे तब केवल अपने प्रयासों

और काम से मिलने वाली उत्तेजना के बारे में सोचते हैं। जब बच्चों को खुश करना महत्वपूर्ण बन जाता है, केवल तभी सफलता और असफलता के बीच वह गहरी रेखा उभर आती है।

□ दिसम्बर 3, 1958

उस दिन मैंने तय किया कि मैं दूसरे सेक्शन के बच्चों से यह पूछूँ कि जब उन्हें यह समझ नहीं आ रहा हो कि क्लास में क्या हो रहा है तो उन्हें कैसा लगता है। हम लोग इधर-उधर की गपशप कर रहे थे और बच्चे धीरे-धीरे तनावमुक्त हो चले थे। सो मैंने सही मौका जानकर कहा, “पता है, एक बात जानने की मेरी बड़ी इच्छा होती है। पर मुझे पता नहीं कि तुम लोग मुझे वह बताओगे भी या नहीं।” इस पर बच्चों ने पूछा, “क्या?” मैंने सवाल उछाला, “जब कोई शिक्षक तुम लोगों से ऐसा सवाल करे जिसका जवाब तुम्हें नहीं आता हो तो तुम क्या सोचते हो?”

सवाल क्या था, मानो एक धमाका हो। बच्चों को तो लकवा-सा मार गया। पूरे कमरे में सन्नाटा छा गया। सब मुझे घूरने लगे। उनके चेहरे पर जो भाव खेलने लगा उससे मैं अब बखूबी परिचित हूँ, उसे मैं तनाव का भाव कहता हूँ। चारों तरफ शान्ति थी, कोई आहट तक नहीं। आखिरकार बेन ने, जो दूसरों से कहीं अधिक साहसी है, तनाव तोड़ते हुए एक ही शब्द में उत्तर दिया, “हाय!”

उसका यह जवाब सबकी ओर से था। तुरन्त सब कुलबुलाने लगे। सबने एक ही बात कही कि जब शिक्षक उनसे कोई ऐसा प्रश्न पूछते हैं जिसका उत्तर उन्हें नहीं आता है तो वे डर से अधमरे हो जाते हैं। एक ऐसे स्कूल में जिसके बारे में लोगों की यह धारणा हो कि वह प्रगतिशील है, जहाँ बच्चों पर दबाव न डालने की सायास चेष्टा की जाती हो, जहाँ निचली कक्षाओं में नम्बर तक न दिए जाते हों, जहाँ भरसक यह कोशिश की जाती हो कि स्पर्धा की भावना बच्चों को पीड़ित न करे, वहाँ के बच्चों से ऐसी प्रतिक्रिया पाकर मैं भौचक्क रह गया।

मैंने जानना चाहा कि वह क्या है जो उनमें “हाय” का भाव पैदा करता है। बच्चों ने बताया कि वे फेल होने से डरते हैं, पिछली कक्षा में रोक लिए जाने से डरते हैं, बुद्धू कहलाने से डरते हैं, बुद्धूपन के अहसास से डरते हैं। “बुद्धू”, यह शब्द इन बच्चों के लिए घोर अपमान का प्रतीक क्यों बन गया है? इतना कि वे इससे बदतर गाली की कल्पना तक नहीं कर सकते। यह इन्होंने कहाँ सीखा?

नितान्त सहृदय और कोमल स्कूलों तक में बच्चे डरते हैं। कई बच्चे यदा-कदा और कुछ तो हमेशा ही सहमे रहते हैं। हमारे सामने यह कठोर सत्य है। इसके बारे में हम क्या कर सकते हैं?

□ दिसम्बर 30, 1958

पूरे पतझड़ के दौरान मैं यह सोचता रहा कि फुटबॉल खेलते समय जैक इतनी बार क्यों गिरता है। उसका शरीर लचीला है, शारीरिक समन्वय भी अच्छा है, संतुलन की कमी नहीं है। कोई उसे धकियाकर भी नहीं गिराता। फिर वह यों अक्सर धराशायी कैसे हो जाता है। तब अचानक उस रोज़ मुझे सवाल का उत्तर खुद-ब-खुद मिल गया।

उत्तर मैंने उस समय पाया जब मैं बाँसुरी के अभ्यास के दौरान अपने तनावों को नियंत्रित करना सीखने की कोशिश कर रहा था। संगीत का अभ्यास शिक्षकों के लिए अच्छा होता है। क्योंकि यह हमारे अन्दर ठीक वैसा ही तनाव पैदा करता है जिसका बच्चों को सामना करना पड़ता है। हम बचपन में झेले उस तनाव को न जाने कब का भूल चुके होते हैं। गौर करने की बात यह है कि गैटग्नो जब क्यूसेनेर छड़ों¹ के बारे में शिक्षकों को समझाते हैं तो शिक्षक भी इन छड़ों को ऐसे ही तनाव के रूप में देखते हैं। उनकी प्रतिक्रिया ठीक वैसी होती है जैसी स्कूली काम के प्रति बच्चों की। वे गैटग्नो से नाराज होते हैं। उनकी पद्धति का ही विरोध करने लगते हैं। जो कुछ वे कहते हैं, वह वैसा ही होता है जो

¹ पृष्ठ ... पर टिप्पणी देखें

कोई पाँचवीं कक्षा का बच्चा किसी नए विचार से चौंककर कहता है। हाँ, इतना ज़रूर है कि शिक्षकों की भाषा अलंकृत होती है, पर कहते वे भी पाँचवीं के बच्चों की तरह यही हैं, “यह कितना पागल, कितना ऊटपटाँग विचार है।”

मैंने पाया है कि बच्चे किसी तरह के दो-एक सवाल तो हल कर डालते हैं, पर अगर वैसे ही सवालों से भरा एक पन्ना उन्हें थमा दिया जाए तो वे पूरी तरह ध्वस्त हो जाते हैं। जब मैं संगीत का अभ्यास करता हूँ तो मेरे साथ भी ठीक ऐसा ही कुछ होता है। जब मैं कोई धुन द्रुतलय में बजाता हूँ तो मैं एक तरह का तनाव महसूस करता हूँ। अगर धुन छोटी ही हो तो मैं तनाव में पूरी तरह डूबूँ, उसके पहले ही उसे बजा चुकता हूँ। पर अगर वह लम्बी हो तो मेरा आत्मविश्वास ही डगमगाने लगता है। मुझे कतई भरोसा नहीं होता कि मैं बिना गलती किए उसे बजा पाऊँगा। ऐसे में मानो एक भीतरी आवाज़ मेरे संगीत पर टीका-टिप्पणी करती चलती है, “ठीक है, चलो यहाँ तक तो पहुँचे, पर इस तीव्र स्वर से बचना। लो देखा, अभी तो चूकने ही वाले थे और उस स्वाभाविक स्वर की जगह तीव्र स्वर ही बजा डाला था।” यह आवाज़ तेज़ होती जाती है। मेरा समन्वय टूटता है और मैं जिस गलती को करने से डर रहा था, वह अन्ततः मुझसे हो ही जाती है।

मैं जैक के गिरने की बात भूला नहीं हूँ। मैंने पाया कि जब-जब मैं कोई गलती करता हूँ तो अचानक अपने तनावों से एक अजीब-सी राहत मिलती है - इसलिए, क्योंकि तब भूल करने का भय नहीं सताता। नट की तरह तनी हुई रस्सी पर चलने के समय गिरने का जो डर रहता है, वह गिरने के बाद खत्म हो जाता है। जिन बच्चों के लिए गलती करना ही तकलीफ़देह है, वे किसी भी चीज़ को सही करने की आशा में ही भयंकर तनाव झेलते हैं। उन्हें भूल की सम्भावना भी उतना ही परेशान करती है, जितना सच में कोई भूल कर डालना। यही कारण है कि अक्सर जब किसी बच्चे को यह बताया जाता है कि उसने कोई सवाल गलत किया है तो वह राहत की सांस ले कर कहता है, “मुझे तो पहले ही लग रहा था कि गलत

होगा।” वह निश्चित रूप से यह जान लेना पसन्द करता है कि उससे कोई गलती हो गई है। यह स्थिति उसे उससे कहीं बेहतर रास आती है, जब उसे यह पता ही न हो कि वह सही है या गलत।

जैक गिरता इसलिए है, क्योंकि गिरना उसे तनावों से मुक्त करता है। उन तनावों से जो फुटबॉल खेलते समय उसे आ घेरते हैं। गिरने पर वह कुछ ही क्षणों के लिए क्यों न सही, मुक्ति का अनुभव करता है। छोटा होने के कारण उसे बड़े लड़कों से भिड़ने का भय सताता है, पर अपने भय को जताने का भय इस भय से भी बड़ा है। सो वह पूरे मनोयोग से खेलता है। उस तरह जैसे उसे लगता है कि खेल खेला जाना चाहिए। पर तब उसके अन्दर तनाव पैदा होता है जिसे वह झेल नहीं पाता। लड़का होने के कारण वह खेल से निकलना भी नहीं चाहता, जो लड़कियाँ कर सकती हैं। न ही वह बड़े लड़कों के आक्रमण से भाग पाता है। सो वह बार-बार गिरता है, ताकि वह कुछ क्षणों के लिए सुस्ता सके।

अगले ही वर्ष पाँचवीं कक्षा में कुछ ऐसी लड़कियाँ आईं जो पूरी कक्षा में सबसे ताकतवर और निडर थीं। यह बात, कि अपने भय को स्वीकारने या जताने के बारे में लड़कों व लड़कियों के दृष्टिकोण भिन्न हुआ करते हैं, उस समय के लिए आज से कहीं अधिक सच थी।

इस चर्चा से मन में लिखित कार्य की बात जग आई है। कुछ लोग सोचते हैं कि बच्चे ढेर-सा लिखित कार्य पाकर एक तरह की सुरक्षा महसूस करते हैं। यह सम्भव हो सकता है। पर कुछ देर के लिए यह कल्पना कीजिए कि स्कूल में हरेक शिक्षक से यह कह दिया जाए कि उसे एक निश्चित समय के भीतर दस पन्ने गणित के सवाल करने हैं, और अगर एक भी गलती हुई तो उसे नौकरी से हाथ धोना पड़ेगा। अगर शिक्षकों को इतना समय दे भी दिया जाए कि वे आसानी से यह काम पूरा कर लें, उसे फिर से जाँच भी लें, तो भी मुझे नहीं लगता कि एक भी शिक्षक पूरा का पूरा पर्चा सही-सही कर सकेगा। वे सब तनाव के शिकार हो जाएँगे, जैसे मैं संगीत के अभ्यास के समय होता हूँ। यह तनाव ही उनके आत्मविश्वास और संतुलन को ध्वस्त कर देगा। क्या आपके साथ भी ऐसा हुआ है कि

आप गणित का एक सरल सा सवाल हल करने के बाद उसके एक-एक चरण को बार-बार जाँचें, मानो आपको यह भरोसा ही न हो कि आपने सवाल सही कर दिया है? मेरे साथ तो ऐसा कई बार हुआ है। अगर हम पर भी ठीक वैसी दुनाली तनी हो, जैसी बच्चों के सामने कक्षाओं में तनी रहती है, तो हम भी अपने आपको ऐसा ही करता पाएँगे।

सम्भव है बच्चों को लिखित काम की ज़रूरत होती हो, खासकर गणित में। पर उन पर एक साथ ढेर सा काम लादना भी ठीक नहीं है। बच्चों को गणित के पूरे घंटे में अगर कोई पर्चा करने को दे दिया जाए तो वे चिन्ता और ऊब से ही कई बेवकूफी-भरी गलतियाँ कर बैठेंगे। मुझे तब अक्सर आश्चर्य होता था जब वे बच्चे - जो ज़्यादा भूल करते थे या सबसे खराब अंक पाते थे - ही सबसे पहले अपना पर्चा पूरा कर मुझे थमा दिया करते थे। मैं उन्हें समझाया करता था, “अगर काम पहले खत्म कर लिया हो तो उसे फिर से देखा जाना चाहिए। कुछ सवाल फिर से करने चाहिए।” यह सुझाव ठेठ शिक्षकों के अन्दाज़वाला ही था। बेहतर होता कि मैं उन्हें अपने हाथों के पंख बना उड़ने को कहता। वे तो पर्चा पूरा कर अपने तनाव से उबरते थे और परिणाम राम-भरोसे छोड़ देते थे। परीक्षा में फेल हो जाने की चिन्ता उन्हें अवश्य होती होगी। पर यह चिन्ता तो भाग्यवादी चिन्ता होती है। उसमें सम्भावनाओं में से चुनाव करने की पीड़ा तो नहीं होती है न। पर्चा शिक्षकों को सौंपने के बाद उनके बस में कुछ नहीं रहता। सच है कि पर्चा सही किया है या नहीं, यह विचार कष्टदायक तो होता है पर सवाल करते समय सही या गलत का चुनाव करने से कहीं कम कलीफदेह होता है।

बच्चे लिखित कार्य से सुरक्षा की भावना पाते हैं, यदि उन्हें अपना काम खुद चुनने की आज़ादी हो। यह आज़ादी हो कि वे स्वयं यह तय कर सकें कि उन्हें कितना काम कब करना है। हम स्कूलों में बच्चों को हल करने के लिए गणित के सवालों की एक लम्बी सूची थमा देते हैं, इस आशा के साथ कि उनका आत्मविश्वास बढ़ेगा, उनमें दृढ़ता आएगी, वे सुरक्षा महसूस करेंगे। लेकिन इसका असर हमारी अपेक्षाओं

के ठीक उल्टे ही होता है। हम, उनमें ऊब व भय पैदा करते हैं। उनका ध्यान केन्द्रित होने के बदले और छितरता है। वे और-और गलतियाँ करते हैं। उनके मन में गलती करने का डर भी बढ़ता जाता है।

यह पुस्तक जब पहली बार छपी तब से लोरे रास्मुसैन, बिल और मेरी मित्र बन गई। उन्होंने एक ऐसा तरीका निकाल लिया था जिससे बच्चे लिखित काम को करके आश्वासन पा सकें। उन्होंने गणित के सवालों की कई तरह की “वर्क शीट्स” बना डाली थीं। (उनमें से कुछ अब बाज़ार में भी उपलब्ध हैं)। प्रत्येक शीट गणित के एक खास क्षेत्र से सम्बंधित थी। उन्होंने उनकी कई प्रतियाँ बनाईं। अपने पास एक मास्टर फाइल में वह इन सबकी एक-एक प्रति रखती थीं। बच्चे आते और स्वयं उसमें से अपना काम चुन लेते। तब लोरे उन्हें उनका चुना हुआ पर्चा निकाल कर दे देती।

लोरे ने पाया कि बच्चे एक ही पर्चे को छः-सात बार सही-सही कर लेने के बाद ही तय करते कि इतना काम पर्याप्त है। बच्चे सूखे कुओं से पानी नहीं पिया करते। उन्हें पता था कि इन पर्चों को करने से कोई अंक नहीं मिलने वाले हैं। न ही इन्हें करके वे अपनी टीचर को खुश करने का प्रयास कर रहे थे। काम का यह चुनाव उनका आत्मविश्वास ही बढ़ाता होगा। उन्हें अपना दखल मज़बूत होता जान पड़ता होगा। और जब उन्हें यह लगने लगता कि अब वे उन सवालों पर महारत पा चुके हैं, तो वे उन्हें करना बन्द कर कुछ नया करना शुरू कर देते।

स्कूलों में मिलनेवाला ज़्यादातर गृह कार्य केवल समय काटने का ही काम होता है। इससे बच्चों को नहीं बल्कि शिक्षकों को ही यह आश्वासन मिलता है कि उनका पढ़ाया बच्चे समझ गए हैं। यही कारण है कि वह फायदेमन्द होने के बजाय आम तौर पर हानिकारक ही होता है।

तनावों को कम करने का एक उपाय है, उनके प्रति सचेत होना। मैंने बच्चों को गणित की कक्षा में बताया था कि कक्षा में जो कुछ बताया जाता है, उसमें से कुछ समझ न आने पर उसे छोड़ते जाना ठीक वैसा ही होता है, जैसा किसी लम्बी यात्रा पर निकलने के बाद कुछ स्थानों

पर अपना थोड़ा-थोड़ा सामान छोड़ आना, जिसे वापस लाने के लिए आखिरकार जाना ही पड़ता है। और जितनी जल्दी लाने जाओ, उतना ही बेहतर होता है। इस अजीब-सी तुलना से बच्चों को मदद मिली है। कम-से-कम कहते तो वे यही हैं। वे आहिस्ता-आहिस्ता डर से पैदा होनेवाले उस विभ्रम को पहचानने लगे हैं जो उन्हें जकड़ लेता है। “मैं तो पीछे छूट गया हूँ”, कहते ही वे अपनी भावनाओं पर काबू पा सकते हैं। अब जब उनके तनाव बहुत बढ़ जाते हैं तो वे इसका जिक्र मुझसे कर सकते हैं, और मैं उनकी मदद कर पाता हूँ।

बच्चों पर लादे जाने वाले तनाव की कोई सीमा हमें बाँधनी ही चाहिए। अगर हम ऐसा नहीं करते तो वे स्वयं ही ध्यान न देकर या इधर-उधर ताक झाँक कर यह सीमा बाँध लेते हैं। या फिर वे यही कहते हैं, “मुझे कुछ भी समझ नहीं आ रहा।” हमें पहले से ही यह खुलासा कर देना चाहिए कि पूरे पीरियड भर वे तनाव में नहीं रहेंगे, और ज़रूरत हुई तो वे तनाव तोड़ने के उपाय भी कर सकते हैं।

शायद यही कारण है कि जब गैटग्नो जैसे शिक्षक गणित की निदर्शन कक्षाएँ लेते हैं तो उन्हें ऐसे चमत्कारिक परिणाम मिलते हैं। बच्चे जानते हैं कि उनकी कक्षाएँ असली स्कूली कक्षाएँ नहीं हैं, न ही सामने खड़ा वह व्यक्ति असली शिक्षक है। उनसे कोई गलती हो भी जाए तो कहर नहीं टूट पड़नेवाला। फिर यह तमाशा भी कुछ ही देर का है। खत्म भी हो जाएगा। यानी बच्चे अपनी रोज़मर्रा की चिंताओं से इस कदर आज़ाद हो जाते हैं कि वे अपने दिमाग का इस्तेमाल करने लगते हैं। हम अपनी कक्षाएँ यों कैसे चलाएँ कि वहाँ भी हर दिन यह भावना बनी रहे। क्या ऐसा कर पाना सम्भव है भी?

□ फरवरी 5, 1959

दस साल के बच्चों में इतनी सुविकसित आत्मछवि का होना कैसे संभव है? अपने प्रति ऐसा आलोचनात्मक दृष्टिकोण, इतना आत्म-तिरस्कार कि

वह घृणा की सीमा तक पहुँचता हो, उनमें भला आता कहाँ से होगा? बड़े बच्चों में तो इसे पाने की अपेक्षा रहती भी है। पर इस सीमा तक वे इतनी जल्दी पहुँच भी सकते हैं...?

क्या ऐसे भी बच्चे हो सकते हैं जो अपनी निजी दुनिया में, अपने ही जीवन में इस कदर व्यस्त हों कि उन्हें अपने बारे में कुछ भी सोचने का समय न मिलता हो? शायद बैटी एक ऐसी ही बच्ची है। शायद हैल भी। पर दूसरे किसी बच्चे के बारे में यह नहीं कहा जा सकता।

बच्चों को अल्पायु में ही दूसरे बच्चों के भीड़भाड़ वाले समाज में धकेल दिया जाता है। यहाँ वे अपनी दुनिया के बारे में सोचने के बदले बच्चों की दुनिया में अपने स्तब्ध के बारे में सोचने पर मज़बूर हो जाते हैं।

इस बात का अहसास मुझे आज पहले से कहीं अधिक होता है।

क्या यह सम्भव है कि आधुनिक शिक्षण-पद्धति, जो कोमलता से समझाने के तरीके अपनाती है और मानवीय सम्पर्क भी उपलब्ध कराती है, हमारे बच्चों को स्वयं में और अपने काम में अन्तर करना नहीं सिखा पाती? मेरा पहला स्कूल इससे बिल्कुल अलग था। मैं पाँच वर्ष का ही रहा होऊँगा पर मेरी शिक्षिकाओं ने मुझे तभी से “होल्ड” के अलावा किसी दूसरे सम्बोधन से नहीं पुकारा। एक व्यक्ति के रूप में उनका ध्यान शायद कभी मेरी तरफ गया ही नहीं। मुझे तो यह तक पता नहीं था कि वे मुझे पसन्द करती भी थीं या नहीं। उन्हें केवल मेरे काम से मतलब था। काम अच्छा होता तो मेरी तारीफ होती, बुरा होता तो आलोचना। बच्चों के प्रति अपनाए गए इस पुराने रुख में सम्भव है उससे कहीं अधिक सार हो, जितना हम आज मानते हैं। सम्भव है, बच्चों के लिए एक ऐसी दुनिया में बड़े होना कहीं अधिक आसान होता हो, जहाँ वयस्कों की दुनिया में दखलंदाजी करने पर उनसे सख्ती और औपचारिकता से पेश आया जाता है, पर बाकी समय उन्हें अपनी तरह से जीने दिया जाता है।

सैम के प्रगति-पत्र पर एक ऐसा शब्द लिखा था जो वह समझ नहीं पाया और तुरन्त रूआसा हो चला। उसने यह क्यों माना कि उस शब्द

का अर्थ बुरा ही होगा? हम वयस्क अपनी व अपने बच्चों की हरेक छोटी-मोटी असफलता को सम्पूर्ण अयोग्यता का, निकम्मेपन का प्रमाण मान बैठते हैं। क्या यह सांस्कृतिक मामला है? क्या इस दुनिया में ऐसे भी लोग हैं जिनके लिए किसी काम को बुरा कर डालना लज्जाजनक नहीं होता?

बच्चों को किसी काम को करने के लिए दिया जाने वाला प्रोत्साहन भी खतरनाक हो सकता है। हम अक्सर कहते हैं, “देखो तुम तो काफी समझदार, तेज़ और अच्छे बच्चे हो। तुम चाहो तो यह सवाल आसानी से कर सकते हो। कोशिश तो करो।” पर मान लीजिए बच्चे से वह काम गलत हो जाता है, तो फिर तो हमारी धारणा भी गलत होगी न। यानी अगर बच्चा हर सम्भव चेष्टा करने के बावजूद असफल रहे, तो जाहिर है कि वह बच्चा समझदार, तेज़ या अच्छा बच्चा नहीं है।

बच्चे अगर असफल होने की इतनी चिन्ता करते हैं तो क्या इसका अर्थ यह नहीं है कि वे सफलता की कीमत बहुत ऊँची आँकते हैं, उसी पर निर्भर करते हैं? क्या निचली कक्षाओं में हम अच्छे काम की ज़रूरत से ज़्यादा प्रशंसा तो नहीं कर डालते? अगर जॉनी काम अच्छा करता है और हम उसे प्रोत्साहित करने के लिए “बढ़िया” कहते हैं तो क्या हम अनजाने ही उसके बुरा करते ही उसमें “बुरा” होने का अहसास तो नहीं जगा रहे होते।

क्या बच्चों को सच में प्रशंसा की इतनी ज़रूरत होती है? जब कोई बच्चा अनेक कोशिशों के बाद घन-पहेली (क्यूब पज़ल) को सुलझा लेता है तो क्या उसे सच में यह कहने की ज़रूरत होती है कि उसने अच्छा किया है? क्या उसे हमारे कहे बिना यह पता नहीं चलता कि उसने कुछ हासिल कर लिया है? असल में जब हम उसकी प्रशंसा करते हैं तब क्या हम उसकी उपलब्धि पर अपना कुछ हक नहीं जमा रहे होते? उसका कुछ हिस्सा नहीं चुरा रहे होते? और अपने-आप को आगे नहीं बढ़ा रहे होते? दरअसल हम यह जताना चाहते हैं कि उसे इस कदर चतुर बनाने में हमारा भी योगदान है। क्या वयस्कों द्वारा बच्चों की की गई अधिकांश प्रशंसा आत्मप्रशंसा का ही रूप नहीं है? अचानक नैट का वह सुन्दर लेख

याद आ रहा है जो उसने अपने घर के बारे में लिखा था। उसकी प्रशंसा कर मैं स्वयं को ही दाद दे रहा था। कितना कुशाग्र है वह और मैं भी कितना कुशाग्र हूँ, तभी तो उसे इतना कुशाग्र बनाने में मददगार हो पाया!

□ फरवरी 11, 1959

किसी ने उस दिन पूछा, “हम स्कूल क्यों जाते हैं?” पैट ने अप्रत्याशित उत्साह के साथ जवाब दिया, “ताकि जब बड़े हो जाएँ तो बुद्ध के बुद्ध न रह जाएँ।” ये बच्चे बुद्धिहीनता को अज्ञान के समान मानते हैं। जब वे खुद को बुद्ध कहते हैं तो क्या यही उनका आशय होता है? क्या यही कारण है कि वे कुछ नहीं आने पर शर्मते हैं? अगर यह सच है तो क्या हमने अनजाने ही उनमें यह भावना तो नहीं जगाई है? हमें यह अन्तर स्पष्ट कर देना चाहिए। उन्हें यह बता देना चाहिए कि यह सम्भव है कि कम जानकारी होते हुए भी कोई उसका बेहतरीन उपयोग करे। साथ ही इसके विपरीत भी सम्भव है। ऐसा भी हो सकता है कि जानकारी की मात्रा काफी हो पर उसका उपयोग सही तरीके से करना न आए। मूढ़ ज्ञानियों की तो इस देश में कोई कमी है ही नहीं।

इसके बाद मैं “अच्छे” विद्यालयों में पढ़ने वाले कई “होनहार” बच्चों को स्वयं को बुद्ध कहते सुन चुका हूँ। उनका आशय अज्ञान से होता है। पर साथ ही वे स्वयं को मेधाहीन भी मानते हैं। बल्कि एक कदम और आगे बढ़कर वे स्वयं को निकम्मा व गैरभरोसेमन्द भी मानते हैं। उन्हें यह लगता है कि वे हर काम गलत ही करेंगे। ये बच्चे अपने बारे में ऐसी धारणा क्यों बनाते हैं? इसलिए, क्योंकि वयस्कों का व्यवहार उनके प्रति ऐसा ही होता है।

इस स्कूल में पाँचवी कक्षा से पहले बच्चों को खाना खाते समय खाना परोसने का काम नहीं सौंपा जाता। जो वयस्क स्कूल चलाते हैं उनमें से कुछ मनोवैज्ञानिक भी हैं। उनका मानना है कि दस वर्ष की उम्र के पहले बच्चों पर यह भरोसा नहीं किया जा सकता कि वे खाने से भर

डोंगे-तशतरियाँ बिना गिराए उठा सकेंगे। जब बच्चे अपनी कक्षा से किसी दूसरी कक्षा में, या एक भवन से दूसरे भवन में जाते हैं, तो भी राह दिखाने के लिए एक वयस्क उनके साथ होता है। उन्हें एक सीधी कतार में चलना पड़ता है और उनमें से कोई एक बच्चा कतार का नायक भी चुन लिया जाता है ताकि वह शिक्षक की मदद कर सके। ऐसे किसी नियम के बिना बच्चे एक जगह से दूसरी जगह पहुँच भी सकेंगे, इसकी कल्पना भी नहीं की जाती।

बिल और मैं भी बच्चों से स्नेह करने के बावजूद ऐसे कई पूर्वाग्रहों के शिकार थे। इसलिए कुछ वर्षों बाद जब लेस्टरशायर, इंग्लैंड, के एक पब्लिक स्कूल में छः वर्ष के बच्चों को रसोई से खाने की मेजों तक भोजन ले जाते देखा, वह भी शिक्षकों की गिद्ध दृष्टि के बिना, तब हम हैरान रह गए। लौटकर अपने साथियों को इस अजूबे के बारे में बताया तो उनकी प्रतिक्रिया थी, “भई ब्रितानी बच्चे अलग तरह के होते होंगे। अमेरिकी बच्चों से ऐसा कुछ भी नहीं करवाया जा सकता।”

हमें यह कभी नहीं सूझा कि हमारा तिरस्कार भरा दृष्टिकोण बच्चों के सीखने सम्बंधी कई समस्याओं का कारण भी हो सकता है। दुनिया के बारे में कुछ भी सीखने के पहले हममें उसके प्रति विश्वास होना चाहिए। मन में यह आस्था भी होनी चाहिए कि दुनिया एक सुसंगत जगह है और उसका कोई अर्थ भी होता है। स्कूल में कराए गए कामों के मार्फत हम एक अर्थहीन और खंडित दुनिया बच्चों के सामने रखते हैं। ऐसी दुनिया जिसके एक क्षेत्र का दूसरे क्षेत्र के साथ कोई जुड़ाव नहीं होता। और तो और जो बच्चों के जीवनानुभवों से भी पूरी तरह कटी हुई होती है। हम अपने प्रत्येक व्यवहार से उन्हें स्वयं पर शंका करना सिखाते हैं। फिर जैसी रणनीतियाँ वे अपनाते हैं उन पर हमें आश्चर्य क्यों होना चाहिए?

अब कई लोगों ने इस सच्चाई की ओर भी इंगित कर दिया है। जब कभी किसी व्यक्ति के बारे में बुरी मान्यताएँ अपना ली जाती हैं तो वे “स्वयंसिद्ध भविष्यवाणियों” की तरह फलीभूत भी होती हैं।

कुछ लोग सोचते हैं कि बच्चों की देखभाल करने का सबसे अच्छा उपाय यह सवाल करना है कि किसी भी एक स्थिति में वे सबसे मूर्खतापूर्ण खतरनाक काम क्या कर सकते हैं। तब ऐसा व्यवहार करना, मानो वे उसे करने ही जा रहे हों। एक बार अप्रैल के महीने में मैं बॉस्टन पार्क में ताल के किनारे बैठा चैलो बजा रहा था। ताल करीब एक फुट गहरा था और उसके चारों ओर पत्थर की मुंडेर थी। मैंने डेढ़ घंटा वहाँ बिताया। उस दौरान चार माताएँ अपने नन्हे मुन्नों के साथ आईं। उनमें से सबसे छोटा बच्चा करीब तीनेक साल का रहा होगा। चारों बच्चे पानी के पास जाने को उत्सुक थे। हर माँ मानो यह माने बैठी थी कि उसका बच्चा अगर ताल के पास फटका भी तो तुरन्त उसमें गिर जाएगा। उन्होंने बच्चों को डाँटा या धमकाया तो नहीं, पर या तो वे उनके इर्द-गिर्द चक्कर लगाती हुई बच्चों और ताल के बीच एक दीवार-सी खड़ी रहीं या फिर उनका ध्यान दूसरी ओर बँटाने की कोशिश करती रहीं। ज़ाहिर था कि वे बच्चे को पानी से जितनी दूर ले जाना चाहती थीं, बच्चे उसे देखने को उतना ही मचलते थे। बच्चों की चेष्टाएँ, उनकी माताओं की “नहीं, नहीं। पानी में गिर जाओगे,” की रट के बावजूद जारी रहीं।

मजे की बात यह थी कि ये सारे बच्चे डगमगाने और धप से लुढ़क जाने की स्थिति से आगे निकल चुके थे। अगर उनकी माताएँ उनके चारों ओर दौड़कर, मँडराकर उन्हें परेशान न करतीं तो उनमें से सबसे छोटे बच्चे की भी पानी में गिरने की सम्भावना सौ में एक होती और बड़े की तो लाख में एक।

अगर माँएँ इतनी “सजग” रहें तो उन्हें ठीक वैसा व्यवहार मिलेगा जो वे नहीं चाहतीं। छोटे बच्चे शुरू में पूरी एहतियात बरतते हैं। अगर आपने कभी उन्हें सीढ़ियाँ उतरते देखा हो तो आपने पाया होगा कि वे सावधानी से विचार करते हैं कि वे सीधे नीचे उतर सकते हैं या उन्हें पलटकर घुटनों के सहारे उतरना होगा। बच्चे नई चीज़ों के प्रति उत्सुक होते हैं, आकर्षित भी, पर इसके साथ ही उन्हें अच्छी तरह पता होता है कि कौन-सा काम उनके सामर्थ्य के बाहर है। जैसे-जैसे वे बड़े

होते जाते हैं, यह निर्णय कर पाने की उनकी क्षमता भी बढ़ती जाती है। पर अत्यन्त सावधान माता-पिता के बच्चे कुछ भी नया करने से घबराते हैं या फिर उसे असावधानी से करते हैं।

ऐसे बच्चे यह सिद्ध करना चाहते हैं कि वे किसी चीज़ से नहीं डरते सो, वे उन कामों को भी करने की चेष्टा करते हैं, जिन्हें करने का जोखिम कोई भी समझदार या सावधान बच्चा नहीं उठाता। स्वयं को जबरन यों किसी खतरे के सामने ला खड़ा करने के बाद स्थिति पर काबू पाने का न तो उनमें आत्मविश्वास होता है न स्थिरता। सो वे अपना बचाव नहीं कर पाते।

सालों पहले मैं लंदन के हॉलैंड पार्क के एक बगीचे में गया था। वहाँ बच्चों के चढ़ने के लिए ढेरों पेड़ थे। उनसे रस्सियाँ लटक रही थीं। बच्चे उन पर चढ़कर लटक या झूल सकते थे। इसी तरह के तमाम दूसरे “खतरनाक” खेल भी थे। मैंने देखरेख करने वाले युवक-युवतियों से जानना चाहा कि वहाँ खेलते-खेलते कितने बच्चों को चोट लगती है। उनका उत्तर था, “जब से वयस्कों पर अन्दर आने की पाबन्दी लग गई है तब से कोई बच्चा घायल नहीं हुआ है।” जब माताएँ बच्चों के साथ आया करती थीं तो वे बराबर “यह न करना, वह न करना, अरे यह तो बड़ा खतरनाक खेल है,” आदि कहा करती थीं। बच्चे उन नसीहतों से इस कदर नाराज़ और अपमानित हो जाते थे कि उनमें “समझ क्या रखा है। ठहरो मैं भी कुछ कर दिखाता हूँ,” का भाव जग जाता था। ऐसे में वे अपने लिए कोई बेहद ऊँचा पेड़ चुन लेते या बेहद कठिन काम करने के लिए दौड़ा करते थे। खतरे के सामने स्वयं को पाकर अपनी माँ से “गिर जाओगे, अभी गिरोगे” की चिल्लाहट सुनते-सुनते वे इतना बौखला जाते थे कि वे नीचे उतरने के बदले धमाके से नीचे गिर पड़ते थे। खेल-बाग के व्यवस्थापकों ने तब बाग के बाहर वयस्कों के बैठने की व्यवस्था कर दी, जहाँ माँएँ आपस में गपशप कर सकती थीं। उनके बच्चे खेलते समय उनकी नज़रों से दूर रहते थे। प्रबन्धकों ने यह भी बताया कि इस व्यवस्था के बाद सब से बड़ी दुर्घटना जो

हुई, वह पैर में हल्की मोच आने की थी। ज़ाहिर है कि अगर बच्चों को स्वयं निर्णय लेने दिया जाए तो साहसिक कार्यों को चुनने में वे सावधानी बरतते हैं। यह तो तय था कि खेल बाग में आकर, वे कुछ न कुछ जोखिम उठाना चाहते थे। पर उन खतरनाक स्थितियों का सामना वे ठंडे व संतुलित दिमाग से करना भी जानते थे।

कुछ लोग यह मानने को तैयार ही नहीं होते। अभी उस रोज़ ही गृह शिक्षा (होम स्कूलिंग) की बैठक में एक महिला से मिला जो किसी “सेवा” संस्थान में अधिकारी थीं। वे उन लोगों में से थीं जो बच्चों की सुरक्षा करने पर आमादा रहते हैं और बच्चों को अनिवार्यतः मदद देते हैं। उनकी संस्था का काम बच्चों का संरक्षण व अनिवार्य सहायता उपलब्ध करवाना था। वे मेरे यह कहते ही बिफर पड़ीं कि बच्चों को ज़िम्मेदारियाँ और अधिकार सौंपने चाहिएँ, गम्भीर काम भी करने दिया जाना चाहिए। सबसे अधिक नाराज़ तो वे इस बात से थीं कि मैंने आगे यह भी जोड़ा था कि बच्चों को घर में अकेले भी छोड़ा जाना चाहिए। भद्र महिला का कहना था कि बच्चों में निर्णय लेने की शक्ति होती ही नहीं। अपने कथन की पुष्टि में उन्होंने अपनी बारह वर्षीय बिटिया का एक अनुभव सुनाया। सुनाते समय उनका लहज़ा बड़ा विचित्र था, अंतर्विरोध से भरा हुआ। लग रहा था, मानो वे क्रोध से नहीं, दुख से बोल रही हों। भाव कुछ यों था - “मुझे यह सब न बताना पड़ता तो बेहतर होता, फिर भी यह बताना मेरा फर्ज है।” पर साथ ही उनकी आवाज़ में लुप्त और विजयोल्लास का पुट था। मानो वह यह भी कहना चाह रही हों - “लो देखो, इस उदाहरण से ही सिद्ध हो जाएगा कि बच्चों पर कतई भरोसा नहीं किया जा सकता। उन्हें हमेशा देखरेख के लिए मेरे जैसे लोग चाहिए होते हैं क्योंकि दूसरों में मुझ जैसी योग्यता होती ही कहाँ है।”

उनकी कहानी कुछ यों थी : एक दिन खाना पकाते-पकाते ही उन्हें किसी कारणवश कहीं जाना पड़ा। उन्होंने अपनी बिटिया से स्टोव पर चढ़े भगोने का ख्याल रखने को कहा। यहाँ उन्होंने यह खुलासा नहीं

किया कि उन्होंने अपनी बेटी को स्टोव बन्द करने का भी कोई समय बताया था या केवल यही कहा था कि वे दस मिनट में लौटकर खुद स्टोव बन्द करेंगी। बहरहाल जब वे दस मिनट बाद लौटीं (बकौल उनके) तो खाना जल चुका था, पूरा घर धुएँ से भरा था, भगवान जाने और भी क्या-क्या इस बीच घट गया था। घटना का जो ब्यौरा उन्होंने दिया उस पर पूरा विश्वास करना कठिन था। दसक मिनट मन्द आँच पर कुछ चढ़ा रह जाए तो सामान्यतः पूरा घर धुएँ से भर नहीं जाता... पर खैर। “देखा आपने,” महिला ने दुख व उल्लास के मिश्रित स्वर में जोड़ा, “बेचारी बच्ची! कोशिश उसने भरसक की होगी। पर है तो आखिर बच्ची ही ना, वह सही समय पर सही निर्णय ले ही नहीं पाई।” मैं तब तक यह सीख चुका था कि कब बहस करना बेकार होता है। सो मैंने यह सवाल नहीं किया कि स्टोव बन्द करने में निर्णय लेने की कितनी ज़रूरत होती है। न ही मैंने वह कहा जो मैं उनसे कहना चाहता था, “मैडम, मुझे यह नहीं पता कि आप और आपकी बेटी आपस में कैसे खेल खेला करते हैं, या क्यों खेला करते हैं, पर मैं इतना जानता हूँ कि आपकी बेटी से आधी उम्र के बच्चे न केवल यह तय करते हैं कि खाना क्या पकेगा, बल्कि उसके लिए ज़रूरी खरीददारी भी कर लेते हैं और तब उसे पका भी लेते हैं।”

बच्चों के प्रति इस गहरे अविश्वास ने, इस धारणा ने, कि न जाने वे किस क्षण कैसी भयानक बेवकूफी या तोड़फोड़ कर डालें, प्रायः सभी पूर्व-प्राथमिक शालाओं और पालना-घरों के वातावरण को दूषित कर डाला है। इन सभी संस्थाओं के प्रबन्धक हमेशा यह सोचते हैं कि वे मुझे कोई लाजवाब वस्तु के दर्शन करवा रहे हैं। उन्हें चलाने वाली सभी भली, दयालु और चतुर युवतियों में मुझे बच्चों के प्रति एक व्यग्रता दिखाई। वे चाहे कितनी भी चेष्टा क्यों न करतीं पर वे सहज भाव और शांत मन से एक-दो बच्चों के साथ भी खेल या काम नहीं कर सकती थीं। उनकी नज़रें पूरे कमरे में हमेशा इधर-उधर भटकती रहती थीं। वे हमेशा यह जानना चाहती थीं कि कहीं कोई बच्चा गड़बड़ी तो नहीं

कर रहा है। परिणाम यह होता है कि किसी भी बच्चे को किसी भी वयस्क का पूरा ध्यान कभी मिल ही नहीं पाता। वयस्क हमेशा कनखियों से कहीं और ताकते मिलते हैं। क्योंकि वयस्क स्वयं ही अस्थिर और अधीर होते हैं, वे बच्चों को उस समय भी अस्थिर कर डालते हैं, जब वे अपना मनपसन्द काम कर रहे हों।

मैंने छोटे बच्चों की कई टोलियों को बागों में, बाल-शालाओं में, पालना-घरों में, पिकनिक पर या नाव की सवारी करने जाते देखा है। मैं जब-जब उन्हें देखता हूँ हमेशा कुछ देर उन्हें खेलते देखने के लिए थम जाता हूँ। मैं उनके साथ आए वयस्कों को भी गौर से देखता हूँ। मुझे हमेशा लगता है कि वे बच्चों के साथ होने का आनन्द नहीं ले पाते हैं, बल्कि उनमें से अधिकतर वयस्क काफी नाराज़ ही लगते हैं। वे तेज़ और कड़क आवाज़ में “सीधे खड़े रहो, चुप रहो, दौड़ो मत, गड़बड़ बंद करो, मेरे पास-पास रहो,” आदि कहते रहते हैं। और जो इतने नाराज़ या निर्भम नहीं भी लगते, वे भी खुश नहीं दिखते। वे कभी भी मेरी ओर वैसी मधुर गुपचुप नज़र नहीं डालते जैसी ममता से सराबोर माताएँ डालती हैं, जब मैं उनके बच्चों को यों सकौतुक देख रहा होता हूँ। बच्चों की टोलियों के साथ आई महिलाएँ दुर्घटना की सम्भावना से इस कदर ग्रस्त रहती हैं कि वे उन्हें खेलते देखने का आनन्द तक नहीं उठा सकतीं। ज़रा सोचिए भला कि किसी बाग में कैसी दुर्घटना हो सकती है? सड़क बाग से दूर ही होती है। सड़क और बाग के बीच किसी तरह की मेड़ या दीवार भी होती है। फिर अगर कोई बच्चा उस ओर दौड़े भी, जबकि मैंने उन्हें ऐसा करते कभी देखा नहीं है तो कोई भी वयस्क कुछ कदम दौड़ने पर ही उन्हें रोक सकता है।

मुझे तो लगता है कि किसी टोली में वयस्कों और बच्चों का अनुपात नहीं बल्कि बच्चों की कुल संख्या ही वयस्कों की व्यग्रता की सीमा को तय करती है। एक टोली में तीस बच्चों के साथ पाँच वयस्क हों और दूसरी में छह के साथ एक, तो भी हम उनकी व्यग्रता में अन्तर पाते हैं। असल में होता यह है कि तीस बच्चों के साथ आए वे पाँचों वयस्क

तीस के तीस बच्चों की फिक्र में अधमरे हो जाते हैं। यानी जितना बड़ा समूह हो उतनी अधिक चिंता वे करते हैं, चाहे वयस्कों की संख्या कितनी ही क्यों न हो।

अगर हम अपने एक कमरेवाले स्कूलों को फिर से जीवनदान दे पाते, जहाँ सभी उम्र के बच्चे एक साथ बैठ कर लेते थे, तो शायद कुशल शिक्षकों को तीस बच्चों को सँभालना इतना कठिन नहीं लगता। छोटे बच्चे तब अपने से बड़े उम्र के बच्चों से काफी कुछ सीखते। समूह के नन्हे-मुन्नों को अपने बड़े साथी, वयस्कों जैसे ही लगते। बड़े बच्चे उनकी देखभाल भी कर पाते। पर आजकल के हमारे बड़े-बड़े स्कूलों में जहाँ बच्चों की संख्या हजार से भी ऊपर होती है हमें तीस बच्चों की कक्षाएँ बेहद बड़ी लगती हैं। आवश्यकता यह नहीं है कि हर कक्षा में बच्चों की संख्या कम की जाए, बल्कि आवश्यकता यह है कि स्कूल छोटे किए जाएँ।

□ अप्रैल 24, 1959

रणनीति दरअसल चरित्र की ही अपवृद्धि होती है। बच्चे रणनीतियों का चुनाव अपनी भावनाओं के कारण करते हैं। वे अपनी रणनीतियाँ इसलिए चुनते हैं क्योंकि दुनिया की उनसे कुछ खास अपेक्षाएँ होती हैं। चुनाव का आधार होता है बच्चों का आत्म-मूल्यांकन, कक्षा में उनका मूल्यांकन, और उनसे की जानेवाली अपेक्षाएँ। रेशल कक्षा को एक ऐसी जगह मानती है जहाँ उससे कुछ काम करने को कहा जाता है। अगर वह उस काम को ठीक से और सही-सही कर लेती है तो उसकी तारीफ होती है और गलत करने पर डाँट पड़ती है। ऐसे में हम कितना ही क्यों न चाहें, वह गलत रणनीतियाँ ही चुनेगी। अगर उसे हल करने के लिए मैं ऐसे सवाल भी दूँ, जिन्हें करने के पहले उसे सोचना पड़े, वह सोचे भी और तब उन्हें हल भी कर ले (जो बिरले ही होता होगा) तो भी वह अपनी रणनीति को एक तरह की उत्पादन-रणनीति का ही रूप देगी। वह अपने आप से कहेगी, और मुझे तो लगता है वह सच में यही कहती होगी कि यह कक्षा

तो है ही एक पागलखाना और सामने खड़ा वह औंधी खोपड़ीवाला इन्सान मुझे हमेशा अजीब से सवाल और पहेलियाँ देता रहता है। अपने जीवन में वह समस्याओं पर सोचकर हल करने वाला रास्ता नहीं अपना सकेगी। उसका पहला सरोकार हमेशा आत्मरक्षा ही होगा।

अच्छे, प्रखर और मेधावी बच्चों में एक बात तो हम देख ही पाते हैं। वह यह कि उनको जीवन से गहरा लगाव होता है। रेशल, पैट, इलेन, गैरी सपनों में खोए हुए रहते हैं। पर बारबरा, बैटी, मरिया, रैल्फ और हेल जीवन से दूर नहीं जाते, उससे शिक्षकते नहीं, उसका आलिंगन करते हैं। एक बार हमने सीखने के साथ प्रेम-सम्बन्ध की बात की थी। लगता है इन बच्चों का जीवन के साथ प्रेम-सम्बन्ध है। ज़रा उस उत्साह की कल्पना तो कीजिए जिसके साथ बैटी, बारबरा या सैम अपने बारे में कोई मामूली से मामूली किस्सा सुनाते हैं।

मेधावी बच्चों का व्यवहार यह जताता है कि सृष्टि का कोई अर्थ है। वे अपने उत्तर जाँचते हैं, अपने विचारों को सामान्य बुद्धि से तौलते हैं। पर दूसरे बच्चे तो उत्तर में अर्थ की अपेक्षा ही नहीं रखते, जाँचने में सार्थकता ही नहीं देखते, कैसे जाँचें यह भी नहीं जानते। पर अन्तर शायद इससे भी गहरा हो। ऐसा लगता है, मानो उन बच्चों को, जिन्हें हम तेज़ या मेधावी कहते हैं, लगता है कि सृष्टि पर विश्वास किया जा सकता है। फिर उसका अर्थ फिलहाल समझ आ रहा हो या नहीं। इतना तो तय है कि वह उनको चकमा नहीं देगी। आइंस्टाइन के इस मत से कि “मुझे नहीं लगता कि ईश्वर सृष्टि के साथ पाँसा खेलता है,” बच्चों की भावना कितनी निकट है।

जुलाई 1958 के साइंटिफिक अमेरिकन के पृष्ठ 54 पर “रचनात्मकता का रूप” नामक लेख में निम्नलिखित तुलना छपी है :

रचनाशील वैज्ञानिक, समस्या का विश्लेषण बड़े ध्यान से व धीरे-धीरे करते हैं। पर इसके बाद समाधान की ओर तेज़ गति से बढ़ते हैं। पर जो व्यक्ति रचनात्मक नहीं होता वह शीघ्र उत्तर पाने के अव्यवस्थित प्रयासों में ही उलझा रह जाता है।

कितना सच है! न जाने कितनी बार हमने उत्तर पकड़ने दौड़नेवालों को परेशानी में उलझते देखा है। तथ्य तो यह है कि समस्याएँ और उत्तर एक ही सम्बंध को देखने के अलग-अलग नज़रिए हैं। समस्या एक ऐसा चित्र है जिसका एक हिस्सा गायब हो। जो बच्चे सवाल को समझने, उस पर अपनी पकड़ मज़बूत करने में समय लेते हैं, वे जल्दी ही यह भी जान लेते हैं कि उत्तर भी वहीं है। पर जो बच्चे हरेक सवाल को एक ऐसी दौड़ की शुरूआत के रूप में देखते हैं, जिसका प्रारम्भ तो उन्हें पता है पर दिशा व गन्तव्य नहीं, वे हमेशा परेशानी में फँस जाते हैं। वे सवाल समझने के पहले ही उत्तर की ओर दौड़ते हैं। उन्हें जल्दी आखिर किस बात की होती है?

उत्तर पकड़नेवाली इलेन और सोचनेवाली बारबरा - दोनों एक सवाल कर रहे हैं $3/4 + 2/5 = ?$

इलेन (ऊपर व नीचे की संख्याओं को जोड़ते हुए) : $5/9$ क्यों नहीं?

बारबरा : पर $5/9$ तो $3/4$ से कम है। उसने तुरन्त यह समझ लिया कि $3/4$ में $2/5$ जोड़ा जाए तो उत्तर $3/4$ से अधिक होना चाहिए, कम नहीं। पर उसका जवाब इलेन के सिर के ऊपर से निकल गया।

इलेन : $3/4$ कहाँ है?

बारबरा : सवाल में ही तो।

मुझे शंका है कि तरह-तरह से समझाने पर भी इलेन वह बात समझ पाती जो बारबरा कह रही थी। फिर बारबरा की तरह सोचने का तो सवाल ही नहीं था।

कमज़ोर विचारक तत्काल उत्तर की ओर दौड़ता है। पर सोचनेवाले बच्चे समय लेते हैं। सवाल पर विचार करते हैं। क्या यह अन्तर केवल सोचने के कौशल के होने या न होने के कारण है? एक ऐसा कौशल जो केवल एक तकनीक है और जिसे, अगर भाग्य ने साथ दिया तो, हम बुद्धि से बच्चों को सिखा सकते हैं? क्या बच्चों को इस कौशल में प्रशिक्षित कर सकते हैं? मुझे भय है कि ऐसा नहीं है। अच्छा विचारक सोचने में समय

इसलिए लगा सकता है क्योंकि वह अनिश्चय को सह सकता है। वह इस बात को भी झेल सकता है कि वह कोई चीज़ नहीं जानता। पर कमज़ोर विचारक को कुछ न जानने की कल्पना ही असहनीय लगती है।

क्या इस पूरे विश्लेषण से हम यह नहीं पाते कि असल में इन बच्चों में “गलत” होने का भय बैठा होता है। बेशक यही भय है जो मॉनिका जैसे बच्चों पर भयानक दबाव डालता है। ठीक ऐसे ही दबाव हेल भी महसूस करता है। शायद मैं भी। मॉनिका अकेली नहीं है जो सही होना चाहती है, और गलत होने से डरती है। पर यहाँ शायद एक दूसरी असुरक्षा की भावना भी काम करती होती है। यह असुरक्षा पैदा होती है सवाल के लिए कोई भी जवाब नहीं होने से। मॉनिका सही उत्तर तो चाहती है पर उससे भी कहीं अधिक चाहना है किसी भी कामचलाऊ उत्तर की। फिर चाहे वह कैसा भी क्यों न हो। उसे पाते ही उस पर से दबाव का एक बड़ा बोझ गायब हो जाता है। रेशल भी पहले ऐसी ही थी, जेरल्ड भी व दूसरे कई और बच्चे भी। वे ऐसे किसी सवाल का सामना नहीं कर पाते जिसका कोई भी उत्तर उनके पास न हो। सो वे कोई भी उत्तर पकड़ते हैं, चाहे उन्हें यही क्यों न लगे कि उनका हल गलत है। बदहवासी के साथ निश्चितता को ढूँढ़ना, अनुत्तरित प्रश्नों को या समाधान-विहीन समस्या को न सहन कर पाना ही बौद्धिक समस्या की जड़ है। पर ऐसा होता क्योंकर है?

कुछ लोग कह सकते हैं कि यह मनोवैज्ञानिक मुद्दा है। पर मुझे इसमें शंका है। कोई व्यक्ति व्यक्तिगत मानवीय सम्बंधों में आशंकित होते हुए भी बौद्धिक आत्मविश्वास से भरा हो सकता है। या ऐसा होने की सम्भावना है भी? अगर हाँ, तो क्या हम यह स्कूलों में सिखा सकते हैं?

□ जून 16, 1959

साल-भर पहले मेरे मन में यह सवाल मँडराया करता था कि बच्चों में समाया डर उनकी स्कूली रणनीति को किस तरह प्रभावित करता होगा।

इस वर्ष के काम ने मुझे सवाल का उत्तर दिया है। सहमे और डरे हुए बच्चों की रणनीतियाँ हमेशा ही आत्मकेन्द्रित और आत्मरक्षात्मक होती हैं। उनका लक्ष्य होता है हर सम्भव खतरे, हर प्रकार की लज्जा, व सज़ा, हर तरह की निंदा से और कक्षा में अपने स्तंभ को खोने से बचना। यह बात खासकर उन बच्चों पर लागू होती है जिन्हें स्कूल में परेशानियों का सामना करना पड़ा हो। जब कभी उन्हें हल करने के लिए कोई सवाल, कोई समस्या दी जाती है तो मैं उनके मन में उभरते विचारों को उनके चेहरों पर साफ-साफ पढ़ सकता हूँ। बल्कि यह कहें कि उन्हें सुन तक सकता हूँ। “मैं क्या यह सवाल कर सकूँगा? शायद नहीं, पर गलती हुई तो क्या होगा? कहीं इस साल मुझे फेल कर इस क्लास में ही न रोक लें। आखिर मैं इस कदर बुद्ध क्यों हूँ?” आदि।

ऐसे पीरियड में भी, जहाँ मैंने काम को भय मुक्त बनाने का हर सम्भव प्रयास किया था, मैं हर बार बच्चों को अपनी बाज़ियाँ लगाने के पहले अपने-आप को सुरक्षित करते, सम्भावित घाटों से पहले से बचने की कोशिश करते पा दुखी और आश्चर्यचकित रह जाता था। उन्हें यही कोशिश करते पाता था कि हर हालत में वे यही अहसास कर पाएँ कि वे सही थे। और ईश्वर न करे, अगर गलती हो भी जाए तो कम से कम दूसरों से ज़्यादा तो न हो। “लगता है यह करने पर शायद संतुलन आ सकेगा,” वे सब मानों बीच डाली पर बैठे रहते थे और दोनों में से किसी ओर होना नहीं चाहते थे। और यह सब दस वर्ष की उम्र में? बीस सवाल जैसे खेल को भी वे खेल का आनन्द उठाने के लिए नहीं खेल पाते थे। वहाँ भी उनका पहला सरोकार एक “उत्तम छवि” प्रस्तुत करने का ही होता था, ताकि देखनेवालों को यही लगे कि वे जो कुछ कर रहे हैं उसे समझ भी रहे हैं। चाहे सच्चाई ठीक इसके उल्टी ही क्यों न हो।

ऐसी सभी सीमित करनेवाली और अन्ततः स्वयं को परास्त करनेवाली रणनीतियाँ भय से ही तो जन्मती हैं। मैं कई सालों से यह सवाल उठाता रहा हूँ कि हमारे स्कूलों में प्रखर और मेधावी बच्चे भी ऐसा व्यवहार क्यों करते हैं? प्रश्न का जवाब सीधा-सा है, “क्योंकि वे डरते हैं।” एक

समय था जब मुझे यह लगा करता था कि उनकी रणनीतियों का सम्बंध उनके खराब काम से है। सो मैं समझता था कि मैं उनके हौसले बुलन्द कर सकता हूँ। उनमें आत्मविश्वास जगा सकता हूँ। उन्हें विश्वास दिला सकता हूँ कि वे किसी भी काम को करने लायक हैं। पर अब मैं पहली बार अपनी आँखों से उस प्रक्रिया को देख पा रहा हूँ, जिससे भय मेधा का खात्मा करता है। वह तो बच्चे के दृष्टिकोण को, जीवन के प्रति उसके सोच को, जीवन से जुझने के तौर-तरीकों को प्रभावित करता है। इसका अर्थ हुआ कि हमारे सामने एक नहीं, बल्कि दो समस्याएँ हैं। एक तो यह कि बच्चों को भयभीत होने से कैसे रोका जाए। दूसरी यह कि सोचने की उन गलत आदतों को कैसे तोड़ा जाए जो भय से पनपती हैं।

स्कूल में डर किस कदर व्यापा होता है यह जानकर आश्चर्य ही होता है। फिर इसकी चर्चा इतनी कम क्यों होती है? मुझे तो लगता है कि बच्चों में भय देखकर भी हम उसे पहचानते नहीं हैं। सम्भव है लोग केवल भय के स्थूल रूप को ही पहचानते हों, जैसे कोई नन्हा-सा बच्चा रोता-बिलखता अपनी माँ से लिपटे चला जा रहा है। पर उनके उस सूक्ष्म रूप को, जिसमें बच्चों के चेहरे पर, उनकी आवाज़ों व भाव-भंगिमाओं में, लिखा पढ़ पाता हूँ, उसे लोग नहीं पहचानते। पर ये चेहरे, ये आवाज़ें, ये भाव-भंगिमाएँ मुझे बताती हैं कि अधिकतर बच्चे स्कूलों में अधिकांश समय भयभीत ही रहते हैं। और कुछ तो बेहद डरे हुए रहते हैं। पर ये अच्छे सैनिकों की तरह अपने भय को काबू में रखते हैं, उनके साथ जीना सीख लेते हैं, उनसे समझौता कर लेते हैं। पर मुश्किल तो यह है कि लड़ाई के मैदान में और स्कूल में एक बुनियादी अन्तर है। वह इस बात में है कि भय के साथ किया हरेक समझौता बच्चे के लिए हानिकारक होता है। वह उसकी मेधा को, उसकी क्षमताओं को नष्ट करता है। एक भयभीत योद्धा शायद एक बेहतरीन सैनिक सिद्ध हो सकता है, पर एक सहमा हुआ शिक्षार्थी हमेशा एक खराब शिक्षार्थी ही होता है।

जब बिल व मैंने साथ-साथ काम करना शुरू किया था, तब उसने एक बार मुझसे कहा, “अपनी कक्षा के लिए हम दोनों में विनिमय हो

सकना चाहिए।" कहने का तात्पर्य यह था कि हम बिल हल या जॉन होल्ट न रहकर कोई एक ऐसे शिक्षक की तरह पेश आएँ जिसकी भूमिका हम आपसी सहमति से तय कर चुके हों। पर कुछ ही समय में हमें यह पता चल गया कि ऐसा असम्भव है। हम दोनों ही भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे। जितना अन्तर हम दोनों अपने में पहचानते या स्वीकार करते थे, उससे कहीं अधिक अन्तर हम में था। एक व्यक्ति होने का स्वाँग करना हमारे लिए सम्भव नहीं था। ऐसी समरूपता जाहिर करने का अर्थ होता कि हम यही नाटक करें कि हम कोई हैं ही नहीं।

जब कभी कोई व्यक्ति कुछ नहीं होने का स्वाँग करता है तो यह एक डरावनी बात होती है। मुझे मेरे दोस्त ने अपनी चार वर्षीय बेटियाँ के बारे में एक कहानी सुनाई थी जिसे मैं अक्सर याद करता हूँ। साप्ताहिक छुट्टी के दिनों में उनके घर का नियम यह था कि अगर बच्चे जल्दी उठना चाहें तो उठ सकते थे पर जब तक माँ नहीं उठ जाती, शोर करने पर पूरी पाबन्दी थी। किसी एक रविवार को माँ बेहद थकी होने के कारण बड़ी देर तक सोती रही। कुछ समय तक तो उनकी नन्हीं बेटियाँ "अच्छी बच्ची" बनी रही, पर जैसे-जैसे समय गुजरता गया उसे माँ की ज़रूरत होने लगी। तब वह "भूल" से छोटी-मोटी आवाज़ें करने लगी। कभी उसके हाथ से खिलौना छूट जाता तो कभी दराज़ ही ज़ोर से बन्द हो जाती। खटर-पटर से माँ जाग तो गई पर उसके विद्रोही मन ने सोचा कि अगर वह कुछ और मकरा मारे बिस्तर पर पड़ी रहेगी, तो शायद बच्ची से पिंड छूट जाएगा। सो वे सोने का नाटक करती हुई बिस्तर में ही दुबकी रहीं।

अन्ततः बच्ची के लिए स्थिति असहनीय हो गई। वह माँ के बिस्तर के पास आई। अपनी तर्जनी और अँगूठे से धीमे-से माँ की एक आँख खोली और उसमें झाँककर धीमे-से पूछा, "तुम अन्दर हो ना?"

बच्चे जब हमारी आँखों में झाँकते हैं तो वे सच में यह जानना चाहते हैं कि हम वहाँ अन्दर हैं। अगर हम उन्हें झाँकने ही न दें, या झाँकने पर बच्चे अन्दर किसी को पाएँ ही नहीं तो वे चौंक जाते हैं। सहम

जाते हैं। अगर बच्चे ऐसे वयस्कों को अपने आसपास पाते हैं, तो आसपास की दुनिया के बारे में कुछ नहीं सीख पाते। वे अपना सारा समय, सारी ऊर्जा इन वयस्कों को बूझने में ही लगाते हैं। वे तो यही सोचते रह जाते हैं कि वे वयस्क आगे भला क्या करेंगे?

यहाँ एक विरोधाभास है। कई वयस्क, जो स्वयं को एक आदर्श "शिक्षक" की छवि के पीछे छुपा लेते हैं, यह कह सकते हैं कि मैं ऐसा इसलिए करता हूँ ताकि, बच्चों को मुझे समझने में, मेरे बारे में अनुमान लगाने में कठिनाई न हो। वे कह सकते हैं, "मेरा असली रूप सनकी और तुनकमिजाज है। मेरा पारा कभी ऊपर चढ़ता है, तो कभी नीचे उतरता है। बच्चों के लिए मेरा हमेशा बदलते रहनेवाला रूप समझना मुश्किल होगा। यही कारण है कि मैंने अपने लिए एक ऐसा व्यक्तित्व ईजाद कर लिया है जो हमेशा नियमों का पालन करता है, जिसके बारे में हमेशा अन्दाज़ लगाया जा सकता है।" पर ऐसे नकली व्यक्तित्व का असर असल में उल्टा होता है। दुर्भाग्य से कुछ बच्चों के माता-पिता भी हमेशा आदर्श माता-पिता होने का स्वाँग कर सकते हैं (जो कि सम्भवतः आज ज़ोर पकड़ रहा है)। लेकिन बाकी बच्चे असली लोगों के आदी होते हैं। ऐसे लोगों के जो सनकी हों, कभी खुशमिजाज हों, तो कभी चिड़चिड़ाएँ। बच्चों में पैनी दृष्टि होती है, पैनी बुद्धि भी, वे जल्दी ही इन विचित्र विशाल जन्तुओं के सभी गड़ड़-मड़ड़ इंगितों को पढ़कर उनके मिजाज का अनुमान लगाना सीख लेते हैं। वे ऊबड़-खाबड़ भावनात्मक भूमि को भी पहचान लेते हैं, जहाँ वयस्क रहते हैं। शायद उतनी ही अच्छी तरह, जितनी अच्छी तरह वे अपना कमरा, अपना घर-आँगन और मुहल्ले को पहचानते हैं। पर किसी नकली इन्सान से जूझना, जिसने स्वयं को एक मशीन में बदल डाला हो, उनके लिए कठिन होता है। यह बच्चों के लिए घने कोहरे में राह टटोलने के बराबर होता है या फिर मानो वे अंधे हों। उनके सामने कोई मैदान हो, पर उसे वे देख ही न पाएँ।

साल के अन्त में जब बच्चों से मेरी अच्छी दोस्ती हो गई, तो उनमें से एक ने मुझे बताया कि वह हमेशा यह अन्दाज़ लगा पाती थी कि

मैं कब आपा खोनेवाला हूँ। मैंने जानना चाहा कि वह अन्दाज़ कैसे लगा पाती थी। उसने कुछ सोचते हुए जवाब दिया, “जब आपका माथा नारंगी होने लगता, तब मैं समझ जाती थी कि आप नाराज़ होनेवाले हैं।” “नारंगी,” मैंने मन में सोचा। तब मुझे याद आया कि जब मैं और मेरी बहन इतने ही बड़े थे, तब हम भी हमेशा यह भाँप लेते थे कि हमारी माँ कब नाराज़ है। माँ हमेशा काला चश्मा पहने रहती थी, पर हमें उसकी आँखों में झाँकने तक की ज़रूरत नहीं पड़ती थी। हम भी उसके माथे को देखकर समझ लेते थे कि वह नाराज़ है। उसकी चमड़ी का रंग नहीं बदलता था, पर माथे पर तनाव व खिंचाव की रेखाएँ उभर आती थीं। हम फौरन चेत जाते थे। जिस समय मैं पाँचवीं कक्षा के इन बच्चों को पढ़ाने लगा था, उस समय तक मैं गंजा हो चला था। मेरी चमड़ी बेहद पतली थी और धूप तक से जल जाया करती थी। बच्चों की तेज़ निगाहों ने, जल्दी ही नाराज़ होने पर उसमें आनेवाले अन्तर को पकड़ना तक सीख लिया था।

बच्चे ऐसे सूक्ष्म मानवीय इंगितों को बखूबी ढूँढ़ और पढ़ पाते हैं। शायद हमारे नियमों की समझ से कहीं बेहतर इन इंगितों की समझ उनमें होती है। और सच तो यह है कि हम भी कब पूरे समय अपने नियमों का पालन करते हैं।

मैं बाद में जिस पाँचवीं कक्षा को पढ़ाया करता था, उसमें जब भी शोर मेरे सह पाने की सीमा को लाँघने लगता, तो कोई न कोई बच्चा ज़रूर यह चेतावनी देता, “देख लो, Q बोर्ड पर आने ही वाला है।” Q, मेरी ओर से कक्षा में पूर्ण शांति की मांग हुआ करती थी (देखें पृष्ठ....)। इस अनुमान में शायद ही कभी गलती हुई हो। जब कभी वे यह कहते थे, मैं अपनी हँसी रोक नहीं पाता था। कितने तेज़-नरार थे ये नन्हे शैतान! पर साथ ही मेरे बिना कहे ही वे यह भी भाँप लेते थे कि मैं कब थका हूँ, चिन्तित हूँ या अनमना हूँ। और ऐसे में वे डर से नहीं, बल्कि मेरे प्रति सरोकार के कारण हमेशा से कहीं अधिक शांत रहते। अपनी माँगों को सीमित करने की चेष्टा करते।

□ अगस्त 12, 1959

आज सुबह एस्प्लेनेड में बच्चों के वाद्यवृंद का कार्यक्रम खत्म होने के पहले मेरी नज़र मुझसे करीब चालीस फीट की दूरी पर बैठी एक बच्ची पर पड़ी। उसके साथ उसकी आकर्षक माँ थी और एक दूसरी महिला भी। बच्ची की उम्र शायद तेरह साल की रही हो, पर ठीक-ठीक कहना मुश्किल था। वह एक सैंडविच खा रही थी और आधे लीटर के डिब्बे से दूध पी रही थी। वह बहुत धीमे-धीमे, बड़े एहतियात के साथ सैंडविच को मुँह के पास लाती, उसका टुकड़ा काटती, तब गोद में वापस रख लेती। इसके बाद वह उतनी ही सावधानी से दूध का डिब्बा उठाती, पाइप मुँह में लेकर एक घूँट भरती। जिस सावधानी से वह डिब्बे को उठा और रख रही थी, उससे लगता था मानो डिब्बे में दूध नहीं कोई तरल विस्फोटक ही भरा हो। वह बार-बार अपनी माँ को भी थोड़ी-थोड़ी देर के लिए देखती जा रही थी। पर माँ उस दूसरी महिला से गपशप में इतनी मशगूल थी कि बच्ची की ओर कोई ध्यान नहीं दे रही थी। मुझे लगा कि वह बच्ची माँ की ओर केवल यह आश्वासन पाने के लिए ही ताक रही थी कि वह सब कुछ ठीक-ठाक कर रही है या नहीं।

वह पहली बात जिस पर मेरा ध्यान अटका, अक्सर मानसिक रूप से पिछड़े बच्चों में पाई जाती है। उसका चेहरा असाधारण रूप से कुरूप था। आश्चर्य यह था कि उसके नैन-नक्श में कोई कमी नहीं थी, केवल होंठ ही उसकी बीमारी के कारण लटके हुए थे, अन्यथा सब सामान्य था। हाँ, उसकी त्वचा में एक तरह का अस्वस्थ पीलापन ज़रूर था।

मेरा मन उस बच्ची और उसकी माँ के लिए कण्ठा से भर उठा। मैं सकते में आ गया। मैं बग़ैर यह जताए कि मैं उन्हें देख रहा हूँ, देखता रहा। बच्ची अपने सैंडविच और दूध में इतनी उलझी थी कि उसने मेरे घूरने तक पर गौर नहीं किया। कुछ देर में कुछ रोचक घटा। वादक अपनी अंतिम धुन के आखिरी स्वर बजा रहे थे। ज़ाहिर था कि बच्ची उस धुन

से परिचित नहीं थी। फिर भी उसने हाथ तालियाँ बजाने की तैयारी में ऊपर उठा लिए। कुछ क्षण में संगीत शेष हुआ, दूसरों ने तालियाँ बजाई, उस बच्ची ने भी यही किया। कार्यक्रम समाप्त हुआ।

वाद्यवृन्द के निर्देशक ने औपचारिकता निभाते हुए कहा, “आप सबके आने की हमें हार्दिक प्रसन्नता है। आशा है अगले वर्ष भी आप सब अवश्य पधारेंगे.....” इस पर उस लड़की ने बड़ी कठिनाई से अपना हाथ उठाया और विदा लेने के लिए उसे हिलाने लगी। उसके चेहरे के वीभत्स भाव में कोई बदलाव नहीं आया था। मुझे लगा मानो वह कोई कर्मकांड ही निभा रही हो। उसका हाथ इसलिए नहीं हिल रहा था कि वह संगीतज्ञों से विदा ले रही थी, बल्कि इसलिए कि उसे ऐसा करने के लिए प्रशिक्षित किया गया था।

बच्ची की माँ और उसकी सहेली अभी भी खाते और बतियाते जा रहे थे। मैं कुछ दूर पेड़ों की छाया में सरक गया, जहाँ से मैं उनकी नज़र से दूर होते हुए भी उन्हें देख सकता था। तब अपने मित्र के साथ कुछ दिन पहले का वार्तालाप मुझे याद हो आया। हम चर्चा कर रहे थे कि शारीरिक या मानसिक रूप से विकलांग बच्चों की जन्मते ही हत्या कर देना उचित है या नहीं। उसने कहा था कि अगर उसके घर ऐसा कोई बच्चा हुआ तो वह बच्चे को तकिए पर औंधा करके लिटा देगा, ताकि बच्चे की मृत्यु एक दुर्घटना नज़र आए। इस पर मैंने जानना चाहा था कि उसकी पत्नी भी क्या इसमें उसका साथ दे सकेगी? हम दोनों सहमत हुए थे कि कोई माँ शायद ऐसा कभी भी कर नहीं सकेगी।

यह बात हमारे अबोध और अज्ञान से जन्मी थी। आज हम जानते हैं कि हज़ारों माताएँ अपने नैराश्य, अपनी कुंठा और दुख से इससे भी भयानक कहर अपने उन बच्चों पर ढाती हैं जो किसी भी तरह से विकृत नहीं होते।

पर मेरे मित्र को फिर भी यह लगता था कि ऐसे बच्चों को जीवित रखना, माँ और बच्चे, दोनों के लिए ही भयानक त्रास होगा। ऐसे बच्चे के लिए जीवित न रहना ही बेहतर होगा।

यह वार्तालाप मेरे दिमाग में कुछ यों उथल-पुथल मचाने लगा कि मैं कुछ समय के लिए मानसिक रूप से पिछड़ी हुई बच्ची को भूल गया। पर कुछ देर बाद मन ने सवाल किया कि आखिर वह बच्ची इतनी वीभत्स क्यों लग रही है? जो बच्चे मानसिक रूप से विकलांग होते हैं, उनमें क्या होता है जो उन्हें इतना भयावह बनाता है? जिन गुणों को हम सामान्य मानवीय गुण मानते हैं, क्या उनका न होना ही उन्हें ऐसा बनाता है? तब दिमाग ने एक कथन रचा, “जब हम किसी ऐसे व्यक्ति को देखते हैं जो मनुष्य से कमतर हो, तभी हम समझ पाते हैं कि मानव होने का क्या अर्थ है।”

पर मन ने तत्काल आपत्ति की, जानवर तो मानव नहीं होते, फिर उन्हें हम ऐसा वीभत्स क्यों नहीं पाते? तब मुझे लगा कि मैं उस चीज़ को पहचान रहा हूँ जो उस बच्ची को इतना कुरूप बनाए दे रही है। और अगर यही बात किसी जानवर में मिले, तो शायद हमें वह जानवर भी उतना ही वीभत्स लगे। आपने क्या कभी एक ऐसे कुत्ते को देखा है, जो हमेशा डरा और सहमा रहे? डर के मारे उसकी पूँछ उसकी पिछली टाँगों में ही दबी हो और वह मुड़-मुड़कर पीछे की ओर देखता हो। हरेक छोटे-से खटके और आहट से चौंक-चौंक उठता हो। ऐसे कुत्ते को देखना भी भयानक लगता है। वह बच्ची इसलिए वीभत्स लग रही थी, क्योंकि न केवल वह पूरी तरह से मानव नहीं थी, बल्कि इसलिए भी कि वह पूरी तरह से जानवर भी नहीं थी।

अब मैं पहले से कहीं बड़ी संख्या में मानसिक रूप से “पिछड़े” बच्चों और वयस्कों को देख चुका हूँ। मैंने उनमें से हरेक चेहरे पर वही वीभत्स भाव पाया है जिसमें लज्जा, आशंका और भय का पुट हो।

जब हम किसी बच्चे को इस संदर्भ में पिछड़ा कहते हैं तो हमारा आशय क्या होता है? यही न कि वे बौद्धिक और भावनात्मक रूप से अपनी उम्र से कहीं छोटे बच्चों के समान होते हैं। पर छोटे बच्चों को पास बैठे कुछ सुनते, या ऊधम मचाते, या सपनों में खोए कुछ सोचते, या खेलते-कूदते, या किसी से छेड़-छाड़ करते एक नज़र देखते ही यह समझ में आ जाता

है कि वह तेरह वर्षीय बच्ची - जो मानसिक रूप से कुल छः या सात ही वर्ष की होगी - किसी भी हालत में छः वर्ष की बच्ची या तीन वर्ष की नहीं की तरह नहीं थी।

काफी देर बाद बच्ची की माँ और उनकी सहेली उठीं। उन्होंने अपने आसन तह किए और तब वे सब दूसरी दिशा में बढ़ चलीं। जब वे खाली मंच के पास से गुज़रीं तो बच्ची ने एक बार फिर अपना हाथ झटके से विदा के भाव में ऊपर उठाया। बच्ची की माँ ने तुरन्त ही उसका हाथ धीमे से नीचे कर दिया, कुछ इस तरह जिससे बच्ची को टोकने का बुरा न लगे। वे तब बच्ची का हाथ थामे-थामे ही आगे बढ़ने लगीं। मुझे लगा कि माँ ने बच्ची का हाथ इसलिए नीचे किया, क्योंकि उन्हें खाली मंच की ओर हाथ हिलाना अनुचित लगा होगा। पर यही अगर कोई छोटा बच्चा करता तो उसे ज़रूर प्यार से थपथपाया जाता, या उसकी इस अदा पर लोग रीझकर उसकी तारीफ करते।

हम यह कह सकते हैं कि पिछड़े बच्चे असल में वे बच्चे हैं जो किसी न किसी कारण से वे बातें देर से सीख पाते हैं, जो-जो हम वयस्कों को उनकी उम्र के लिए उचित व्यवहार लगता है। ऐसे बच्चों का घरेलू जीवन कैसा होता होगा? मेरे मानस में इस बच्ची के घरेलू जीवन की एक छवि है। मैं उसे सैकड़ों-हज़ारों बार ऐसा कुछ करता देखता हूँ जो किसी भी हालत में बुरा या गलत काम नहीं कहला सकता। वह केवल उसकी उम्र के हिसाब से अनुचित या अनावश्यक भर है। फिर भी उसे धीमे से कुछ दुख के साथ बताया जाता है कि उसे वह नहीं करना चाहिए। सोचता हूँ कि उसका दिमाग कितना गड़ड़-मड़ड़ रहता होगा। क्योंकि इन बच्चों के लिए ज़रूरी चीज़ों को करना या न करना सीखना ही अपने आप में एक कठिन काम होता है। यह मत छुओ, सड़क पर मत दौड़ो, दवा की अलमारी मत खोलो आदि-आदि। इस अनन्त सूची में अगर यह भी जोड़ दिया जाए कि कुछ काम उसे केवल इसलिए नहीं करने चाहिएँ, "क्योंकि वह उनके लिए बड़ा हो चुका है"। तब इन बच्चों की तार्किक शक्ति और दुनिया के नियमों पर आस्था ध्वस्त ही हो जाती होगी।

मैं कहना चाहता हूँ कि मानसिक रूप से अपंग या "पिछड़े" बच्चे पैदा नहीं होते। वे बनाए जाते हैं। पर यह बच्ची सचमुच पिछड़ी हुई थी। अब मेरा पक्का विश्वास है कि तथाकथित पिछड़े बच्चे सच में उस हाल में जन्मते नहीं हैं - उन्हें बाकायदा ऐसा बनाया जाता है। इसकी प्रक्रिया कुछ यों होती है : सबसे पहले तो अगर कोई बच्चा विकास के परिचित और सामान्य रास्तों पर न बढ़े या समयानुसार विकसित होता न दिखे तो उसका "निदान" किया जाता है। यानी उस पर त्रुटिपूर्ण होने का बिल्ला चिपकाया जाता है। तब उसके साथ ऐसा व्यवहार किया जाता है मानो उसमें कुछ कमियाँ हों, और यह व्यवहार होता है उसकी देखभाल, इलाज या उपचार के नाम पर। तीसरे चरण में बच्चा स्वयं को त्रुटिपूर्ण मानने लगता है। वह धीमे-धीमे ठीक वही रूप धरने लगता है, जो विशेषज्ञों के अनुसार उसका रूप है।

वर्षों पहले मैं पश्चिमी न्यू यॉर्क की एक सरकारी प्राथमिक शाला की अद्भुत शिक्षिका से मिला था। उसकी कक्षा में एक ऐसे बच्चे को भेजा गया, जिसे मानसिक रूप से पिछड़ा करार दिया गया था। बच्चे को भेजा इसलिए गया, क्योंकि उसके लिए कोई और जगह थी ही नहीं। बच्चा उपेक्षित, कमज़ोर और गन्दा था। उसके कपड़े तक मैले-कुचैले थे और वह भय और लज्जा से भरा हुआ था। शिक्षिका ने सबसे पहले उसकी शारीरिक ज़रूरतों को पूरा करने के उपाय ढूँढ़े, और तब वह सब भी दिया जिसकी उसे खास तौर पर ज़रूरत थी - ध्यान, शारीरिक स्पर्श और मानसिक संबल। इस व्यवहार से, जैसा अक्सर ही होता है, यह बच्चा भी, जिसके पास किसी भी तरह की स्कूली दक्षता या कौशल न थे, एक ही वर्ष में पाँच वर्षों का काम कर सका। और तब वह अपनी कक्षा के दूसरे बच्चों के स्तर पर आ गया।

इस पर वह शिक्षिका बच्चों की प्रगति का लेखा-जोखा रखनेवालों के पास गई, ताकि वह बच्चे पर चस्पाँ "पिछड़ेपन" का बिल्ला हटवा सके। शिक्षिका ने उसके मेधावी और प्रखर होने का प्रमाण प्रस्तुत किया। बताया कि बच्चे ने पाँच वर्षों का काम एक वर्ष में ही कर डाला है,

जो उसके मेधावी और प्रखर होने का सबूत है। शिक्षिका ने सोचा था कि विशेषज्ञ खुश होकर कहेंगे, “वाह बहुत खूब! यह बच्चा तो पिछड़ा नहीं है। यह तो तेज़ है। हमें यह जानकर प्रसन्नता है। हम उसका रिकॉर्ड तत्काल बदल देते हैं।” पर ऐसा कुछ नहीं हुआ। विशेषज्ञों की प्रतिक्रिया बच्चे की सहायता और रक्षा की नहीं दिखी। उन्होंने भरसक उन विशेषज्ञों की राय की रखवाली करने की कोशिश की, जिन्होंने बच्चे को पिछड़ा करार दिया था। वे शिक्षिका से कहते रहे कि ज़रूर उससे कोई गलती हुई है। क्योंकि जिन्होंने बच्चे को पिछड़ा घोषित किया था, आखिर उन्होंने भी तो कुछ सोचा-समझा होगा।

उस शिक्षिका ने अन्तिम बात यह बताई थी कि उस बच्चे का परिवार किसी दूसरे शहर और स्कूली क्षेत्र में जा बसा था। शिक्षिका ने नए स्कूल के व्यवस्थापकों को पत्र लिखे और आगे भी पत्र लिखते रहने का निश्चय किया। इन सभी पत्रों में उसने इस बच्चे के काम की प्रशंसा की, ताकि उसे दूसरे पिछड़े बच्चों की कक्षा में ही न धकेल दिया जाए। शिक्षिका के इन सारे प्रयासों का क्या परिणाम हुआ, यह मैं नहीं जानता।

आई.क्यू. यानी बौद्धिक माप का विचार मेरे लिए हमेशा से एक रहस्य ही रहा है। अगर बौद्धिक स्तर के ये माप हमारी सीख की गति का आनुमानिक इंगित भी देते हैं, तो क्या कारण है कि 50 आई.क्यू. वाला कोई व्यक्ति कालान्तर में एक औसत सामान्य क्षमताओं वाला व्यक्ति नहीं बन सकता? क्योंकि आखिर एक औसत वयस्क जितनी जानकारी या समझ रखता है वह एक औसत बारह वर्षीय बच्चे की ही होती है। उससे बहुत आगे, एक औसत वयस्क बढ़ नहीं पाता। मैं आई.क्यू. के माप और मापदंडों के बारे में चाहे कितना भी शंकालु क्यों न हो जाऊँ फिर भी मुझे लगता है कि उपरोक्त कथन में सच्चाई की झलक अवश्य है। फिर क्या कारण है कि हम यह मान बैठते हैं कि 50 आई.क्यू. वाला कोई बच्चा, पच्चीस वर्ष की उम्र तक पहुँचते-पहुँचते हमारे औसत वयस्कों की भीड़ में शामिल नहीं हो सकेगा? उसकी मानसिक विकास यात्रा में ऐसा क्या घटता है जो यह तय कर देता है कि वह दूसरों के स्तर तक नहीं पहुँच सकेगा?

अब मैं नहीं मानता कि आई.क्यू. “आंशिक रूप से भी हमारे सीखने की गति को माप सकता है”। हम चाहें तो यह ज़रूर कह सकते हैं कि बौद्धिक माप कुछ चीज़ें सीखने की हमारी गति को माप सकता है। ये सभी चीज़ें वे होती हैं जो उच्च-मध्यम वर्ग के बच्चे सीखते या करते हैं। इसके अलावा बौद्धिक स्तर मापने की सभी परीक्षाएँ कुछ खास तरह की पहेलियाँ बूझने की क्षमता को ही मापती हैं। ये सभी पहेलियाँ प्रतीकात्मक व नितान्त सीमित होती हैं और उन्हें हल भी बहुत कम समय में करना पड़ता है। व्हाइटहेड के अनुसार मेधा का जो सबसे महत्वपूर्ण पक्ष है, उसकी जाँच न तो परीक्षाएँ करती हैं, न कर सकती हैं। यह पक्ष है उसके प्रश्न कर पाने की क्षमता और यह जान पाने की लियाकत, कि कौन-सा प्रश्न पूछने योग्य है। ये परीक्षाएँ एक लम्बे समय में बड़ी और जटिल समस्याओं को सुलझाने की क्षमता की जाँच भी नहीं कर सकतीं। इन परीक्षाओं में जो गहरे सांस्कृतिक पूर्वाग्रह हैं, उन्हें हम अनदेखा भी कर दें, तो भी वे हद से हद मानव की बौद्धिक क्षमताओं के असीमित क्षेत्र में से कुछ संकरे व नगण्य हिस्से को ही जाँच सकती हैं।

यही कारण है कि जब कभी मुझे किसी बच्चे के बारे में यह बताया जाता है कि वह “पिछड़ा” है तो मैं हमेशा पूछता हूँ, “आप यह कैसे कह सकते हैं? क्या सबूत है इस बात का आपके पास?” मैं एक ऐसे बच्चे को जानता हूँ जिसने तीन वर्ष की उम्र के बाद ही चलना या बोलना सीखा था। पाँच वर्ष की उम्र तक केवल उसके परिवार के सदस्य ही यह समझ पाते थे कि वह क्या कहना चाह रहा है। पर तब अचानक कुछ ही समय में, बिना किसी विशेष उपचार के, वह एक धाराप्रवाह और दक्ष वक्ता बन गया। केवल इतना ही नहीं, वह एक नैसर्गिक खिलाड़ी भी बन सका।

हमारी भूल बुनियादी है। यह भूल भाषा की है। हम “सामान्य” का अर्थ समझते हैं प्रायिक से, यानी वह जो हमेशा होता है। और तब हम इसे ही सही, उचित, वांछनीय में बदल डालते हैं। यानी वह जो हमेशा-हमेशा होना ही चाहिए।

इस लड़की के साथ वह क्या घटा होगा जिसके कारण यह बच्ची, जिसका शरीर उसकी व्यवहार बुद्धि की अपेक्षा अधिक बढ़ गया था, भय और तनाव से जकड़ी एक भयावह राक्षसी में बदल गई? ऐसे दानव में, जिसे देखते ही व्यक्ति बीमार हो जाए!

अगर उसका व्यवहार उसकी उम्र से आधी उम्र वाली एक सामान्य और स्वस्थ बच्ची का भी होता, तो शायद उसे देखना इतना त्रासद न होता। अचानक मैं कल्पना में उस बड़े हुए शरीर वाली बच्ची को एक छह साल की नन्हीं के रूप में संगीत-गोष्ठी में इधर-उधर दौड़ते देखता हूँ। उस आश्चर्य और जुगुप्सा की अनुभूति कर पाता हूँ, जो उसे यों व्यवहार करता देख आसपास बैठे लोगों में उपजेगा। यानी, यह पूरी तरह सम्भव है कि पिछड़े बच्चों में हम जो तनाव देखते हैं, वह इसलिए नहीं पैदा होता हो कि उन्हें वह सब करने से रोका जाता है, जो उन्हें बिल्कुल सामान्य लगता है। बल्कि वह तनाव उस जुगुप्सा और त्रास से जन्मता हो जो उनके आस-पास के लोग, खासकर उनके माता-पिता, उनके अनुचित व्यवहार को देख दर्शाते हैं। क्योंकि यह तो स्पष्ट ही है कि बच्चे कितने भी पिछड़े क्यों न हों, ऐसी भावनाओं को स्पष्ट अनुभव करते हैं। घृणा की ये भावनाएँ किसी भी दंड से कहीं अधिक भयावह और प्रभावी होती हैं।

पिछड़े बच्चों को जब प्रशिक्षित किया जाता है तो उस प्रशिक्षण का एक बड़ा भाग उनके "पिछड़ेपन" को ढाँपनेवाला होता है। हमारे प्रयास यह सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं कि वे अपने स्तर से कहीं अधिक प्रखर और मेधावी हैं। जो बच्चा मानसिक रूप से कुल जमा छह वर्ष का ही हो, उससे भी हमारी अपेक्षाएँ बारह वर्ष के-से व्यवहार की रहती हैं। आज सुबह वाली बच्ची का पूरा ध्यान इस पर केन्द्रित था कि वह कहीं कुछ गिरा न दे। (क्या किसी छह साल की बच्ची को कुछ गिराते या बिखेरते देख हम इतना व्यग्र होते हैं?) यानी ऐसे बच्चों को हम हरेक काम करते समय संकोची बनाते चलते हैं। उनके जीवन भी वैसे ही बन जाते हैं, जैसे हमारी कथाओं के छद्म रूपधारी नायकों के होते हैं। यानी उन्हें हमेशा ही कुछ और होने का स्वाँग करने पर बाध्य होना पड़ता है। हमेशा यह

ध्यान रखना पड़ता है कि उन्हें एक खास तरह से चलना, बोलना, सीटी बजाना, गाना, खुजलाना या आगे बढ़ना है। और यह सब मानो एक ऐसी स्थिति में करना पड़ता है जहाँ भूल होते ही बन्दी बना लिए जाने और मृत्युदंड पाने का भय मन में व्यापा हो। अधिकांश प्रवीण, प्रशिक्षित और आत्मविश्वासी वयस्कों से भी अगर ये सारी अपेक्षाएँ रखी जाएँ तो वे पूरी तरह टूट सकते हैं। फिर कैसा आश्चर्य कि एक ऐसा बच्चा, जो अप्रशिक्षित हो, सहमा हुआ हो और अपने बारे में दूसरों की निम्न राय को भी जानता हो, यह सब न कर सके। कोई भी छद्म रूपधारी व्यक्ति या जासूस तक को कभी-कभार सुस्ता लेने का मौका तो मिलता ही है। पर मानसिक रूप से छह साल की बच्ची को बारह साल की बच्ची का स्वाँग करते समय सुस्ताने तक का मौका नहीं मिलता। यह पूरी छवि एक ऐसे दुःस्वप्न की है जिसकी कल्पना तक रोंगटे खड़े करती है। हो सकता है मेरी बात में अतिशयोक्ति हो। पर आज जिस बच्ची को देखा, उसे देखकर मुझे नहीं लगता कि मैं तिल का ताड़ बना रहा हूँ। किसी बच्चे के चेहरे पर ऐसे भुतहे हाव-भाव केवल किसी अनन्त दुःस्वप्न को जीने के फलस्वरूप ही आ सकते हैं।

जो कुछ बच्चों को निजी स्तर पर सामान्य लगता है, उसके प्रति वयस्कों का असहनशील व्यवहार अगर उन बच्चों को, जो प्रारम्भ में केवल सुस्त बच्चे हों, ऐसे भयभीत जन्तुओं में बदल सकता है, तो हमें क्या करना चाहिए? यह तो आवश्यक है कि हम स्वीकार्य और अस्वीकार्य व्यवहार के बीच कोई रेखा खींचे - क्योंकि अन्यथा हम बच्चों को उचित व्यवहार सिखा ही नहीं सकेंगे। पर एक सामान्य बच्चे और एक पिछड़े बच्चे में बड़ा अन्तर यह होता है कि "बुरे" व्यवहार पर सामान्य बच्चे को केवल सजा मिलती है, पर असामान्य बच्चों को घृणा व तिरस्कार। सच मानिए, घृणा पाना, दंड पाने से कई गुना भयानक होता है।

क्या यह सम्भव है कि बच्चों का गलत व्यवहार, वयस्कों की इस प्रतिक्रिया के कारण ही अपराध वृत्ति में बदल जाता है? कुछ रोज़ पहले मैं पैदल बॉस्टन-कॉमन को पार कर रहा था। वहाँ मैंने दो बच्चों में थूकने की होड़

लगी देखी। अधिकांश वयस्क थूकने को सह ही नहीं पाते। आखिर हम इसे इतनी बुरी नज़र से क्यों देखते हैं? खैर ...! मुझे इससे कोई परेशानी नहीं हुई। मैं रुका, ताकि यह देख सकूँ कि जीतता कौन है और राहगीरों की प्रतिक्रिया क्या होती है। मैं कुछ और करीब जा पहुँचा। कुछ ही देर में उनमें से छोटे बच्चे ने ऐसा कुछ किया जो मेरे सहने की सीमा के भी पार था। उसने अपने साथी पर ही थूकना शुरू कर दिया। उसका निशाना सही न था, सो साथी तो बच गया, पर मैं कुछ परेशान हो उठा। बच्चे की आवाज़ ने भी मुझे असंतुलित किया। एक अजीब-सी, तीखी, कठोर, गहरी पर खरखराहट भरी आवाज़ थी उसकी। सुनते ही ऐसा लगता था मानो वह लड़ने को तैयार किसी व्यक्ति की आवाज़ हो। अचानक उसकी नज़र मुझ पर पड़ी। मुझे अपनी ओर ताकते पाकर वह तुरन्त घिघियाए लगाने लगा, “साब एक चवन्नी दे दो। घर जाने तक के पैसे नहीं हैं मेरे पास!” मैं उनसे कुछ लेना-देना नहीं चाहता था, सो मैं खिसक लिया। मुझे अपनी प्रतिक्रिया पर बाद में अफसोस हुआ। पर मैं यह भी जानता हूँ कि आगे भी ऐसी स्थिति आने पर मैं फिर से यही करूँगा।

कुछ बच्चे शायद उस थूकने वाले छोटे बच्चे जैसे भी होते हैं। वे अन्दर से उस पिछड़ी बच्ची से कहीं अधिक मज़बूत होते हैं। और इनमें अपने व्यवहार से वयस्कों में जगो सदमे और तिरस्कार के प्रति एक दूसरी ही तरह की प्रतिक्रिया होती है। वे वयस्कों में जगी जुगुप्सा से दुखी या त्रस्त नहीं होते, बल्कि उसे उकसाने का भरसक प्रयास करते हैं। वे अपने में, तिरस्कार जगाने की इस क्षमता को बखूबी पहचानते हैं। वे इस क्षमता को ही दूसरों पर अपनी सत्ता का एक रूप मानते हैं।

बच्चे के व्यवहार की कठोर निन्दा या अस्वीकार का भाव अगर एक ओर उन्हें स्नायु-रोगी बनाता हो और दूसरी ओर आतंककारियों में बदल डालता हो, तो हमें क्या करना चाहिए? उत्तर शायद ऐसे कामों में हो जिन्हें करने में वे अपनी सम्पूर्ण मानवीय क्षमताएँ लगा सकें। ऐसे काम जो उनके निजी भय या दूसरों में भय जगाने की सम्भावना से कहीं अधिक रोचक हों। आसान नहीं होगा यह करना, पर यही हमारा लक्ष्य होना चाहिए।

□ अक्टूबर 3, 1959

कल पार्क स्ट्रीटवाली सब-वे (भूमिगत रेल) में तीन लड़के सवार हुए। वे बेहद उत्तेजित, शोर-शराबा करनेवाले और बदतमीज़ थे। सम्भव है वे “बाल अपराधी” न हों, पर लगते ऐसे ही थे। कम से कम यह ज़रूर चाहते थे कि बाकी सवारियाँ उनके बारे में यही सोचें। उनसे अचानक हुआ यह सम्पर्क दहलाने वाला था। जैसी कि हमें दूसरों में देखने की आदत है, उससे वे कोसों दूर के बिल्कुल जंगली जानवरों से - पर यह तुलना शायद पशुओं का अपमान हो। यह तो बड़ी आसानी से पता लग रहा था कि उन तक पहुँचने का कोई भी द्वार खुला न था। डिब्बे में उनके चारों ओर एक अजीब-सी दुर्श्चिता से भरा आक्रोश का भाव घिर आया था। इस भाव को वे न केवल पहचान रहे थे, बल्कि उसका लुत्फ भी उठाते-से लगे। और लोग मानो मन ही मन उनसे अपने आँचल-पल्ले बचाते, सिकुड़े से जा रहे थे।

मैं उन्हें देखता रहा। लगा मानो उनकी नकाबों के पीछे छुपे उनके असली चेहरे भी नज़र आने लगे हों। हर बार जब भी उनमें से एक ऐसा कुछ करता जिससे साथ बैठी सवारियों को धक्का पहुँचे, वह एक उड़ती-सी आशंकित दृष्टि अपनी मित्र-मंडली की ओर भी डालता, ताकि वह यह देख सके कि उसें उनका अनुमोदन, उनकी स्वीकृति मिल भी रही है या नहीं। फिर जब शोर और बदतमीज़ी करने की उसके साथी की बारी आती तो वह उससे भी दो कदम आगे बढ़ने की कोशिश करता और अपने साथियों का अनुमोदन चाहता। अचानक यह स्पष्ट हो गया कि ये लड़के निपट अकेले, चिन्तित और भयभीत थे। वे अपने साथियों के क्षण भर के अनुमोदन के लिए कुछ भी कर गुज़रने को प्रस्तुत थे। आश्वासन वे केवल एक-दूसरे में पा सकते थे। पर अपनी दुर्श्चिताओं के कारण एक-दूसरे को सम्बल दे पाना भी उनके लिए मुश्किल था। हर बार जब उनमें से कोई दूसरे साथी के मज़ाक पर हँसता भी था, तो उसकी हँसी बीच में

ही थम जाती। तत्काल उसमें ऐसा कुछ करने की इच्छा जगती, जिससे उसका साथी उस पर हँसे। तब उनका एक-दूसरे को दिया गया आश्वासन जलन में बदल जाता।

एक-दूसरे को दिए गए इस असहज और अल्पकालिक अनुमोदन के अलावा उनके पास अपने आत्मसम्मान और स्वाभिमान को पुष्ट करने के लिए क्या होगा? आसपास के लोगों की अस्वीकृति ही न। ऐसा तिरस्कार जो भय के पास पहुँच जाता हो? अगर लोगों को आप पसन्द न आएँ तो आप उन्हें भयभीत कर दें - यह भी तो उपलब्धि ही है।

बाल अपराधियों की दुनिया का वर्णन हैरीसन सैलिस्बरी की रपट द शुक्र अप जनरेशन में और वॉरेन मिलर के उपन्यास द कूल वर्ल्ड में मिलता है। उनके वर्णन से पता चलता है कि सड़क छाप गुंडों की जुड़ी-गुंथी टोलियों तक में वह चीज़ नहीं मिलती जिसे दोस्ती का नाम दिया जा सके। इन टोलियों के सदस्य परस्पर असहज साथी भर हैं, जो बाहरी दुनिया के भय और इस अहसास के कारण आपस में जुड़े हैं कि पूरी दुनिया में उनकी परवाह करनेवाला कोई दूसरा है ही नहीं।

□ दिसम्बर 14, 1959

पिछले वर्ष कई बार ऐसा लगा मानो गैरी हमेशा सफलता की दुनिया से जबरन मुँह मोड़ने की चेष्टा करता हो। शायद इसलिए, क्योंकि वहाँ मिलनेवाले सम्मान व पुरस्कार के बावजूद वह दुनिया उसके लिए अपरिचित है। जबकि असफलता की दुनिया में वह खुश न भी रहता हो, फिर भी परिचय का आश्वासन तो कम से कम पाता था। आज मुझे एक बात और स्पष्ट हुई। मुझे यह पता चला कि सम्पूर्ण व विशुद्ध असफलता की राह क्योंकि कुछ छात्रों को स्कूल के लिए और कुछ लोगों को जीवन जीने के लिए उचित रणनीति लगती है।

टूड़ी बड़ी तेज़ लड़की है। स्वभाव से हँसमुख भी है। अपनी कक्षा की जोकर है वह। पर उसका स्कूली काम हर तरह से खराब ही कहलएगा।

उसकी वर्तनी सबसे खराब है। औसत में तीसरी कक्षा के बच्चे से भी खराब हिज्जे वह करती है। सत्र के प्रारम्भिक हिस्से में मुझे उसकी वर्तनी में कोई सुधार नहीं दिखा। कई छोटी-बड़ी लड़ाइयों व असफलताओं के बाद मुझे कुछ ऐसे उपाय सूझे, जिससे मैं कमज़ोर वर्तनीवाले बच्चों की मदद कर सकूँ। यहाँ मैं एक बार फिर से दोहरा दूँ कि शिक्षण के बारे में मैंने जो कुछ भी सीखा, वह सब बुरे छात्रों से ही सीख पाया हूँ।

जब बच्चा कोई शब्द पन्ने पर गलत लिखता तो मैं 3" x 5" के कार्ड पर उसकी सही वर्तनी मोटे अक्षरों में लिख देता हूँ। मैं शब्द को एक खाली कार्ड से ढँक देता हूँ। तब शब्द को केवल पल-भर के लिए बच्चों को दिखाता हूँ और उसके हिज्जे करने को कहता हूँ। शब्द को जितनी बार चाहे वे देख सकते हैं, पर केवल क्षण-भर के लिए। यानी वे उसकी वर्तनी को दोहराकर दिमाग में नहीं रख सकते। मैं चाहता हूँ कि वे शब्द को आँखों से देखें कि वह कैसा लगता है। मैं चाहता हूँ कि वे अपने मन की आँखों में शब्द को बसा लें।

जो बच्चे वर्तनी में कमज़ोर हैं, उनके पास ऐसे शब्दों का अच्छा-खासा ढेर इकट्ठा हो जाता है। मैं उन्हें यह बता देता हूँ कि बिना पूर्व चेतावनी के ली गई किसी भी परीक्षा में वे इनमें से जो भी शब्द सही-सही लिख पाएँगे, उन्हें मैं तुरन्त उनके ढेर में से हटा दूँगा। बच्चों के मन पर कार्डों की संख्या का बोझ ज़रूर रहता है। सो उन्हें इस संख्या को कम करने में बड़ा मज़ा आता है। आज टूड़ी को बिना बताए ही उसकी परीक्षा ली। उसने मुझे भौंचक्क कर दिया। अपने ढेर के पच्चीस कार्डों में से बीस शब्द उसने आज एक ही झटके में बाहर कर दिए। पर उससे भी बड़ा आश्चर्य मुझे यह हुआ कि वह अपने इस अद्भुत प्रदर्शन से प्रसन्न या संतुष्ट नहीं, बल्कि चिंतित दिख रही थी। मैंने सोचा, "अपनी वर्तनी में इस प्रगति को यह बच्ची एक खतरे के रूप में देख रही है। पर यह भय किस बात का होगा?" तब अचानक मुझे समझ में आया कि कुछ बच्चों को कमज़ोर, अयोग्य या असमर्थ पने रहना क्यों एक बेहतर रणनीति लगती है। बच्चों को लगता है कि अगर उन्हें (यानी हमें) यह पता हो

कि आपको कुछ आता-जाता ही नहीं तो वे आपसे कुछ करने की उम्मीद भी नहीं रखते। कुछ करने को दिया जाए और आप उसे न कर पाएँ तो भी न तो आपको सज़ा मिलती है, न मत्थे दोष मढ़ा जाता है। मैं टूडी के मन की बात मानो सच में अपने कानों से सुन पा रहा था, “लगता है अब ये हमेशा मुझसे अपेक्षा रखेंगे कि मैं सही-सही हिज्जे करूँ। क्या पता गलती होने पर डाँट भी पिलाएँ!”

जो बच्चे वयस्कों के अनुमोदन पर आश्रित होते हैं, उन्हें अगर पूर्ण सफलता नहीं मिलती तो वे पूर्ण असफलता को ही चुनना पसन्द करते हैं। बच्चों से काम करवाने का हमारा उपाय है काम करने पर उसे अनुमोदन देना, न करने पर अनुमोदन रोक लेना। यह सम्भव है कि हमारा ऐसा करना ही बच्चों को असफलता का रास्ता चुनने पर मजबूर करता हो। मुझे सोलह वर्षीय एक परिचित लड़के की बात याद आ रही है, जिसने अपने पिता की ऊँची अपेक्षाओं को पूरा न कर पाने के कारण हर तरह की अपेक्षा को नज़रअंदाज़ करना ही बेहतर समझा। उसके पिता अपने समुदाय के एक सम्माननीय व्यक्ति थे। हरेक क्षेत्र में सफल व्यक्ति। उनका बेटा अन्ततः एक अव्याश शराबी बना। एक रात पिता ने शराब में धुत्त बेटे को अकेले ही नाचते देखा। उसके इर्द-गिर्द खड़ा झुंड हँस-हँसकर उसकी प्रशंसा में तालियाँ बजा रहा था। तब मेरे दिमाग में एक विचार कौंधा, “कम से कम यह काम तो आपका बेटा आपसे बेहतर कर सकता है।”

अक्सर यह कहा जाता है कि शराबी वे काबिल लोग बन जाते हैं जो अपने तय किए गए ऊँचे लक्ष्यों को पा नहीं सकते। तब वे लक्ष्य पाने की चेष्टाएँ भी छोड़ देते हैं। सम्भव है बच्चे भी निराशाजनक असफलता में ठीक वैसा ही आश्रय पाते या ढूँढ़ते हों, जैसा कोई पियक्कड़ शराब में ढूँढ़ता है। पर बच्चों में असफलता का चस्का छुड़ाने के लिए हमें क्या करना चाहिए?

अयोग्य होने का एक और लाभ भी है। इससे न केवल व्यक्ति से की जानेवाली अपेक्षाएँ और माँगें कम हो जाती हैं, बल्कि व्यक्ति की निजी अपेक्षाएँ व आशाएँ भी। अगर हमारा लक्ष्य ही असफलता हो तो कम

से कम निराशा तो कभी नहीं होगी। वह कहावत तो आपने भी सुनी होगी कि अगर फर्श पर ही सोया जाए तो पलंग से नीचे गिरने का डर तो नहीं रहता।

□ जनवरी 3, 1960

कुछ लोगों का मानना है कि पुरानी तरह की तिलिस्मी परीकथाएँ बच्चों को नहीं सुनानी चाहिए, क्योंकि वे इनसे डर जाते हैं। पर इन तिलिस्मी कहानियों के अलावा भी तो तमाम तरह के डर बच्चों के जीवन में होते हैं। आदिम लोगों की तरह ही बच्चे भी एक ऐसी दुनिया में बसते हैं, जो उनकी समझ के परे होती है। ऐसे में परीकथाएँ बच्चों के जीवन में ठीक वही भूमिका निभाती हैं जो आदिम लोगों के जीवन में मिथक, रस्म या धर्म निभाते हैं। इन कथाओं के सहारे उनके अज्ञात भयों को एक नाम, एक पहचान मिल जाती है। और तभी उन्हें दबोच कर बाहर फेंकने की सम्भावना भी बनती है।

अगर कोई बच्चा अपने डर को भूतों, डायनों, राक्षसों, दानवों या दुष्ट परियों जैसी चीज़ों के भय में बदल डालता है, तो उसका एक लाभ भी हो सकता है। वह यह कि जैसे ही वह यह समझ ले कि भूतों, डायनों जैसी चीज़ों का कोई अस्तित्व है ही नहीं, तो वह भय से मुक्ति भी पा जाता है। और अगर ऐसा न भी हो पाए तो कम से कम बच्चों को अपने भयों से लड़ने और उनका सामना करने का मौका तो मिलता है। उसको यह सोचने का तो मौका मिलता ही है कि आखिर वह इतना डरता किस चीज़ से है।

मैं एक चार वर्षीय बालक को जानता था जो हर ऐसे वयस्क को, जो उसकी बात धीरज से सुनने को तैयार हो, दानव के किस्से सुनाया करता था। अपने दानव को वह पहाड़-सिंह-खोर के नाम से पुकारता था। मुझे लगता है कि उसने पहले-पहल पहाड़ी शेर को ही सबसे भयानक जानवर मानकर कहानियाँ बनाई होंगी। पर तब पहाड़ी शेरों के बारे में जानकारी

पाकर उसे लगा होगा कि उसके मन में बसे भय के लिए यह प्रतीक नाकाफी है। तब उसे लगा होगा कि पहाड़ी शेरों तक को डकार जानेवाला दानव ही उसके भय का प्रतीक बन सकता है। और फिर उसका दानव केवल पहाड़ी शेरों को चट करनेवाला साधारण दानव नहीं था, बल्कि वह तो आसपास के घरों और शहरों तक को लील जाता था। सच तो यह था कि अगर उसकी मर्जी होती तो वह पूरी की पूरी दुनिया को ही निगल जाता। बच्चे की कुछ कहानियों में बच्चा उसे हरा देता था। पर कुछ दूसरी में दानव बच्चे को खा जाता था। कहानी का अन्त इस बात पर निर्भर करता था कि बच्चे की मनस्थिति उस क्षण क्या है। पर इन दोनों ही स्थितियों में बच्चे का निजी मिथक उसके लिए एक काम तो करता ही था। वह यह कि बच्चा बाहर से अपने मन के भीतर झाँक पाता है, अपने भय, अपने साहस को देखता है। उन्हें स्वीकारता है।

□ जुलाई 20, 1960

उस दिन मेरी सत्रह महीने की भानजी ने मेरी कलम को देखा और उसकी ओर हाथ बढ़ाया। कलम पर प्लास्टिक के ढक्कन को उसने कुछ खींचातानी के बाद खोल लिया। उसे ध्यान से देखा और तब वापस लगा दिया। फिर खोला, फिर लगाया। खेल अच्छा था। अगर मुझे अपनी कलम इस्तेमाल करनी हो तो उसे अपनी नन्हीं भानजी की नज़रों से दूर रखना पड़ता है, क्योंकि उसे देखते ही वह उससे खेलना चाहती है। जिस कुशलता से वह ढक्कन वापस लगाती है उससे मुझे अक्सर विशेषज्ञों द्वारा बच्चों में अंग-संचालन और संतुलन की कमी के विषय में कही गई बातों पर आश्चर्य होता है। अगर स्थितियाँ सही हों और बच्चों की रुचि किसी चीज़ से जग जाए तो वे हमारे अनुमान से कहीं अधिक दक्षता दर्शाते हैं।

इन गर्मियों में मैंने कई-कई घंटे इस नन्हीं को देखने में बिताए हैं। मुझे तो यह साफ-साफ दिखता है कि वह एक वैज्ञानिक है। मैंने उसे हमेशा किसी न किसी प्रयोग या प्रेक्षण में जुटे देखा है। खाली तो वह कभी नहीं

बैठती। जितने घंटों वह जगी होती है वह पूरे मनोयोग से किसी न किसी उद्देश्य में सक्रिय रहती है। वह तो मानों अनुभवों को सोखती है, उनके कार्यों को समझने की चेष्टा में लगी रहती है। हमेशा यह जानने को बेताब रहती है कि अपने आसपास रखी चीज़ें क्या-क्या करती हैं। अपनी मर्जी से वह उनसे क्या करवा सकती है।

जब कोई ऐसी अड़चन आ खड़ी होती है और उसे यह साफ लगता है कि वह उस बाधा को पार नहीं कर पाएगी, तब भी प्रयास नहीं छोड़ती। अपने आसपास के वातावरण को नियंत्रित करने के उसके अधिकांश प्रयास असफल ही होते हैं। पर निराशा या हताशा उसे छू तक नहीं जाती। वह लगातार बढ़ती जाती है। शायद इसलिए, क्योंकि यहाँ असफलता के प्राकृतिक दंड के अलावा कोई दंड नहीं होता। किसी गेंद पर खड़े होने की कोई चेष्टा करे तो वह लुढ़ककर गिरेगा ही। असफलता को लेकर एक शिशु और एक वयस्क की प्रतिक्रियाओं में ज़मीन-आसमान का अन्तर होता है, बल्कि एक शिशु की प्रतिक्रिया एक पाँच वर्षीय बच्चे से भी भिन्न होती है। एक शिशु को असफलता से लज्जा नहीं आती, आत्मग्लानि नहीं होती, अपराध का बोध नहीं होता। कोई भी शिशु अपने से बड़ी उम्र वाले बच्चे की तरह स्वयं को कठिन या अपरिचित कामों से बचाता नहीं है। हमारी इस नन्हीं में नए अनुभवों की ललक है। वह तो मानो जीवन का आलिंगन करने को ही अधीर और आतुर रहती है।

बच्चों के बारे में आम धारणा यह है कि अगर दंड या पुरस्कार न हों तो बच्चे कुछ भी नहीं सीखेंगे। पर इस नन्हीं को देखकर इस धारणा में अविश्वास होता है। सच है कि उसके जीवन में भी दंड और पुरस्कार हैं। यह भी सच है कि उसके कुछ कामों को बड़ों का अनुमोदन मिलता है, कुछ को नहीं, पर वह अपना अधिकांश जीवन बड़ों की प्रशंसा या आलोचना के दायरे के बाहर ही जीती है। शायद यह इसलिए भी सम्भव होता है कि सीखने के उसके अधिकांश प्रयोग बड़ों की नज़र में पड़ते ही नहीं। आखिर कौन बच्चों की सतत चलने वाली खटर-पटर के अर्थों के झमेले में पड़ता है। बच्चा चुप रहे और अपने आप में मस्त रहे, इससे अधिक तो बड़े चाहते

भी नहीं। पर आप कुछ देर इस बच्ची को देखें, वह जो कुछ करती है उस पर विचार करें तो आप तत्काल समझ लेंगे कि अपने अस्पास की दुनिया को समझने की कितनी तीव्र इच्छा उसमें है। सच्चाई यह है कि जो कुछ भी वह यों अपने आप जानती और सीखती है, उससे उसे गहरा सन्तोष भी होता है। फिर चाहे कोई उसे या उसके काम को देखे या न देखे।

बच्चों के बारे में आम धारणा यह है कि बाहरी पुरस्कारों या दंडों के बिना, व्यवहारशास्त्रियों की दूषित शब्दावली का प्रयोग करना चाहें तो कहें कि “सकारात्मक या नकारात्मक सम्बलन” के बिना, बच्चे कुछ भी नहीं सीखेंगे। यही धारणा अन्ततः स्वयंसिद्ध होने वाली भविष्यवाणी का रूप धर लेती है। अगर हम एक लम्बे समय तक बच्चों से ऐसा व्यवहार करते चलें जिससे लगे कि इस कथन में सार है, तो अन्ततः वह समय भी आएगा ही, जब वे भी इस कथन की सच्चाई में विश्वास करने लगेंगे। न जाने कितने लोगों ने मुझसे कहा है, “अगर बच्चों से ज़ोर ज़बर्दस्ती से काम न करवाया जाए तो वे कभी कुछ करेंगे ही नहीं।” लोगों ने तो यहाँ तक कहा है, “अगर मुझसे भी काम करवाया न जाए तो मैं भी कब कुछ करूँ।”

यह सिद्धान्त तो गुलामी का है।

जब लोग अपने बारे में ऐसी भयानक बातें कहते हैं तो मेरा जवाब होता है, “हो सकता है आप इसे अपने बारे में मानतें हों, पर मैं इसमें कतई विश्वास नहीं करता। आप जब छोटे थे तब आप अपने बारे में यह निश्चित रूप से नहीं सोचते थे। आप में ऐसी भावनाएँ जगाई किसने?” एक बड़ी सीमा तक इसकी ज़िम्मेवारी स्कूलों पर आ टिकती है। पर ऐसे सन्देश हमें हमारे स्कूल अनायास देते हैं या फिर जानबूझकर, इस सवाल का जवाब मेरे पास नहीं है। मुझे तो यह भी नहीं लगता कि स्कूल इस बारे में कुछ जानते भी होंगे। वे ऐसी भावनाएँ जगाते इसलिए हैं क्योंकि उनका इसमें विश्वास है। और अगर विश्वास है तो वे इसे सच मानने के अलावा कर ही क्या सकते हैं?

□ फरवरी 26, 1961

कुछ बच्चों की अविश्वसनीय असफलता मुझे पगलाती है। उन्हें कभी कुछ भी नहीं मिलता। काम करते समय न उनके पास कागज़ ही होता है न पेन्सिल। उनकी दराज़ों की हालत खस्ता होती है। पुस्तकालय से ली गई किताबें तक वे खो देते हैं। घर पर गृह कार्य करें तो कॉपी वहीं छोड़ आते हैं। घर पर करने के लिए कक्षा में कोई काम बताया जाए तो वे उसे करने के लिए ज़रूरी सामान कक्षा में ही छोड़ जाते हैं। अपने पन्ने वे अपनी फाइलों में नहीं रख पाते। पर सच मानिए, इस सबके बावजूद वे न तो कम अक्ल हैं, न ही अयोग्य, कितने ही दूसरे काम वे बखूबी करते हैं।

टेड एक प्रखर, सजग, उत्सुक, हँसमुख और आकर्षक बच्चा है, पर उसका स्कूली रिकॉर्ड हमेशा ही अटूट असफलता भरा और निराशाजनक रहा है। खेलकूद में माहिर है वह। ताकतवर है, तेज़ है, पूरी तरह संतुलित भी। पर क्लास में उसके कागज़-पत्र, फटे-चिथड़े और स्याही के धब्बों से भरे होते हैं। उसकी लिखावट को पढ़ पाना असम्भव है। अभी उस दिन ही तो पूरी कक्षा के बच्चे अपनी-अपनी दराज़ें साफ कर रहे थे। मैं उसकी “मदद” कर रहा था। मुझे उसकी दराज़ में तमाम कागज़ बिखरे मिले। मैंने कहा कि वह उन्हें सम्भाल कर अपनी फाइल में रख ले। तनावग्रस्त होते ही उसका चेहरा लाल हो जाता है। वही अब हुआ। वह खट-पट करता रहा। तब बुदबुदाने लगा, “कागज़ फाइल में अँटते ही नहीं हैं। फाइल का आकार ही ठीक नहीं है।” बात कतई सच नहीं थी। आखिरकार उसने कागज़ों का एक बड़ा-सा ढेर लिया और एक साथ फाइल की एक रिंग में ठूसने की नाकाम कोशिश करने लगा। उसने यह तक नहीं देखा कि कागज़ में बने छेद रिंग से कम से कम आधा इंच की दूरी पर थे। इधर वह बड़बड़ाता हुआ उन्हें ठूसने की कोशिश में लगा था, उधर मेरा रक्तचाप बढ़ता जा रहा था। इतना कि आखिरकार मैंने झुंझलाकर बेसब्री व तल्खी के साथ ज़ोर से कहा, “रहने दो! बाद में ही करना। मुझसे अब यह देखा तक नहीं जा रहा है।”

इस घटना और इस जैसी तमाम घटनाओं पर विचार करते समय मुझे अचानक एक फिल्म याद हो आई है। नाम था: *अ बॉक इन द सना* यह फिल्म हैरी ब्राउन के उपन्यास पर आधारित थी, जिसमें इटली में आक्रमण के पहले दिन पैदल सेना की एक नायक-विहीन टुकड़ी के कारनामों का वर्णन था। टुकड़ी पर किसी जंगल में अचानक दुश्मनों का एक टैंक धावा बोलता है। अन्ततः वे उस टैंक को घेर तो लेते हैं पर पाते हैं कि उनका नायक सूबेदार युद्ध की थकान का शिकार हो गया है। नायक दबावों के सामने पूरी तरह टूट जाता है। उसके सैनिक अपने नायक को ज़मीन पर लेटते, डर से थरथराते, आँख-बाँख बकते पाते हैं। आखिरकार वे उसे वहीं छोड़कर अपने निर्धारित लक्ष्य की ओर बढ़ने लगते हैं। जाते-जाते एक सैनिक टिप्पणी करता है कि उनके नायक ने अपने लिए अन्ततः एक गड़ढा खोद लिया है और वह उसमें ही दुबक गया है। उसे बाहर निकालने के सारे प्रयास बेकार सिद्ध होते हैं।

मुझे लगता है कि बच्चे भी स्कूलों में आत्मरक्षा के लिए ठीक ऐसे ही गड़ढे खोद लेते हैं। उनमें मिलने वाली असमर्थता की तुलना भी उन मनोरोगियों की प्रतिक्रिया से की जाती है जो लम्बे समय से तनावग्रस्त रहे हों। सम्भव है कुछ लोगों को यह तुलना ही अतिशयोक्तिपूर्ण लगे। पर वे गलत हैं। बहुत कम ही बच्चे होते होंगे जो स्कूलों में अधिकतर समय भय, आशंका या तनाव का सामना नहीं करते। यह संयोग मात्र नहीं है कि वयस्क अपने सबसे खौफनाक दुःस्वप्नों में स्वयं को फिर से स्कूल में पाते हैं। मैं स्वयं एक सफल छात्र रहा हूँ, पर मैं अपने दुःस्वप्न में आज तक स्वयं को एक ऐसी कक्षा में देख पाता हूँ जिससे मैं अकारण ही एक लम्बे समय तक अनुपस्थित रहा हूँ। मैं पाता हूँ कि मैं अपने साथियों से पिछड़ गया हूँ। मेरी लम्बी अनुपस्थिति मुझे तरह-तरह की उलझनों में डालेगी, यह अहसास भी मुझे होता है। ये परेशानियाँ कैसी होंगी, यह मैं नहीं जानता। पर मुझे यह ज़रूर लगता है कि मैं और अनुपस्थित नहीं रह सकता। स्कूल लौटना मेरे लिए ज़रूरी है।

एक शिक्षक होने के नाते यह अहसास और भी कष्टदायी बन जाता है कि आपके जिम्मे जितने छात्र हैं वे सब अपने दिमागों का जानबूझकर इस तरह प्रयोग कर रहे हैं, जिसके अल्पकालिक या दूरगामी परिणाम उन्हें सीमित

कर देंगे। ये तरीके तो शिक्षा के उद्देश्यों को ही पराजित करनेवाले होते हैं। बच्चों को वह सब “आज्ञाकारी बच्चों” की तरह करते देखना जिससे उन्हें किसी तरह का बौद्धिक पोषण न मिले; मन में यह विश्वास होना कि जो कुछ सीख लेने का आभास वे आज दे रहे हैं वह वे महीने-भर या सप्ताह-भर बाद, या शायद कल ही भूल चुके होंगे - कितना पीड़ादायक है।

पर इससे भी कष्टदायक यह अनुभूति है कि स्कूल के बारे में ऐसी प्रतिक्रियाएँ हैं, जो बच्चों के नियंत्रण से परे हैं। यह अहसास कि आप शिक्षक होकर बच्चों की मेधा को कम करने में सहायक बन रहे हैं, अपने आप में डरावनी बात है। इसके साथ अगर यह अहसास भी जुड़ जाए कि आप उन्हें मनोरोगी बना रहे हैं, तो उलझन कितनी बढ़ जाती है।

□ मार्च 2, 1961

एक महिला ने वर्षों तक ऐसे बच्चों के साथ काम किया था, जिनमें सीखने के विरुद्ध तमाम मानसिक बाधाएँ थीं। ये बच्चे ऐसे थे जिनको साधारण स्कूलों में लगनेवाली पिछड़े बच्चों की कक्षाओं से कोई मदद नहीं मिल सकी थी। महिला ने शिक्षकों के समूह में ऐसे न पढ़ पानेवाले बच्चों की परेशानी के लिए एक नए शब्द का प्रयोग किया था। शब्द था “शब्दांधता” (वर्ड ब्लाइंडनेस) तब से शब्दांधता चर्चित विषय रहा है। समसामयिक विशेषज्ञों ने इसे बीमारी घोषित कर इसका कारण स्नायुतांत्रिक गड़बड़ी बताया है। ऐसे बच्चों में कुछ प्रतिशत बच्चों की दिमागी बनावट या संघटन कुछ ऐसा होता है, जिससे शब्दों को पहचान पाना उनके लिए असम्भव हो उठता है।

सम्भव है पढ़ने की समस्या कुछ बच्चों में इसी कारण मिलती हो। पर यह मानना कठिन है कि अधिकांश बच्चों की पढ़ पाने की समस्या इसी कारण से जन्मती है। मुझे तो लगता है कि किन्हीं प्रतीकों या चिन्हों के प्रति अन्धापन अधिकतर बच्चों में भावनात्मक या मानसिक कारणों से ही मिलता है न कि स्नायुविक गड़बड़ी के कारण। यह तो गहरे तनावों के सामने व्यक्ति की मनोरोग-जनित प्रतिक्रिया है। ऐसे अनुभव मुझे भी हुए हैं।

इसका एक उदाहरण बाँसुरी-वादन की कक्षा में मेरे साथ ही जुड़ा है। घटना का वर्णन मैं कुछ विस्तार से करना चाहूँगा। इसलिए कि मैंने पाया कि मानसिक तनावों से एक ऐसी स्थिति पैदा हो जाती है जब किसी चीज़ को करने की क्षमता ही अचानक गायब हो जाए, या किसी चीज़ को हम देखें ज़रूर पर उसका अर्थ समझ में न आए। किसी वयस्क को सामान्यतः केवल युद्धकालीन गम्भीर खतरों के सामने ही यह अनुभव होता होगा।

मुझे देर दोपहर संगीत की कक्षा में जाना था। बच्चों के साथ वह दिन मेरा बहुत अच्छा नहीं गुज़रा था। कक्षाओं के तुरन्त बाद मुझे एक तनावों से भरी बैठक में भी जाना पड़ा था। वहाँ से उठते-उठते भी काफी देर हो गई थी। स्कूल से निकला तो गाड़ियों की भीड़ में उलझा रह गया। कक्षा में पहुँचा तो काफी देर हो चुकी थी। पहले से कुछ अभ्यास कर गमने या रमने का मौका नहीं मिल पाया। मेरे संगीत-शिक्षक भी उस दिन थके हुए थे। वे इस बात से भी दुखी थे कि पिछली कक्षा के बाद मैंने कोई प्रगति नहीं दिखाई थी, वे परेशान हो गए। तब उन्होंने कुछ ऐसा किया जो हम सभी शिक्षक अक्सर करते हैं। उन्होंने जबरन मुझसे धुन का वह नया हिस्सा उस गति से बजवाना चाहा जिसमें मुझे उसे बजाना अब तक सीख लेना चाहिए था।

पर गति मेरे लिए तेज़ थी। मैं गलतियाँ करने लगा। मैं स्वयं तो रुक जाना चाहता था पर उनके पक्के इरादे के सामने मेरा बस नहीं चला। मेरे दिमाग में एक ठोस दबाव बनने लगा। मुझे लगने लगा कि केवल अन्दर से ही नहीं, बल्कि बाहर से भी कोई मेरे सिर को दबा रहा है। मेरे कानों में बाँसुरी की बेसुरी आवाज़ के बदले कुछ और ही गूँजने लगा। और तब अचानक जैसे मैं अन्धा हो गया। मेरे सामने रखी स्वरलिपि के सारे अर्थ ओझल हो गए। मेरे जाने-पहचाने स्वर-चिन्ह निरर्थक बन गए। सच, उन क्षणों का अनुभव मैं शब्दों में बाँध ही नहीं सकता। यह सब घट तो पल दो पल में ही गया था: उतने समय में, जितना मुझे बजाना बन्द कर स्वरलिपि से परे देखने में लगा होगा। मैं स्वरलिपि को देख तो रहा था पर वह मुझे नज़र नहीं आ रही थी। कहा जाता है कि तनाव के क्षणों में सब कुछ गड़-गड़ हो जाता है, धूमिल हो जाता है। हो सकता है ऐसा सचमुच हुआ हो। क्योंकि जब कुछ

देखना ही तकलीफ देने लगे तो आँखें उसे देखना बन्द कर देती होंगी। मुझे उस क्षण स्वरलिपि के सारे चिन्ह कागज़ पर नाचते या तैरते लगे थे। पर इस सबके साथ एक और आभास भी हो रहा था। वह यह कि जो मैं देख रहा हूँ, वह बिल्कुल अपरिचित है। उसे न मैंने पहले कभी देखा है, और न उसके बारे में कुछ सुना है, उसकी कल्पना तक नहीं की है। स्वरलिपि के साथ जितने भी सम्बंध थे, वे उस पल के लिए पूरी तरह नष्ट हो गए थे। मेरे पिछले अनुभवों से पूरी तरह कट चुके थे।

ऐसे अनुभव बेहद डरावने और अप्रिय होते हैं। इतने कि उनका बयान ही न किया जा सके। मैंने पल दो पल बाद बाँसुरी नीचे रख दी, स्वरलिपि से मुँह मोड़ लिया। मेरे शिक्षक भी समझ गए कि मैं सीमा पार कर चुका हूँ। कुछ देर सुस्ताने के बाद हम विलम्बित गति से आगे बढ़े। पर मान लीजिए कि मैं बच्चा होता। मान लीजिए कि मैं रुकने का अधिकार अपना मानता ही नहीं, उस पल रुकता ही नहीं, तो क्या होता? मान लीजिए कि मेरे शिक्षक को यही लगता कि द्रुत गति से बजाना ही मेरे चरित्र के लिए उचित है, और उसे वे मुझ पर जबरन थोपते तो क्या होता?

पुस्तक छपने के बाद कई लोगों ने, उनमें से कुछ तो व्यावसायिक संगीतज्ञ भी थे, बताया कि ठीक ऐसे अनुभव उन्हें भी हुए हैं।

और जैसा मैं अपनी पुस्तक *नैवर टू लेट* में लिख चुका हूँ कि मुझे यह अनुभव इसके बाद कई बार हुआ। खास तब, जब किसी वाद्यवृन्द की सामूहिक गति मुझे बड़ी तेज़ लगे। ऐसे में दिमाग में ही कुछ हो जाता है कि स्वरलिपि को देखने के बावजूद उसका अर्थ समझ नहीं आता। पर यह भी सम्भव है कि एक सीमा के बाद दिमाग देखना चाहता ही न हो।

पिछले साढ़े सात वर्षों से मैं चैलो बजाता रहा हूँ। इस दौरान तमाम चेष्टाओं के बावजूद मैं स्वरलिपि को एक नज़र में पढ़ नहीं पाता हूँ। जब मैं किसी नई धुन की स्वरलिपि देखता हूँ तो पहली बार उसे देखकर कभी बजा नहीं पाता। अगर बजा भी लूँ तो धुन की गति सही नहीं होती। मुझे बड़े धीरे-धीरे, धीरे-धीरे के साथ यह समझना पड़ता है कि स्वरलिपि मेरे हाथों को क्या करने का आदेश दे रही है।

मैं स्वरलिपि को ठीक उस तरह पढ़ता हूँ जिस तरह पढ़ने में कमजोर बच्चे या नवसाक्षर छपे अक्षरों को पढ़ते हैं। मेरे लिए यह एक अजीब-सा पर रोचक, अनुभव होता है। इसलिए क्योंकि पढ़ना तो मैंने बचपन में ही सीख लिया था और कुछ ही समय में पढ़ना एक ऐसा काम हो गया, जिसे मैं बिना किसी प्रयास के कर सकूँ। सो स्वरलिपि पढ़ने पर ही मुझे पता चला कि किसी कमजोर पाठक पर क्या गुज़रती होगी।

संगीतज्ञों ने मुझे सुझाया, और यही बात मैं अपने शिक्षार्थियों से भी कहता हूँ, “अच्छा पाठक बनने का उपाय यही है कि इस बारे में मुझे चिन्ता करना बंद करना चाहिए और खूब-खूब पढ़ने की कोशिश करनी चाहिए।” यह उपाय सच में प्रभावी होता है। यह सच है कि मैं अब भी एक नज़र में ठीक से पढ़ नहीं पाता, पर हर दिन प्रगति कर रहा हूँ।

संगीतज्ञ मुझे यह सुझाव भी देते हैं कि मुझे एक बार में एक स्वर नहीं, बल्कि पूरे स्वर-समूह को पढ़ना चाहिए। यानी एक साथ पूरे “स्वर शब्दों” को ही पढ़ना चाहिए। एक अर्से से मैं इस कोशिश में लगा हुआ हूँ, पर यह मुझे आसान नहीं लगता। सो मैं अभी भी “स्वर-शब्दों” के बदले व्यक्तिगत स्वरों को ही देख पाता हूँ।

उस दिन मैं एक धुन पढ़ रहा था; जिसे बजाने का मुझे अभ्यास करना था। अचानक मैंने पाया कि मैं कई स्वर-समूहों को एक साथ देख और समझ पा रहा हूँ। मजे की बात यह थी कि उसी पन्ने पर वे सारे “स्वर-शब्द” पहले भी थे, पर मैं उन्हें देख ही नहीं पाता था किन्तु अब अचानक मुझे वे दिखने लगे हैं। इस बीच क्या हुआ होगा, जिससे यह सम्भव हो सका?

लगता है कि जैसे-जैसे मेरी दुश्चिन्ताएँ और आशंकाएँ कम हुईं, वैसे-वैसे मेरी देखने की शक्ति बढ़ती गई। मैं अचानक एक साथ अधिक स्वरों को देखने-समझने लगा। आशंका, भय और तनाव मेरी दृष्टि को, मेरे सामर्थ्य को सीमित करते हैं। मैं यह नहीं जानता कि यह दृष्टि संकोच मेरी पुतलियों को प्रभावित करता है या फिर इसका सम्बंध प्राप्त सूचना संकेतों की जटिलता से है, जो आँखों के सहारे दिमाग तक पहुँचते हैं; या कि इसका सम्बंध सूचना संकेतों की मात्रा से है, जिन्हें दिमाग को दृश्य संकेतों में

बदलना पड़ता है। कारण जो कुछ भी हो, इतना तो सिद्ध होता ही है कि जैसे-जैसे व्यक्ति चिन्तित और आशंकित होता चलता है, बाहरी चीज़ों को देख पाने की उसकी ताकत और सीमा कम होती चलती है।

जॉर्ज लेनार्ड ने खेलकूद के बारे में लिखते समय “कठोर” और “कोमल” दृष्टि में भेद किया है। जब कभी हम किसी एक चीज़ को साफ-साफ देखने के लिए माइक्रोस्कोप या दूरबीन काम में लेते हैं, या बल्लेबाज़ी करते समय सामने आती गेंद पर नज़र गड़ाए रहते हैं, उस समय हम “कठोर” दृष्टि का उपयोग करते हैं। पर वैसे अपने दृष्टिक्षेत्र में आनेवाली ज्यादातर चीज़ों को देखने के लिए हम “कोमल” दृष्टि ही काम में लेते हैं। इस कथन का उदाहरण लेनार्ड बास्केटबॉल खिलाड़ी का देते हैं। एक बास्केटबॉल खिलाड़ी पूरे खेल-मैदान पर जो कुछ भी होता है, उसे एक साथ देख पाता है। एक क्वार्टरबैक भी बॉल को लपकने या झेलने की कोशिश करनेवाले सभी खिलाड़ियों को एक साथ देख पाता है, न कि पहले एक तब दूसरे को। ऐसे ही एक फील्ड-रनर अपनी ओर बढ़ते सभी खिलाड़ियों को एक साथ देख पाता है, जो हर दिशा से उससे बॉल छीनने आते हैं। जब ओ.जे. सिम्पसन से लोगों ने यह जानना चाहा था कि वे इतने अच्छे फील्ड-रनर कैसे बन पाए तो वे जवाब में कहते थे कि यह तो उन्हें नहीं मालूम पर वे सब कुछ एक साथ देख सकते थे और उन्हें खिलाड़ियों के बीच से निकलने के रास्ते मानो बिछे हुए नज़र आते थे।

मुझे लगता है कि ढेर-सी जानकारी ग्रहण करने और उसे इस्तेमाल कर पाने की क्षमता एक व्यापक अर्थ में उच्च बौद्धिक स्तर की द्योतक है। यही कारण है कि मैंने एक गोष्ठी में बास्केटबॉल खिलाड़ियों के बारे में एक घटिया टिप्पणी सुनकर कहा था कि बास्केटबॉल का अच्छा खिलाड़ी बनने के लिए एक औसत पीएच.डी. का शोध प्रबन्ध लिखने से अधिक वास्तविक मेधा की ज़रूरत पड़ती है। टिप्पणी पर प्रतिक्रिया मिश्रित रही थी।

अगर हमारे पास कोई ऐसा उपाय होता, जिससे हम आशंका का स्तर इच्छानुसार घटा या बढ़ा सकते, तो यह सम्भव था कि हम प्रयोगों द्वारा यह देखें कि दुश्चिन्ताओं के बढ़ने के साथ ध्यान देने की हमारी क्षमता

किस तरह प्रभावित होती है। बहरहाल इतना मैं जरूर जानता हूँ कि जैसे-जैसे मैंने अपनी दुर्बलताओं पर काबू पाया, स्वर-लिपि को पढ़ने और ध्यान केन्द्रित करने की मेरी शक्ति बढ़ती चली गई।

मेरे संगीतज्ञ साथी एक दूसरी सलाह भी देते थे। वे कहते थे कि मेरी ऊँगलियाँ जिन स्वरों को बजा रही हैं, अपनी आँखें मैं स्वरलिपि पर उन स्वरों से कुछ आगे रखूँ। जब मैं छपे शब्दों को पढ़कर सुनाता होता हूँ, तब यह आसानी से कर पाता हूँ। यानी जिन शब्दों का उच्चारण मैं कर रहा होता हूँ मेरी आँखें उनसे आगे टिकी होती हैं। पर यही बात मैं स्वरलिपि के साथ नहीं कर पाता था।

इसके दो कारण थे। पहला तो बिल्कुल प्रत्यक्ष था, पर दूसरा अस्पष्ट। प्रत्यक्ष कारण तो यह था कि जैसे ही मैं कोई स्वर बजाता तो या तो मेरे शिक्षक या दिमाग में बैठा भूल सुधारनेवाला तुरन्त प्रश्न करता, “क्या तुम्हें ठीक-ठीक पता है कि तुमने सही स्वर बजाया है?” यानी मैं तो उसी स्वर के बारे में सोचता रह जाता था, जिसे मैं बजा चुका होता था, उन स्वर के बारे में नहीं जो मुझे आगे बजाने थे। इस आदत को सुधारने का मुझे सायास प्रयत्न करना पड़ा। अपने आप ही उपाय ढूँढने पड़े।

पर जब मैं उन स्वरों में ही अटका नहीं रह जाता था, जिन्हें मैं बजा चुका होता था, तब भी आगे देख पाना मुझे कठिन लगता था। आशंका के कारण मैं दिमाग में एक साथ दो विचार रख ही नहीं पाता था। पर केवल इतना ही नहीं था, कुछ और भी था, जिसके बारे में मुझे कुछ सप्ताह पहले ही पता चला है। मैं एक नई कठिन धुन की स्वरलिपि पढ़कर बजा रहा था। मैंने पाया कि मेरी आँखें उसी स्वर पर चिपकी रह गई, जिसे मैं बजा रहा था। मैंने अपनी नज़र आगे बढ़ाने की कोशिश की, पर यह काम मुझे कठिन लगा। मैं परेशान हो उठा और मैंने अपनी भावनाओं और विचारों का विश्लेषण करने का विचार किया। मैंने पाया कि मेरा पहला भय तो यही था कि अगर मैं आगे देखने लगूँगा तो मुझे वह स्वर मिलेगा ही नहीं, जिसे मैं बजा रहा हूँ। मैं तब “खो” जाऊँगा। पूरी स्वरलिपि पर नज़रें दौड़ाता उस जगह को ढूँढता रहूँगा जहाँ मैं था।

इस भावना ने कि अगर स्वर से मैंने नज़र हटा ली तो मैं उसे ढूँढ ही नहीं पाऊँगा, इससे भी ज्यादा विचित्र और तर्कहीन भाव को मन में जगाया। मुझे लगा कि वह स्वर तो मेरी आँखों से ओझल ही हो जाना चाहता है। जब तक मैं उसे अपनी नज़रों की गिरफ्त में दबोचे नहीं रहूँगा, वह इधर-उधर सटक लेगा। मैं पहले तो इस भावना से ही दंग रह गया, फिर ठठाकर हँस पड़ा। कैसा बेवकूफी भरा भाव जगा था। पर सच, मन में उपजा था यह विचार। उसका प्रमाण यह था कि उस स्वर को ठीक उसी जगह पाकर मुझे बड़ी तसल्ली हुई थी। मैं बड़ा खुश व उत्तेजित हो गया था।

अब अपनी इस कमजोरी को पहचानने के बाद जब भी मैं स्वयं को किसी स्वर को नज़रों से दबोचता पाता हूँ तो अपने आप से कहता हूँ, “अरे भई, यह तो पन्ने पर स्याही से छपे चिन्ह हैं। अपनी जगह से खिसकना उनके बस का नहीं है।” और जिस सीमा तक यह बात मैं स्वयं को समझा पाता हूँ उतनी ही सीमा तक मैं नज़रें उस जगह से उठाकर आगे देख पाता हूँ। और जब नज़रें लौटाता हूँ तो अपना स्वर ठीक वहीं पाता हूँ, जहाँ वह पहले था। मैं पाता हूँ कि मेरी दृष्टि भी काफी हद तक “कोमल” बन उठती है। कभी-कभार वह करना भी सम्भव हो जाता है जो मैंने कल शाम ही द्वोराक की रचना “अमेरिकन” का अभ्यास करते समय किया। इससे पहले मैं यह करने की कल्पना तक नहीं कर सकता था। मैंने कई एक से “स्वर शब्दों” की पंक्ति के आखिर तक नज़र दौड़ाई। यह तो मुझे लगा था कि मैं एक जोखिम मोल ले रहा हूँ – पर मैं धुन विलम्बित में बजा रहा था, सो कोई गड़बड़ नहीं हुई। यानी अन्ततः मैं बजाते-बजाते ही स्वरलिपि को आगे तक देखने में सफल हो सका।

यह सब इतने विस्तार से बताने के पीछे एक कारण है। मुझे लगता है कि पढ़ने में जो बच्चे कमजोर होते हैं, उनके मनोभाव भी कुछ ऐसे ही होते होंगे। उन्हें भी लगता होगा कि जिस शब्द पर नज़र गड़ी है उससे अगर नज़र हटा दी जाए तो वह शब्द पन्ने पर से कूदकर भाग खड़ा होगा। यही भावना शायद तब और गहरी हो जाती है, जब बच्चों को दूसरे बच्चों के सामने पढ़ने को कहा जाता है। क्योंकि तब न पढ़ पाने पर उन्हें या

तो डॉट का डर लगता है या दूसरे बच्चों द्वारा खिल्ली उड़ाने का। और तो और नज़रें हटाते ही वे उस जगह को खोजने के प्रयास में ही भटक जाते हैं और तब शिक्षक ही उनका मज़ाक उड़ाने लगते हैं।

चैलो धुनों की स्वरलिपि पढ़ने का जब मैं अभ्यास करता था तो मैं साथ में उस धुन का रिकॉर्ड बजाया करता था। जो स्वर बज रहा होता, मैं स्वरलिपि में उससे कहीं आगे तक देखकर वापस उस तक लौट पाता था। कमजोर पाठकों को अगर ऐसे कैसेट दिए जाएँ तो वे भी कहानी या किताब का मजमून सुनने के साथ पढ़ सकते हैं। इससे उन्हें अपनी कमजोरी पर काबू पाने में सहायता मिलेगी।

यही बात तब भी होती है जब बच्चे के माता-पिता उसे गोद में बैठकर किताब में से कुछ पढ़कर सुनाते हैं। बच्चा भी तब शब्द सुनने के साथ उन्हें देखता चलता है। उसकी नज़रें कान से सुने शब्दों पर फिसलती हैं। पर अक्सर भटकती भी हैं। वह पंक्ति के अन्तिम सिरे तक नज़रें दौड़ा लेता है, कभी-कभार शायद पूरे पन्ने पर भी और तब लौटकर “सही” जगह भी आ जाता है। बच्चे यह करते समय सहज ही पढ़ने से सम्बंधित एक ज़रूरी कौशल सीख लेते हैं, जिसे सीखना उन परिस्थितियों में सम्भव ही नहीं होता, जहाँ वे आशंकित या चिन्तित हों।

□ मार्च 5, 1961

कुछ लोगों का कहना है, “ये बच्चे इसलिए पढ़ नहीं पाते क्योंकि वे अपने दिमाग का सही इस्तेमाल नहीं करते या नहीं करना चाहते हैं।” दूसरे कहते हैं, “नहीं पढ़ पाने का कारण यह है कि उनके दिमाग में कुछ कमी है।” लेकिन मुझे तो यह बहस झूठी और बेमानी लगती है। जिस अन्तर को हम मस्तिष्क और उसके उपयोग के बीच मानते हैं, उसका अस्तित्व केवल बातचीत के लिए ही है, यथार्थ के स्तर पर वह नहीं मिलता। दिमाग सोचने की कोई मशीन तो है नहीं, जिसे हमारे अन्दर छिपा कोई व्यक्ति अच्छी या बुरी तरह उपयोग में लाता हो। वह तो है और वह काम भी करता है, शायद अच्छी तरह,

शायद बुरी तरह। पर जिस तरह वह किसी एक समय काम करता है, उसका सीधा सम्बंध इस बात से है कि वह आगे किस तरह काम करेगा।

कहा जाता है कि भारत के कुछ साधु सन्यासी सालों तक अपने हाथों को ऊँचा उठाए या पैरों को मोड़कर बिना हिले-डुले खड़े रहते हैं। कुछ समय बाद उनके शरीर का वह हिस्सा काम में लेने लायक नहीं रहता। उस हालत में यह बहस तो बेमानी ही होगी कि इसका कारण हाथ या पैर की बनावट में निहित है या उसके उपयोग के तरीके में। क्योंकि शरीर का कोई अंग जिस तरह बना है, वही यह तय करता है कि उसका उपयोग किस तरह होगा। कोई दूसरा उपयोग उस अंग का हो भी नहीं सकता। यही बात शायद दिमाग के लिए भी कही जा सकती है। जिस-जिस तरह हम अपने मस्तिष्क का उपयोग करते हैं, वही यह भी तय करता चलता है कि हम भविष्य में उसका उपयोग कर पाएँगे। अगर उसका गलत इस्तेमाल होता रहेगा तो सही तरीके से उसके उपयोग की सम्भावनाएँ कम होती चली जाएँगी। उपयोग उचित होगा तो उसके बेहतर उपयोग की सम्भावनाएँ बढ़ेंगी। यही कारण है कि सीखने से जुड़ी समस्याओं को दिमागी कमजोरी से जोड़कर देखने में और उनके उपचार को ही असम्भव करार देने में हमें सावधानी बरतनी चाहिए। शरीर के एक अंग के रूप में मस्तिष्क का लचीलापन या पुनर्जीवित होने की क्षमता जितनी हम मानते हैं, उससे कहीं अधिक है। जो कुछ वह एक तरह से नहीं पा सकता, वह दूसरी तरह से हासिल करता है। इसके विपरीत, जब हम बच्चों को उनके मस्तिष्क का खराब उपयोग करना सिखाते हैं तो हम उनके मस्तिष्क को क्रमशः कम उपयोगी बनाते चलते हैं।

□ मार्च 21, 1961

आज एंडी ने मेरे साथ लम्बी बैठक की। आखिरकार उसने उस सवाल का हल ढूँढ़ ही लिया जो मैंने उसे करने के लिए दिया था। पर मैं अभी भी यह सोच रहा हूँ कि उसने भला क्या सीखा होगा। बहुत कुछ तो निश्चित रूप से नहीं, क्योंकि मेरी चाहना तो यह थी कि उसे गुणा के बारे में कोई अन्तर्दृष्टि

मिले, जो सम्भव नहीं हुआ। यानी बाद में जब कभी वह हमारे इस सत्र को याद करेगा तो उसे केवल अपनी असफलता, चिन्ताएँ और तनाव ही स्मृति में समाए मिलेंगे। उसे तो अन्ततः सवाल हल करने का सन्तोष भी नहीं मिला। उसे तो बस इतना-सा चैन मिला कि चलो, अब पिंड तो छूट गया।

पर यह बच्चा बेवकूफ नहीं है। अपनी घबराहट और दुश्चिन्ताओं के बावजूद वह कुछ चीजों के प्रति जिज्ञासु है, तेज़ है, उत्साही है। उसकी लेखन-शैली उसकी कल्पना-शक्ति का परिचय देती है। पर वह सहमा हुआ रहता है। गणित के सवाल वह इसलिए नहीं कर पाता, क्योंकि उसका दिमाग बड़ी सुस्ती से एक से दूसरे विचार की ओर बढ़ता है और तब तक उनके आपसी रिश्ते ही खो जाते हैं। वह जितना सीखता है, वह सब याद नहीं रख पाता। इसलिए याद नहीं रख पाता, क्योंकि उसे अपनी याददाश्त पर भरोसा नहीं है। वह हर दिन नए सिरे से सीखने पर मजबूर होता है कि $9 + 7 = 16$ होते हैं, क्योंकि आखिर इसका क्या भरोसा कि बीते कल व आज के बीच कुछ घट न गया हो, या उससे होनेवाली तमाम गलतियों में से एक इस तथ्य को याद रखने में ही उसने न कर डाली हो। उस स्थिति में अपने विचारों पर विश्वास बने भी कैसे, जब पहले आप असंख्य बार गलत सिद्ध हो चुके हों?

जिस असफलता, निराशा और भय के दुष्चक्र में वह फँसा है, उससे अगर वह उबर नहीं पाता तो मैं इस बच्चे के लिए कोई भविष्य देख ही नहीं पाता हूँ। पर यह भी मैं नहीं जानता कि वह यह दुष्चक्र तोड़ेगा कैसे। मुझे तो यह विश्वास भी नहीं है कि हम, जो उम्र में उससे बड़े हैं, यह चाहते भी हैं कि वह इस चक्रव्यूह से बाहर निकले। उसका यों संहमे रहना महज़ संयोग नहीं है। हमने उसे सचेत हो, प्रयास करके डरना सिखाया है ताकि हम उसके आचरण को आसानी से नियंत्रित कर उससे वह सब करवाते रहें जो हम चाहते हैं।

भय और चिन्ता को बच्चों को नियंत्रित करने के औजारों के रूप में मैं स्वयं कितना काम में लेता हूँ, यह देखकर मैं दहल जाता हूँ। यह तब, जबकि मैं सोचता हूँ, कम से कम आशा तो यही करता हूँ, कि मेरी कक्षा में बच्चे अपनी पिछली कक्षाओं से कहीं कम डरते हैं। चेष्टा तो मैं यह भी करता

हूँ कि नियंत्रण और दबाव कम से कम रहे। पर फिर भी बच्चों से काम तो करवाना ही होता है, है न? और फिर इसकी भी तो कोई सीमा रहनी ही चाहिए कि वे कक्षा में क्या कर सकते हैं। काम करवाने के और बच्चों के व्यवहार को नियंत्रित करने के जो तरीके मैं अपनाता हूँ, वे सब अन्ततः भय पर ही टिके रहते हैं। फिर चाहे वह मेरी नाराज़गी का भय हो, स्कूल का हो, या अपने माता-पिता का।

एक यह एंडी है, जिसका भय उसे किसी भी तरह के रचनात्मक सोच या कर्म के लिए अक्षम बना डालता है। एक ओर तो मैं उसके डरों को तोड़ने का प्रयास करता हूँ, दूसरी ओर मैं उससे वे सब काम करवाने के लिए, जो उसे नापसन्द हैं, स्वयं को बाध्य भी पाता हूँ। इसके लिए जो कुछ भी मैं करता हूँ वह सब सज़ा ही होती है, क्योंकि उससे काम करवाने के मेरे सारे प्रयास उसमें ठीक वैसे ही भय पैदा करते हैं जिन्हें मैं बाकी समय तोड़ने की कोशिश में जुटा रहता हूँ। और फिर बच्चे जब दुश्चिन्ताओं की जकड़न और बन्धनों से टूटते हैं तो वे बन्दीगृह से छूटे कैदियों की तरह, या क्रान्ति में जीतनेवालों की तरह, या सेमिनार में आए छोटे शहरों के व्यापारियों की तरह व्यवहार करने लगते हैं। वे बार-बार बात काटते हैं, ज़बान लड़ाते हैं, बदतमीज़ी से पेश आते हैं और उन वयस्कों के लिए सिरदर्द बन जाते हैं जो अब तक उन पर राज करते थे। ऐसे में उसे उसकी जगह बताने के लिए स्कूल और उसके माता-पिता को खुश रखने के लिए, मुझे उसे फिर से डराना पड़ता है। भय से जो मुक्ति मैं उसे एक हाथ से देता हूँ, अगले ही पल दूसरे हाथ से उसे छीनता भी हूँ।

इन सबका क्या कोई अर्थ है भी?

☐ वास्तविक ज्ञान

□ अप्रैल 22, 1958

गणित समिति को नोट :

हम बच्चों को सुझाते हैं कि वे जो कुछ भी करें उसे सोच-समझकर, विचारकर करें। हम उन्हें यह भी बताते हैं कि सही उत्तरों तक पहुँचने का रास्ता भी यही है। पर सच्चाई यह है कि ऐसा करते ही बच्चे प्राथमिक-गणित के विरोधाभासों और अन्तर्विरोधों में उलझ जाते हैं। उलझने पर बच्चे अपने आप से कहते हैं, “अब माथा पच्ची छोड़ो भी, समझ आए न आए अपने सवाल वैसे ही कर डालते हैं, जैसा ये बता रहे हैं।” जो बच्चे स्वयं से यह कहते हैं वे अगले चरण पर आगे बढ़ जाते हैं। पर सोचने-विचारने वाले बच्चे वहीं इस कदर उलझे रह जाते हैं कि उनके शिक्षकों की चेष्टाओं के बावजूद वे उबर नहीं पाते।

पाँचवीं कक्षा का एक समूह भिन्नो के विभाजन सीख रहा था। उन्हें सवाल दिया गया था कि वे 6 को $1/2$ से भाग दें। सवाल उन्हें खुद ही समझकर हल करना था। ये बच्चे अब तक भाग की औपचारिक स्कूली परिभाषा सीख चुके थे। वे जानते थे कि 8 को 4 से भाग देने का अर्थ या तो यह होता है कि 8 में 4 कितनी बार आता है? या फिर यह कि 8 को अगर 4 बराबर भागों में बाँटा जाए तो हर भाग कितना बड़ा होगा? अपने सवाल को हल करने के लिए अधिकांश बच्चों ने भाग का पहला अर्थ लिया, यानी उन्होंने पूछा, 6 में कितने $1/2$ होते हैं? और उन्होंने उत्तर पा लिया - 12। कक्षा की दो लड़कियों ने, जिन्होंने इसके पहले भिन्नो के गुणा ठीक से किए भी थे, भाग का दूसरा अर्थ लेते हुए अपना सवाल बनाया, अगर 6 का आधा किया जाए तो हर भाग कितना बड़ा होगा? उन्हें अपना तार्किक उत्तर मिला - 3।

यह परेशानी उपजी ही इसलिए कि दोनों लड़कियाँ अच्छा सोच रही थीं और मेरी ओर से सोचने में कमी रह गई थी। मैंने ही तो उन्हें यह नहीं बताया था कि भिन्नो के भाग करते समय विभाजन की दूसरी परिभाषा

निरर्थक होती है, उसका इस्तेमाल नहीं किया जा सकता। और बताया इसलिए नहीं था क्योंकि यह मुझे सूझा ही नहीं था। पर क्योंकि विभाजन की दोनों नियम मैंने ही बच्चों को बताए थे, इसलिए लड़कियों ने उन्हें सही माना था। सो उसके अर्थ को उन्होंने तब तक तोड़ा-मरोड़ा जब तक वह उनके सवाल पर लागू न हो। छह को आधा भाग देने का अर्थ यही हुआ कि वे छह को दो आधे भागों में बाँट दें।

यह भ्रान्ति इसलिए और भी पक्की हुई होगी क्योंकि भाषा का सही उपयोग मैं नहीं करता हूँ। मैं भी “भाग” शब्द का प्रयोग जिस तरह करता हूँ वह उसके गणितीय-अर्थ के विपरीत होता है। हम कहते हैं, “केक के चार भाग करो।” यह उस समय कहते हैं जब असल में हम केक को बीच में दो अभिलम्बित रेखाओं से कटवाना चाहते हैं। हम यह भी कहते हैं, “रेखा को दो भाग करो।” हमारा तात्पर्य होता है कि रेखा का मध्य बिन्दु निकालो। हम हमेशा ही किसी चीज़ को आधे में विभाजित करने की बात कहते हैं, जबकि कहना “हमें दो बराबर हिस्सों में बाँटो” चाहिए। इस पृष्ठभूमि में यह समझ आता है कि इन लड़कियों ने छह को $1/2$ से भाग देने का अर्थ उसके दो आधे हिस्से करने के रूप में लिया।

कक्षा के एक काबिल बच्चे ने उनका भ्रम और भी बढ़ाया। उसने समूह को सवाल समझाने के लिए ब्लैकबोर्ड पर लिखा – “छह में कितने आधे होंगे?” तब उसने एक अच्छे चित्र की मदद से समझाया की उत्तर बारह होगा। पर इसके बाद उसने एक भूल की, जो हम वयस्क भी आसानी से कर सकते थे। उसने पूछा, “बारह क्या?” और कुछ क्षण सोचकर लिखा, “बारह आधे = $12/2$ ” पर यह लिखते ही उसने अपनी गलती पकड़ी और सुधार ली। तब तक उन लड़कियों के लिए देर हो चुकी थी। उन्होंने विपक्ष के एक बच्चे को यह सिद्ध करते देखा था कि 6 को $1/2$ से भाग देने का अर्थ $12/2$ यानी 6 होता है। और क्योंकि यह बिल्कुल बकवास था, उन्हें पक्का विश्वास हो गया कि उनका उत्तर ही सही है।

कक्षा के दूसरे बच्चों ने बताना चाहा कि उन्होंने भूल कहाँ की है, पर उनके तमाम प्रयास विफल रहे। जब कभी कोई जंगल में भटक कर खो

जाए तो उसे ढूँढ़ने तो जंगल में वहाँ पहुँचना ही पड़ता है, जहाँ वह भटक रहा हो। पर कक्षा के दूसरे बच्चों को यह पता ही नहीं चल पा रहा था कि वे लड़कियों आखिर कहाँ पहुँच चुकी हैं? उन्हें अपना उत्तर मिला कैसे है? यही कारण था कि बच्चे उनकी कोई मदद नहीं कर पाए। बच्चे भी वही करते रहे जो शिक्षक करते हैं। वे बार-बार अपना सही उत्तर दोहराते रहे। पर उसका कोई असर नहीं हुआ। तब इन लड़कियों को एक बच्चे ने सुझाया कि वे सवाल बोर्ड पर करें। एक लड़की ने सवाल करते हुए लिखा $6 \times 1/2 = 3$ । लड़कों ने फौरन कहा, “अभी तो तुम 6 को $1/2$ से भाग देकर उत्तर 3 पा रही थीं।” लड़की ने अपनी साथिन की ओर देखकर कहा, “देखो, इन लोगों ने हमें फँसा दिया है।” मैं सोचता हूँ कि यह भावना शिक्षक न जाने कितनी बार बच्चों में पैदा करते होंगे।

अब तक उन दोनों में से एक को यह लगने लगा कि उनका उत्तर गलत है। उसने फुसफुसाकर कहा, “अपन लुढ़क गए।” कुछ देर बाद उसने कहा, “6 का आधा करना तो गुणा करने के ही समान है।” उसे अब भी समझ नहीं आ रहा था कि वह खुद ही भाग के बदले गुणा कर रही है। काफी बहस के बाद उसने अपनी सहेली से कहा, “चलो मान लेते हैं कि 6 का आधा 12 होता है। वैसे यह तो मुझे समझ नहीं आया, पर जवाब तो यही है।”

उसके यही शब्द उस नज़रिए को स्पष्ट करते हैं जिससे बच्चे स्कूली दुनिया को देखते हैं। मैंने जितना कुछ पढ़ाया होगा उसका न जाने कितना भाग बच्चों ने इस भावना के साथ ग्रहण किया होगा। जो कुछ मैं बच्चों को बताता हूँ वह अक्सर सामान्य बुद्धि और भाषा के सामान्य उपयोग के विरुद्ध जाता ही होगा, पर उन्हें अपने से बड़ी ताकत के सामने उस सबको भी ग्रहण करना पड़ता होगा, चाहे वे कोई अर्थ पाएँ या न पाएँ।

मैं काफी कोशिशों के बाद आखिरकार उन दोनों लड़कियों को उनकी उलझन से निकाल पाया। मुझे यह तो स्वीकारना पड़ा कि असल में प्रारम्भिक भूल तो मुझसे ही हुई थी। मैं उन लड़कियों की परेशानी समझ भी इसलिए पाया था क्योंकि पिछले कुछ सप्ताहों से मैं अपने ही पढ़ाए गए विषयों

में विरोधाभासों की सम्भावनाओं पर सोचता और बोलता रहा था। फलतः मेरी संवेदनशीलता उस समय चौकन्नी थी। यह उदाहरण हम शिक्षकों को एक ज़रूरी सीख देता है। यह बताता है कि हमें अपने विचारों को, जो कुछ हम कक्षा में कहते हैं उसको, उन लोगों की दृष्टि से देखना चाहिए जो उस विषय में कुछ भी नहीं जानते हैं। जो, कुछ भी सिद्ध किए बिना स्वीकार नहीं कर सकते। जिनके लिए असंगति व विरोधाभास असहनीय है। “प्राथमिक” गणित की तो मुख्य समस्या ही यही है कि हम किस तरह उसे स्पष्ट और सुसंगत बनाएँ। यह काम आसान नहीं होगा।

□ जुलाई 28, 1958

कुछ वर्षों पहले मेरे कुछ दोस्तों ने पूछा था, “कभी सिलिकन पटी देखा है?” मैंने तो उस चीज़ का नाम भी नहीं सुना था। तब उन्होंने उसका एक लौंदा मुझे पकड़ाया। मैंने उसे अच्छी तरह गूँथा, चपटा किया, तब एक पतले से आकार में खींचा। फिर उसके छोटे-छोटे टुकड़े कर डाले। तभी साथियों ने सुझाया, “उसकी एक गेंद बनाकर फर्श की ओर फेंको।” मैंने ऐसा ही किया। मेरी आँखें, मेरा दिमाग, यहाँ तक कि शरीर की एक-एक हड्डी मानो यह पहले से जानती थी कि जब मैं उसकी बनी गेंद फर्श पर फेंकूँगा तो वह फर्श पर फचाक-से फैलकर चिपक जाएगी। पर फिर भी गेंद बनाकर मैंने फेंकी और मेरी आँखें फर्श पर चिपकी रह गईं। गेंद फैलने या चिपकने के बदले उछली और मेरे सिर तक उठी। उस पल मानो पूरी दुनिया ही हिल गई। मैं बिल्कुल डर के कगार पर था। पर अचानक दिमाग ने प्रतिक्रियास्वरूप कहा, “लो, यह तो वापिस उछलती है। बड़ी मजेदार चीज़ है। न जाने आगे क्या-क्या ईजाद कर डालेंगे ये लोग।” और मैं फिर से तार्किक दुनिया में लौट आया।

इस अनुभव ने मन में एक नन्हीं बच्ची की याद ताज़ा कर दी। वह शायद पहली या दूसरी की बच्ची रही होगी। उसकी शिक्षिका ने पूरी कक्षा से कहा कि वे अंग्रेज़ी शब्द ONCE के हिज्जे करें। यह बच्ची तब अचानक फूट-फूटकर रोने लगी। शिक्षिका ने मान लिया की वह इसलिए रोई क्योंकि

उसे शब्द कठिन लगा होगा। पर मुझे लगता है कि वह रोई इसलिए होगी क्योंकि उसने शब्द के हिज्जों का उसकी ध्वनि से कोई तालमेल पाया ही नहीं। उसे वह शब्द बिल्कुल पागलपन भरा लगा होगा। यह सम्भव है कि वर्तनी की जैसी भी समझ उसकी बनी होगी, वह इस शब्द के अजीबोगरीब हिज्जे सुनकर पूरी तरह ध्वस्त हो गई होगी। पर इसके बावजूद वह शायद इस शब्द से समझौता कर लेती अगर उसकी शिक्षिका उसे यह बताने की ज़हमत उठाती कि शब्दों के हिज्जे सचमुच बड़े विचित्र हुआ करते हैं। विचारकों के लिए परेशानी की बात केवल यह नहीं है कि शिक्षक जो कुछ कहते हैं वह उन्हें अर्थहीन लगता है। बल्कि यह भी है कि जो बातें सचमुच अर्थहीन होती हैं शिक्षक उन्हें भी सार्थक चीज़ों की तरह समझते हैं। तब बच्चों को यह लगने लगता है - जो शायद शिक्षक चाहते भी हैं - अगर कोई चीज़ बच्चा समझ नहीं रहा तो उसमें गलती या कमी बच्चों की ही है।

जो कुछ हमें सरल, स्वाभाविक या स्वतः सिद्ध लगता है वह बच्चों को भी ठीक ऐसा नहीं लगता। उदाहरण के लिए हम 10 की संख्या को ही ले लें। हम इसके इतने आदी हो चुके हैं कि हम यह कल्पना ही नहीं कर सकते कि कोई ऐसा बच्चा जो 1 और 0 के चिन्हों को, और उनके प्रतीकात्मक अर्थ को पहचानने लगा हो, उससे अगर अचानक यह कहा जाए कि इन चिन्हों को एक साथ रखने पर वे मिलकर एक ऐसी संख्या की ओर इंगित करते हैं जो उन दोनों से बड़ी है, तो वह बौखला भी सकता है। हमें इस तथ्य की स्पष्ट विचित्रता को उस समय ही स्वीकार लेना चाहिए जब तक हम संख्याओं के लिखित रूप से बच्चों को पहली बार परिचित कराएँ। यह इसलिए ज़रूरी है क्योंकि अन्यथा यह तथ्य ही उनके लिए एक रहस्यमय गुत्थी बन जाएगा। बच्चा 10 के प्रथम साक्षात्कार से ही दंग रह जाएगा। सम्भव है वह इस सदमें से कभी पूरी तरह उबर नहीं सके और उसका दिमाग इस विचार से ही जड़ हो जाए।

वे बच्चे जिन्होंने अपने आप पढ़ना सीखा होता है, ONCE की वर्तनी देखकर या उन सैकड़ों शब्दों को देखकर येने नहीं लगते, जिनकी वर्तनी

और उच्चारण में कोई सामंजस्य न हो। जो बच्चे स्वयं सीखते हैं, या सीखने वाले विषयों का चुनाव स्वयं करते हैं वे असामान्य, अपरिचित या अजीब चीजों से डरते नहीं। आखिर छोटे शिशुओं के लिए तो दुनिया की हरेक चीज़ नई और विचित्र होती है। यह सम्भव है कि इन चीजों के बारे में वे देर तक सोचते रहें या अपनी ओर से उन्हें लेकर तरह-तरह की कल्पनाएँ कर डालें। पर वे इन सब अपरिचित वस्तुओं से चिन्तित नहीं होते हैं। दुश्चिन्ताएँ शुरू तब होती हैं जब सीखने की प्रक्रिया को वयस्क नियंत्रित करने लगते हैं। जब वे अपनी निजी समझ बच्चों पर आरोपित करने लगते हैं, तभी बच्चे यह फिक्क करने लगते हैं कि उन्हें कुछ समझ आ रहा है या नहीं। वे जानते हैं कि अगर उन्हें कुछ समझ न आया तो इस बात पर कभी न कभी वयस्कों से उलझना ही पड़ेगा।

अगर बच्चों को 10 की संख्या से वैसी दोस्ती कर लेने दी जाए, जैसी उनके दोस्तों के साथ वे करते हैं तो वे न तो उसकी विचित्रता से चौंकेगे, न उससे डरेंगे। शर्त केवल यही है कि बच्चा इस संख्या को जितनी बार चाहे, जब चाहे देख सके। और तब अचानक किसी एक दिन वह उसके वैचित्र्य को स्वीकार लेगा। हो सकता है इसके बाद उसे यह याद करके ही अचम्भा हो कि उसे यह संख्या एक समय अजीब भी लगा करती थी।

मैं बचपन में जिस तरह के स्कूल में पढ़ा था वहाँ किसी ने मुझे 10 की संख्या समझाने की कोशिश नहीं की थी। हमारे शिक्षक हमें बिना किसी “स्पष्टीकरण” के ही गणित के सवालों को करने के तरीके बताया करते थे। वे तो यह भी नहीं बताते थे कि किस कारण हम कोई तरीका अपना रहे हैं। जो बच्चे रटने में माहिर नहीं हैं, उन्हें शायद इस तरीके से परेशानी होती होगी। मैं तो अच्छा खासा रटतू तोता था। इसलिए मुझे 10 की संख्या या उस जैसी तमाम दूसरी चीजों के अर्थ स्वयं अपनी तरह से, अपने समय से, समझ पाने के अवसर मिले।

क्योंकि इतना तो तय ही है कि कोई आधा-अधूरा या खराब स्पष्टीकरण देने से कहीं बेहतर होता है कोई भी स्पष्टीकरण न देना।

□ नवम्बर 13, 1958

बच्चों को गणित में अक्सर परेशानी होती है। केवल इसलिए नहीं कि उन्हें तमाम तरह के तथ्य रटने पड़ते हैं, जिनमें न तो समरूपता होती है, न अर्थ मिलते हैं और न ही रोचकता। बल्कि इसलिए भी कि इन तथ्यों के परिचालन के लिए भी तमाम तरह के नियम होते हैं जिन्हें आँख मूँदकर, बिना प्रश्न किए स्वीकार लेना पड़ता है। मुझे स्वयं को तो किसी भी गणितीय-संक्रिया की पुष्टि अंकों की दुनिया में जाकर करनी नहीं पड़ती, क्योंकि मैं तो खुद को यह विश्वास दिला चुका हूँ कि संक्रिया के लिए अपनाई गई विधि सही है। उदाहरण के लिए मैं यह जानता हूँ कि गुणन के पारम्परिक तरीके में आने वाला 24×36 वही है जो $(20 \times 30) + (4 \times 30) + (20 \times 6) + (4 \times 6)$ से भी कहा जा सकता है। पर अगर मैं यह नहीं जानता तो मुझे उस पारम्परिक तरीके का अर्थ भी कैसे समझ आता? ऐसे में अगर मुझे कहा जाता कि “शून्य नीचे उतार लिया जाता है” या “दहाई से गुणा करते समय, इकाई की जगह को खाली छोड़ दिया जाता है,” तो मैं यह भरोसा कैसे कर लेता कि यह सब करने से मैं सही उत्तर तक पहुँच जाऊँगा। मैं अपने वास्तविक ज्ञान या सामान्य बुद्धि के सहारे अपने उत्तर को कैसे जाँच पाता?

क्यूसिनेर छड़ों का सौंदर्य ही इस बात में है कि बच्चे इनकी सहायता से स्वयं ही कई गणितीय संक्रियाएँ सीख लेते हैं, बल्कि वे सब कुछ स्वयं जाँचकर यह भी समझ पाते हैं कि ये संक्रियाएँ सच में कारगर हैं, सच में जो कुछ होता है उसको ही बताती हैं।

“छड़ों का सौंदर्य . . .” मैं अब इसके प्रति शंकालु हो चुका हूँ। बिल व मैं दोनों ही शुरूआत में इन छड़ों के बारे में बेहद उत्तेजित थे। इसलिए कि हम इन छड़ों व संख्याओं के बीच जुड़ाव की सम्भावनाएँ देखते थे। हमने यह मान लिया था कि बच्चे भी इन छड़ों में अंकों की दुनिया को देख सकेंगे और समझ सकेंगे कि सांख्यिक संक्रियाएँ किस तरह काम

करती हैं। पर इस विचार में गड़बड़ यह भी थी कि बिल और मैं तो अंकों की दुनिया को जानते थे। हम तो अपने आप से यह कह सकते थे, “आह, ये छड़ें तो ठीक वैसी ही आचरण करती हैं जैसे संख्याएँ।” पर अगर हम यह न जानते होते तो भी क्या हमें ये छड़ें संख्याओं का आचरण समझाने में मददगार होतीं। शायद होतीं, शायद न होतीं। हमारी कक्षा के कुछ बच्चों को उनसे मदद मिली। पर यह भी स्पष्ट था कि कई दूसरे बच्चों को उनसे कोई मदद नहीं मिल सकी। उतनी ही स्पष्ट बात यह भी थी कि कई या अधिकांश शिक्षकों को उनका उपयोग समझ नहीं आया। उनके लिए इन छड़ों ने न तो अंकों की दुनिया की समझ पैदा की न उनकी संक्रियाओं की। जाहिर ही है कि ऐसे शिक्षक न तो बच्चों को इन छड़ों का सही उपयोग करना सिखा सकते थे न ही उनके माध्यम से बच्चों में गणितीय संक्रियाओं की समझ पैदा कर सकते थे।

□ नवम्बर 26, 1958

क्या क्यूसिनेर छड़ें सच में उन गलत रणनीतियों पर काबू करने में सहायक होती हैं, जिन्हें बच्चे स्कूलों में काम में लेते हैं? क्या इन तरीकों का इस्तेमाल बच्चों में उनकी रणनीतियों के असर की सम्भावनाओं को पूरी तरह खत्म

1. क्यूसिनेर छड़ों का जिक्र है सो उसके बारे में कुछ कहना भी जरूरी होगा। इनको ईजाद किया था बेल्जियम के एक स्कूल मास्टर ने, जिनके नाम से ये प्रसिद्ध भी हैं। यह लकड़ी की बनी छड़ें या पट्टियों का सैट होता है, जो 1 से.मी. चौड़ा और 1 से.मी. ऊँचा होता है। छड़ों की लम्बाई 1 से 10 से.मी. की होती है। हर लम्बाई की छड़ का रंग भी अलग-अलग होता है। 1 से.मी. की छड़ सफेद, 2 से.मी. की लाल, 3 से.मी. की हल्की हरी, 4 से.मी. की किरमिज (जिसे बच्चे अक्सर गुलाबी कहते हैं), 5 से.मी. की पीली, 6 से.मी. की गहरी हरी, 7 से.मी. की काली, 8 की भूरी, 9 की नीली व 10 से.मी. की नारंगी रंग की होती है।

इनके बारे में लिखते समय मैं उन्हें उनके रंग के नाम से ही पुकारूँगा, पर याद दिलाने के लिए संख्या भी लिख दूँगा - जैसे पीली (5)।

छड़ों का आविष्कार तो क्यूसिनेर ने किया था, पर गणित व मनोविज्ञान के ब्रिटिश प्रोफेसर डॉ. क्लेब गैटमनो ने उनके उपयोग को बढ़ाया व परिष्कृत किया। उनके ही प्रयासों से इन छड़ों का उपयोग (व दुरुपयोग) अमरीका और कई अन्य देशों के स्कूलों में प्रारम्भ हुआ।

कर देता है? मैं अपनी पुरानी छात्रा एमिली जैसे किसी बच्चे की कल्पना करता हूँ। मैं पूछता हूँ, बताओ तो 4 हिस्सों में से 3 लें तो उसे क्या कहेंगे?” “तीन-चौथाई।” “तीन हिस्से के चार?” “चार-तिहाई।” “5 में से 4?” “चार बटा पाँच।” “4 के 5?” “पाँच-चौथाई।” यह सच है कि मैं हमेशा अपने छात्रों से कहता हूँ कि वे छड़ों को ध्यान से देखें, तब समझकर जवाब दें। पर क्या वे सच में उन्हें देखकर, बात समझकर ही जवाब देते हैं? क्या बच्चे फिर से हमारे शब्दों को धकेलने का खेल नहीं खेलने लगते हैं? अगर मैं एमिली जैसे किसी बच्चे से उसी कड़ी में यह भी पूछ बैठता, “बताओ भला, ब्लिप का ब्लॉप क्या होता है?” तो क्या वह जवाब में मुझे “ब्लिप ब्लॉपाई” न कह देती? और “ब्लॉप का ब्लिप?” “ब्लॉप ब्लिपाई।” सच बताइए क्या यह ऐसी स्थिति में बिल्कुल सही रणनीति न होती? सही उत्तर तो ऐसे ही मिलते हैं। मुझे लगता है कैरोलिन व मॉनिका ठीक यही करती हैं। और जिल, उसे भी तो मैंने उस रोज़ यह कहते सुना था, “जो संख्या पहले बोली जाए उसे . . .” बच्चों को ये छड़ें थमा देने भर से, उन्हें देखने को कहने भर से, उन रणनीतियों को पछाड़ा नहीं जा सकेगा।

ऐसी रणनीतियों से निपटने का एक तरीका तो यह है कि हम अपने सवालों का रूप बदलते रहें। पीली (5) छड़ उठाकर पूछें, “अगर यह 1 है तो इसका 3/5 मुझे दिखाओ।” या फिर, “अगर यह 2 है तो 4 क्या होगा?” शायद ऐसे सवाल यह सुनिश्चित करें कि बच्चे छड़ों के आपसी सम्बंधों को समझ रहे हैं।

फिर, ऐसे सवाल भी तो बनाए जा सकते हैं जिनका उत्तर देने के लिए शब्दों का सहारा न लेना पड़े? ऐसे सवाल जिनके उत्तर कुछ करने या दिखाने से दिए जाते हों?

“ऐसे सवाल जिनके उत्तर कुछ करने?” यह विचार अपने आप में बहुत पुराना था, पर बहुत दूर यह भी नहीं ले जाता था। बच्चों से ऐसे सवाल पूछना, जिनका जवाब कुछ कहने के बदले कुछ करने से मिलता हो, यह बदलाव कोई भारी अन्तर करने वाला नहीं था। क्योंकि

उत्तर सही है या नहीं, इसकी पुष्टि पाने के लिए बच्चों को फिर भी हम शिक्षकों के भरोसे ही रहना पड़ता था। हमें तो असल में ऐसी गतिविधियों की, ऐसी पहेलियों की ज़रूरत थी जिनमें बच्चों को दो उलझे छल्लों को सुलझाना हो या किसी गेंद को किसी छेद में डालना हो। किसी चित्र-पहेली के टुकड़ों को जोड़कर पूरा चित्र बना लेने के बाद क्या कभी कोई बच्चा किसी वयस्क से यह जानना चाहता है, “क्या मैंने चित्र-पहेली ठीक से बनाई है?”

मुझे इस विषय पर और भी कहना है, पर फिलहाल नहीं। तब कहूँगा, जब हम गणित प्रयोगशाला पर चर्चा करेंगे।

□ दिसम्बर 6, 1958

बिल हल की कक्षा का अवलोकन करते हुए :

उस दिन मैं तुम्हें कक्षा के साथ छड़ों पर काम करते देख रहा था। तुम दो छड़ें उठाकर उनसे पूछ रहे थे कि एक छड़ दूसरे की क्या है? मैंने गौर किया कि कुछ देर बाद, तुम पहले यह पूछने लगे थे कि छोटी छड़ बड़ी की क्या है। बच्चे तुम्हें अपने उत्तर भिन्न संख्याओं में दे रहे थे, जिसमें वे छोटी संख्या को अंश बता रहे थे और बड़ी को हर। मैंने पाया कि अगर वे तुम्हें पल भर भी रुकते या झिझकते पाते तो तुरन्त अपना उत्तर उलट देते थे। अगर उन्होंने पहले 5 बटा 7 कहा होता तो उसे 7 बटा 5 कर देते थे। ऐसा करते मैंने तीन बच्चों को देखा - रेशल, बारबरा और एक लड़का।

बारबरा ने ही मुझे सबसे अधिक त्रस्त किया। आखिर वह एक विचार करने वाली समर्थ बच्ची है। तुम्हारे हाथों में काली (7) और नीली (9) छड़ें थीं। पहले जिस तरह सवाल पूछे थे उससे हटकर तुमने यह पूछा, “नीली छड़ काली की क्या है?” उसका उत्तर था, “सात बटा नौवा हिस्सा।” तुम क्षण भर को झिझके। उसका चेहरा लाल हो गया। वह छड़ों को नहीं देख रही थी, तुम्हें ही घूर रही थी। तब तुरन्त उसने बात बदली और

कहा, “नौ बटा सात।” उसके चेहरे से उसकी आवाज़ से या हावभाव से, यह नहीं लग रहा था कि उसे इस बात का कोई भी इल्म है कि उसका पहला जवाब सही था या दूसरा। और अगर बारबरा इस बारे में निश्चित नहीं थी तो दूसरों के बारे में तो मैं सोचने से भी डरता हूँ।

इन छड़ों का उपयोग तो यही है न कि गणित की जादू-टोना सी लगने वाली संक्रियाओं को हम मूर्तरूप देकर समझा सकें। पर अब तो यह डर लग रहा है कि ये छड़ें भी उस जन्तर-मन्तर का ही हिस्सा न बन जाएँ। मॉनिका से यह कहना कि वह छड़ों को देखे और तब जवाब दे, बेकार ही होगा अगर उसे उन छड़ों में कोई उत्तर दिखता ही न हो। ऐसे में उसके सामने हल करने के लिए एक नहीं, दो-दो गुत्थियाँ आ खड़ी होंगी।

□ दिसम्बर 7, 1958

एक दिन मैं अपने बच्चों को यह समझाने की कोशिश कर रहा था कि विभाजन की संक्रिया कोई ऐसा करिश्मा नहीं है जो केवल उन लोगों के बस का हो जो अंक जानते हैं। मैं बता रहा था कि जो अंकों से अनभिज्ञ हों वे भी विभाजन कर सकते हैं। मैंने उदाहरण देते हुए समझाया कि वे यह मान लें कि उनके पास एक थैली में कंचे हैं और उन्हें वे सारे कंचे चार जनों को बाँटने हैं। तो इसका सीधा उपाय यह होगा कि चारों जनों को तब तक एक-एक करके कंचे थमाते जाएँ, जब तक सारे कंचे शेष न हो जाएँ। पर पैट और उसके एक साथी को दूसरा उपाय सूझा। पैट ने अपने पर्चे पर जो उत्तर लिखा वह यह था :

“थैली को स्केल से नापा जाए। मान लो थैली 8 इंच की है तो हर 2 इंच बाद उसमें निशान लगा दिया जाए। यहाँ उसने एक सुन्दर चित्र बनाया था, जिस पर 2 इंच के बाद एक रेखा खिंची हुई थी। उसके बाद हर 2 इंच पर से थैली काटकर कंचे बाँट दिए जाएँ।”

एक दूसरे बच्चे ने दूसरे शब्दों में यही बात लिखी थी। मैंने उनसे अलग-अलग बात की। मैंने कहा, “मान लो मेरे हाथों में कंचों से भरी

एक बड़ी-सी थैली है। (मैंने हाथ में एक भारी थैली उठाने का नाटक किया)। यह मेरा दूसरा हाथ है जिसमें मैंने कैंची पकड़ी है। अब मैं कैंची थैली के पास लाता हूँ और उसे काटने लगता हूँ (मैंने अब उस काल्पनिक थैली को कैंची से काटने का नाटक किया)। बताओ तो, थैली कटने पर क्या होगा?" इस पर पैट के मुँह से निकला, "ओह!" उसके साथी हँस पड़े। उन दोनों बच्चों ने कहा, "सारे कंचे फर्श पर बिखर जाएँगे।" तभी वे समझ सके कि उन्होंने दी गई समस्या का जो हल निकाला था, वह कतई निरर्थक था।

फिर भी मेरा दावा है कि अगर इन बच्चों को कभी कंचों की थैली सच में चार लोगों में बाँटनी होती तो वे बेवकूफी से उसे काटने नहीं बैठ जाते। ऐसा वे केवल स्कूल में ही सोचते हैं।

इस घटना से मुझे वह बात याद हो आई जो मेरे साथ स्कूल में घटी थी। मेरा एक दोस्त रसायनशास्त्र की परीक्षा की तैयारी कर रहा था। वह उन सभी लवणों की सूची कंठस्थ करने में लगा था जो पानी में घुल जाते हैं। उसने पढ़ते-पढ़ते मुझे बताया कि कैल्शियम कारबोनेट पानी में घुल जाता है। मैंने उससे पूछा कि वह ऐसी कुछ चीजों के उदाहरण मुझे बताए जो कैल्शियम कारबोनेट से बनी हों। उसने कहा, "चूना, ग्रेनाइट व संगमरमर।" मैंने पूछा, "क्या तुमने इन चीजों को कभी बरसात में घुल जाते देखा है?" उसने इस बात पर कभी विचार नहीं किया था। रसायनशास्त्र की उसकी पढ़ाई में और वास्तविक जीवन में, एंड्रिक जगत में और सामान्य बुद्धि के जगत में कहीं कोई सम्बंध था नहीं।

□ फरवरी 6, 1959

मन में एक बात उपजी है। लगता है कि अगर मैं बच्चों से दो रेखाएँ खींचने को कहूँ जिनमें से एक दूसरे का पाँच बटा सात हो तो शायद वे एक 5 इंच लम्बी रेखा खींचे और दूसरी 7 इंच लम्बी। पर अगर मैं तब उनसे आगे यह कहूँ कि वे दो और रेखाएँ बनाएँ, जिसमें एक

रेखा दूसरे की पाँच बटा सत्रह हो तो क्या हो? कितने बच्चे तब मेरे पास आकर कहेंगे कि यह तो हो ही नहीं सकता, क्योंकि कागज पर सत्रह इंच लम्बी रेखा खींची ही नहीं जा सकती?

समझ के बारे में अक्सर यह कहा जाता है कि वह जितनी साफ और गहरी होगी, उतना ही व्यापक उसका उपयोग हो सकेगा। अगर यह सच है तो हमें बच्चों को भिन्नों के विचार से परिचित करने के लिए विविध उपाय सोचने पड़ेंगे। ऐसे काम सोचने पड़ेंगे, जिनमें भिन्नों को काम में लेना पड़ता हो।

मुझे तो लगता है कि मैं स्वयं भी अब राशि के रूप में भिन्न और कारक के रूप में भिन्न के बीच का जो अन्तर होता है, उसे समझने लगा हूँ। अगर यह कहा जाए कि $1/2 + 1/3 = 5/6$ तो इसका अर्थ यही होगा कि 1 के $1/2$ में अगर 1 का $1/3$ जोड़ दिया जाए तो वह 1 के $5/6$ के बराबर होगा या यह कि किसी चीज़ के आधे हिस्से में अगर उस चीज़ का एक तिहाई हिस्सा मिला दें तो यह योग उस चीज़ का $5/6$ हिस्सा होगा।

पर ज़रा ठहरिए। क्या सभी संख्याएँ कारक नहीं होते हैं? जब हम कहते हैं $2 + 3 = 5$ तब क्या हमारा अर्थ यह नहीं होता कि अगर किन्हीं दो वस्तुओं में 3 वैसी ही वस्तुएँ मिला दी जाएँ तो हमारे पास वैसी 5 वस्तुएँ हो जाएँगी? यानी कि जब हम गणित सिखाते हैं तो क्या हम हमेशा ही जाने या अनजाने बीजगणित नहीं सिखाते होते? कहीं ऐसा तो नहीं है कि हमारे सामने आने वाली कठिनाइयाँ और भ्रम पैदा ही इसलिए होते हैं, क्योंकि हम ठीक यही बात नहीं समझ पाते। गणित में जब हम $2 + 2 = 4$ कहते हैं तो असल में इसका अर्थ यही होता है, 2 क + 2 क = 4 क।

हमारी आम धारणा है कि भिन्नों को तब तक जोड़ा नहीं जा सकता, जब तक उनके हर समान न हों। पर यही बात संख्याओं पर भी तो लागू

1. कक्षा के प्रायः सभी बच्चों ने यह बात कही।

होती है। उदाहरण देखें : 2 घोड़े + 3 घोड़े = 5 घोड़े होते हैं, पर 2 घोड़े + 3 मालगाड़ियाँ = क्या होंगी? उन्हें शायद 5 वस्तुएँ ही कहा जा सकता है। पर ऐसा करते ही हमने घोड़ों और मालगाड़ियों को एक-सा हर ही तो दिया - हमने उन्हें चीजें मान लिया।

मुझे काफी समय से यह लगा करता था कि गणित को “समझने” का मामला जितना पेचीदा, सतही तौर पर लगता है, असल में वह उससे कहीं अधिक जटिल है। सच्चाई तो यह है कि सरल गणित में दरअसल कोई “सारल्य” है ही नहीं। यह कल्पना ही थोथी है कि कोई भी सहृदय और भली महिला बिना सोच-विचार के बच्चों को गणित “समझा” सकेगी।

जल्दी ही हमने पाया कि हमारा यह सोचना भी कि गणित में पीएच. डी. धारी कोई व्यक्ति बच्चों को गणित “समझा” सकेगा, इतना ही बेवकूफी भरा था। कभी-कभार किसी गणित के प्रोफेसर साहब के नेतृत्व में गणित का कोई आन्दोलन कुछेक अच्छे तरीके ज़रूर ला सकता है। पर यह भी सच है कि गणित-शिक्षण को बेहतर बनाने में ऐसे विशेषज्ञों का योगदान नगण्य रहा है। हाँ, उनके कुछ प्रयासों ने गणित-शिक्षण को पहले से अधिक जटिल और खराब अवश्य बनाया है।

मुझे तो इस बात पर ही शंका है कि हम किसी को भी कुछ समझना सिखा सकते हैं। यानी हम किसी को किसी चीज़ के अलग-अलग हिस्सों के परस्पर सम्बंधों को देखना, उस पूरे ढाँचे का एक दिमागी प्रारूप बनाना नहीं सिखा सकते। यह तो सम्भव है कि हम दूसरों को कुछ नामों की सूचियाँ दे दें, पर मानसिक ढाँचा तो नहीं दे सकते। वह तो उन्हें स्वयं ही बनाना पड़ता है। कुछ लोगों का दावा है कि ज्ञान या अनुभव के किसी भी क्षेत्र को प्रश्नोत्तरों की एक कड़ी में बदला जा सकता है। इसे वे प्रोग्राम्ड लर्निंग कहते हैं। ग्यारहवीं कक्षा के एक लड़के ने दो वर्षों तक इस विधि से गणित सीखी थी। उसने एक दिन, शायद अंजाने ही, इस विधि पर प्रकाश डाला। उसने कहा, “अगर लोग मुझसे

1. तीन वर्षों बाद अचानक मैंने एक दिन बोर्ड पर पहली कक्षा के बच्चों के लिए एक सवाल लिखा : 2 घोड़े + 3 गाएँ = ? कई बच्चों ने जवाब में लिखा 5 जानवर।

सवाल करें तो उनके प्रायः सभी जवाब मैं याद कर बता सकता हूँ। पर सवाल मुझे याद नहीं होते।” ठीक यही मेरा भी मन्तव्य है।

□ मार्च 8, 1959

हमारे इस स्कूल में यह धारणा लोकप्रिय है कि अगर बच्चे भिन्नो के सवाल करते समय जो कुछ वे कर रहे हों, उसके चित्र भी बनाएँ तो अपना काम समझ सकेंगे, गलतियाँ नहीं करेंगे। इस धारणा का एक उदाहरण कुछ दिनों पहले मेरी नज़र में आया। पैट सवाल कर रही थी : $1/2 + 1/3 = ?$ उसने सवाल पर कुछ विचार किया। तब दो आयत बनाए। दोनों को तीन-तीन हिस्सों में बाँटा। एक आयत के दो हिस्सों को रंगा और लिखा, “यह $1/2$ है।” दूसरे के एक तिहाई भाग को रंगा और नीचे लिखा, “यह $1/3$ है।” कुछ देर तक वह अपने चित्रों को देखती रही। फिर उसने अपना उत्तर लिखा, “ $1/2 + 1/3 = 1$ पूरा।” चेहरे पर संतोष और विजय का भाव दर्शाती हुई वह आराम से बैठ गई।

हेस्टर ने लिखा, “ $1/2 + 1/3 = 3/4$ ” बारबरा उसके पास बैठी थी। उसने तुरन्त टोका, “नहीं, $1/3$ और $1/4$ एक से नहीं होते हैं।” मुझे भी कुछ समय यह समझने में लगा कि वह कहना क्या चाह रही है। तब लगा कि क्योंकि वह जानती है कि $1/2 + 1/4 = 3/4$ होता है। तो ज़ाहिर है कि $1/2 + 1/3$, $3/4$ के बराबर नहीं हो सकते। वह एक ऐसी बच्ची है जो हरेक चीज़ को विभिन्न कोणों से देखती है और तब उसका अर्थ समझना चाहती है। पर ऐसे बच्चे तो बिरले होते हैं।

मैंने उस दिन मॉनिका से पूछा कि किसी एक चीज़ में कितने तिहाई हिस्से हो सकते हैं? उसने जवाब दिया था, “यह तो इस बात से तय होगा कि चीज़ कितनी बड़ी है।” अगर हम अपने छात्र-छात्राओं के दिमाग में झाँकें तो यही विचार कितनों के दिमाग में मिलेगा? वे इतना तो भाँप ही लेते हैं कि इसमें कुछ गड़बड़ है, सो इसे साफ-साफ कहना नहीं चाहिए। पर चुप रहते हुए भी कितने बच्चे ऐसा सोचते होंगे?

पैट कभी-कभी वास्तविक दुनिया से भी जुड़ी रहती है। मैंने पूछा था, “बताओ तो तुम किसी चीज़ का एक तिहाई हिस्सा खाना चाहोगी या फिर एक चौथाई हिस्सा?” उसने फट से कहा, “यह तो इस बात से तय होगा कि वह चीज़ क्या है?”

छुट्टियों से लौटने के तुरन्त बाद मैंने एक दिन बच्चों को छड़ें पकड़ाई और उनसे कहा कि वे उनकी मदद से यह जानने की कोशिश करें कि $1/2 + 1/3$ कितना होगा। जहाँ तक मुझे याद है, मैंने कोई इशारा उन्हें नहीं दिया था। अधिकांश बच्चों ने काफी खटर-पटर के बाद 6 से.मी. या 12 से.मी. की छड़ें निकालीं, उसका आधा ढूँढा, तब उसका एक तिहाई और मुझे जवाब में $5/6$ दिया। पर मैं इस सवाल को उन्हें फिर से देते डरता हूँ। कुछ बच्चे शायद सवाल बिना छड़ों के कर सकें, पर अधिकांश नहीं कर पाएँगे।

बैटी ने कहा, “ $2/4 + 3/5$, एक या उससे अधिक के बराबर होता है। क्योंकि एक भिन्न में तो 1 पूरा करने के लिए दो पाँचवें हिस्से चाहिए और दूसरे में दो चौथाई हिस्से, सो उत्तर एक से अधिक होना चाहिए।” अद्भुत बच्ची है। पर किसी भी परम्परागत स्कूल में उसे “सुस्त” छात्रा ही माना जाएगा और शायद वह वैसी बन भी जाएगी। उसे चीज़ों को हर कोण से देखना पसन्द है, ताकि वह जो कुछ कर रही है उसके अर्थ या अर्थों को समझ सके। पर ज़ाहिर है, स्कूल में प्रगति करने का यह तरीका नहीं है।

बाद में उसने किसी से पूछा, “20 का एक तिहाई कितना होगा, आधे हिस्सों के बिना बताना?”

उसके भी बाद, जब बच्चे $1/2 + 1/4$ पर काम कर रहे थे तो मैंने कुछ टिप्पणियाँ सुनीं :

रैल्फ : जवाब $3/4$ है, पर यह न पूछना कि हमने सवाल कैसे किया।

जिल : क्या? 1 और 1 जोड़ कर 3 मिला?

1. और बाद में उसके गणित शिक्षकों में से एक ने कहा भी कि वह एक “सुस्त” बच्ची है।

बैटी : मैं उस तरह से नहीं कर रही हूँ, मैं कायदे से कर रही हूँ।

बाद में $1/5 + 3/10$, पर काम करते हुए :

बैटी : जवाब है $5/10$ या $1/2$ ।

जिल : पर 5 तो 10 का आधा नहीं है, और 10, 3 का आधा नहीं है।

जेन ने अपने आप से सोचते हुए कहा, “आठ 24 में तीन बार जाता है। तीन 24 में कितनी बार जाएगा?” उत्तर पाने में काफी समय लगा।

स्कूल में “बार जाता है” कहने के विरुद्ध अभियान है, पर बच्चे हमेशा बिना नागा यही कहते हैं।

□ अप्रैल 24, 1959

अगर बच्चों को यह लगता है कि इस सृष्टि का सिर-पैर समझा नहीं जा सकता है, तो इसका कारण शायद यही है कि हम उसके वर्णन के लिए जिस भाषा को काम में लाते हैं, वह अर्थविहीन होती है। यह न कहना चाहें तो भी इतना तो हमें कबूलना ही पड़ेगा कि जगत के हमारे निजी अनुभवों और उसके वर्णन में अन्तर्विरोध तो होते ही हैं।

स्कूल का सबसे अहम काम है बच्चों के हाथों एक औज़ार थमाने का। यह औज़ार है भाषा। इसकी सहायता से बच्चे अपने आसपास की दुनिया व जीवन के विषय में सोचना और बोलना सीखते हैं। पर शायद यह कहना बेहतर हो कि हम, उनके पास भाषा का जो औज़ार पहले से होता है, उसे माँजते हैं। पर इस काम को करते समय हम ऐसे पेश आते हैं मानो भाषा का यह औज़ार पूरी तरह निर्दोष हो, और बच्चों को केवल उसका सही उपयोग बताना भर काफी हो। पर सच्चाई यह है कि भाषा का यह औज़ार त्रुटियों से भरा होता है। अगर हम इसकी कमियों के बारे में सजग होते तो बच्चों को शुरू से ही चेताते चलते। यह बच्चों को बताते कि भाषा की सहायता से जिस जगत का वर्णन करने की हम कोशिश करते हैं, वह जगत भाषा के ख़ाँचे में सिमट नहीं सकता। हम

बच्चों को भाषा के विरोधाभासों, उसके अन्तर्विरोधों की बात भी बताते। उन्हें आगाह करते कि भाषा और अनुभव में कहाँ-कहाँ फ़सले रह जाते हैं। तभी शायद हम बच्चों को वे उपाय भी बता पाते, जिससे भाषा अपनी सीमाओं को लाँघने में सक्षम बन उठती है।

विशेषणों को ही लें। उनमें से कई तो सैद्धान्तिक रूप से कहने के लिए पूर्ण होते हैं : गोल, नीला, हरा, चौकोर। पर कई विशेषण तुलनात्मक होते हैं। जैसे लम्बा, नाटा, पतला, मोटा, भारी, हल्का, ऊँचा, नीचा, पास, दूर, सरल, कठिन, तेज़, कोमल, गरम, ठंडा। इनमें से किसी का अर्थ अपने आप में सम्पूर्ण नहीं होता। लम्बा या नाटा तो किसी वस्तु या व्यक्ति की तुलना में उससे अधिक लम्बा या नाटा ही हो सकता है। पर जब उन्हें हम काम में लेते हैं तो यह आभास देते हैं मानो इनका अर्थ अपने-आप ही समझ में आता हो। जाने कितनी बार ऐसा होता होगा कि कोई बच्चा किसी एक वस्तु के लिए किसी दिन ऊँचा विशेषण सुने तो दूसरे ही दिन नीचा, या किसी चीज़ को आज गरम, तो कल ठंडा कहलाते सुने। फिर हम यह आभास भी तो देते हैं मानो शब्दों के अर्थ सुनिश्चित हों। पर साथ ही हम स्वयं उनका अर्थ बदलते भी चलते हैं। जो शोरबा ठंडा हो चुका है वह किसी शिशु के लिए फिर भी गरम ही बना रहता है। बिल्ली के उस बड़े बच्चे का नाम मिडनाइट है, पर उससे छेड़छाड़ न करना वह अभी बहुत छोटा है। घोड़े बड़े जानवर होते हैं, उस छोटे-से घोड़े को देखो (फिर चाहे वह छोटा घोड़ा उस बच्चे से आकार में तिगुना बड़ा ही क्यों न हो।) वाह तुम तो अब बहुत बड़े बच्चे हो गए हो। नहीं, उसे न उठाना, अभी तुम छोटे हो न। बच्चे इस तरह के तमाम विरोधाभासों के आदि हो चलते हैं। पर सवाल तो यह है कि यह आदत उन्हें बौद्धिक रूप से स्वास्थ्यप्रद व आवश्यक समझौतों की ओर ले जाती है या केवल उत्पादन-रणनीति की ओर? क्या यह सही होगा कि हम पहली कक्षा के बच्चों से इस बात पर भी चर्चा करें कि हम किसी पर्वत को छोटा और किसी बिल्ली के बच्चे को बड़ा क्योंकर कहते हैं? या बच्चों के लिए यह समझना सहज है ही?

और फिर जिस तरह हम व्याकरण सीखते हैं, वह भी तो बच्चों को भ्रमित करता है। हम संज्ञाओं और विशेषणों की बात तो ऐसे करते हैं मानो वे बिल्कुल पृथक् ही हों। पर वास्तविकता यह है कि वे अक्सर एक-से होते हैं। हम कहते हैं कि हरी गेंद, हरा लट्ठू, हरी साइकिल, हरा जानवर, हरा खिलौना, इन सब में साम्य यह है कि सबके सब हरे (विशेषण) हैं और खिलौने (संज्ञा) हैं। जब हम उन्हें हरे शब्द से परिभाषित करते हैं, तो वे सब उस श्रेणी में आ जाते हैं जिसमें सभी हरी रंगधारी वस्तुएँ रखी जा सकती हैं। पर जब हम उन्हीं चीज़ों को खिलौना कहते हैं तो वे उन वस्तुओं की श्रेणी में आ जाते हैं, जिनसे बच्चे खेला करते हैं। फिर बच्चों से हमारी अपेक्षा यह क्यों रहती है कि वे इन दोनों श्रेणियों में कोई खास अन्तर ढूँढ सकेंगे। ऐसा क्यों है कि किसी गेंद के हरेपन को उसके गेंदपन से अलग समझा जाता है? ये दोनों तो उसे वस्तु के बारे में कुछ बताते ही हैं न। हम बच्चों को तो यह समझाते हैं कि वाक्य के विभिन्न पदों का सम्बंध उनके अर्थों पर आधारित है, जबकि वास्तविकता यह है कि इस अन्तर का सम्बंध किसी वाक्य में शब्दों के स्थान से है।

□ अप्रैल 30, 1959

उस दिन नैट से पूछा गया कि उसने भिन्नों का एक सवाल कैसे हल किया? जवाब में उसने कहा, "मैंने गौर किया है कि भिन्नों में हमेशा एक विकर्णी सम्बंध होता है।" असल में नैट किसी ऐसे नियम को तलाश रहा था जो भिन्नों के सभी सवालों पर लागू किया जा सके। इधर इलेन अब भी भिन्नों का जोड़ करते समय ऊपरी और निचली संख्याओं को जोड़ देती है। (+ का अर्थ जोड़ना ही तो होता है, सो जब भी + का निशान दिखे तो जो कुछ सामने हो उसे जोड़ना ही चाहिए।)

मैंने नैट को एक सवाल हल करते देखा। $1/3 + 1/4 = ?$ उसने सबसे पहले समानान्तर भिन्नों की सूची बनाई : $1/3, 2/6, 4/12, 8/24$ आदि। फिर यही उसने $1/4$ के साथ भी किया : $1/4, 2/8, 4/16, 8/32$

आदि। पर उसे दोनों भिन्नो में समान हर संख्या मिली ही नहीं। वह उलझ गया। आखिरकार सैम को उसे बताना पड़ा कि $1/4$ को $6/24$ भी लिखा जा सकता है।

नियमों की अनुपालना। लगता है हमारे कुछ बच्चे उस आदमी के समान हैं जो एक टैंक में बैठकर जा रहा हो। वह दुनिया को अपने छोटे-से झरोखे से देखता है। तब किसी एक लक्ष्य को चुनकर उसकी ओर बढ़ता है। पर एक छोटा-सा झटका भी लगे तो वह राह भटक जाता है। उसका लक्ष्य ही खो जाता है। उसे तब यह भी मालूम नहीं होता है कि वह कहाँ से चला था, कितनी दूर पहुँचा है, यहाँ तक कि अब वह है कहाँ?

पहली कक्षा का एक विद्यार्थी अपनी अभ्यास पुस्तिका में सवाल कर रहा था। सवाल नई तरह के थे। उनके उत्तर भी साथ में दिए गए थे। कुछ सही तो कुछ गलत। उन्हें जाँचकर, समझकर बच्चों को सही या गलत का निशान हर उत्तर के आगे लगाना था। उसने फटाफट पहले तीन-चार उत्तरों के सामने सही का निशान लगा दिया। जिस रफ्तार से उसने यह किया, उससे उसके शिक्षक चौंके। उन्होंने जानना चाहा कि उत्तर सही है या गलत, यह उसने तय कैसे किया? उसने जवाब में कहा, “ओह, करीब इस जगह ही वे हमेशा एक गलत उत्तर डाल देते हैं।”

बच्चों के नियम। अब मैं बच्चों द्वारा भिन्नो के सवालों के लिए ईजाद किए गए नियमों में कोई बुराई नहीं देख पाता, जबकि यह सच है कि उनमें से कई निहायत बेसिर-पैर के लगते हैं। आखिरकार कैपलर ने भी सूर्य के इर्द-गिर्द परिक्रमा करने वाले ग्रहों की गति के नियम ढूँढते वक्त कई तुक्के भिड़ाए थे। और वह भी तब जब वे पच्चीस वर्षों तक उनका अध्ययन कर चुके थे। हाँ इन नियमों में एक खतरा ज़रूर है। वह यह कि उनके बनाए ये नियम सही काम करते हैं या नहीं, यह तय करने का बच्चों के पास कोई उपाय नहीं था। उन्हें वास्तविकता, आन्तरिक तर्क या सुसंगति की सहायता से उन नियमों को जाँचना नहीं आता था। उन्हें तो अपना काम शिक्षकों के पास ही ले जाकर पूछना पड़ता था, “यह सही है क्या?”

इतना ही नहीं, उनके खोजे-बनाए नियम कल्पना की उड़ानें भरने वाले थे। अव्यवस्थित और वास्तविकता से कटे हुए। जब कभी वे भूले-भटके एक ऐसा नियम भी ढूँढ लेते थे जो सही होता (यानी जब उनका कोई ऐसा शिक्षक उन्हें सौभाग्य से मिल जाता जो उनके तरीके को सही करार देता) तो वे न तो उस नियम को याद ही रख पाते थे, न ही यह जान पाते थे कि उस नियम के सहारे वे सवालों को कैसे हल करें।

□ जून 15, 1959

बच्चे स्कूलों में एक खास तरह की रणनीति का बराबर इस्तेमाल करते हैं। अच्छे शिक्षार्थी भी कई बार उसे काम में लाते हैं। और खराब तो हमेशा ही उसका इस्तेमाल करते हैं। दबाव की स्थितियों में हरेक शिक्षार्थी उसे काम में लाता है। इस रणनीति को परिभाषित करने का एक तरीका यह है कि यह रणनीति समस्या केन्द्रित न होकर उत्तर केन्द्रित होती है। यह अन्तर हम दो तरह के दृष्टिकोण वाले व्यक्तियों के किसी समस्या से निपटने के तरीके को देखकर समझ सकते हैं।

जिस व्यक्ति का दृष्टिकोण समस्या केन्द्रित होता है वह हमेशा किसी भी समस्या को किसी दी गई परिस्थिति का ऐसा वर्णन मानकर चलता है जिसमें कुछ तथ्य गायब होते हैं। यानी वह यह मानता है कि परिस्थिति में ही एक सम्बंध या परिणाम है जिसका बयान नहीं हुआ है और जिसे उन्हें ढूँढना है। तब वह उस परिस्थिति पर विचार करता है। उसे अपने दिमाग में रचता है। जब वह उसे पूरा का पूरा देख पाता है तो अपना उत्तर भी उसे खुद-ब-खुद मिल जाता है। स्कूल में बच्चों को दिए जाने वाले हर सवाल का जवाब उस सवाल में ही निहित होता है। हाँ, इतना ज़रूर है कि वह उस समय छुपा हुआ होता है। उसे ढूँढने की प्रक्रिया वैसी ही होती है, मानो किसी चित्र-पहेली के गायब हिस्सों को ढूँढकर उसे जोड़ देना। जब हम चित्र-पहेली के गायब हिस्सों को देखते हैं तो उस हिस्से के आकार-प्रकार का अन्दाज़ तो हमें हो ही जाता है।

पर अधिकांश स्कूली बच्चों का दृष्टिकोण उत्तर-केन्द्रित होता है। वे किसी भी सवाल या समस्या को मानो एक घोषणा के रूप में सुनते हैं कि कहीं बहुत दूर जवाबों का एक देश है, वहाँ उनको दिए गए प्रश्न का उत्तर भी छुपा हुआ है, और अब बच्चों को उसे ढूँढ़ लाना है। कई बच्चे ऐसे होते हैं जो शिक्षक के ही दिमाग को फौरन कुरेदकर उत्तर वहीं पा लेना चाहते हैं। छोटे बच्चे तो इस कला में माहिर होते हैं, खासकर वे जो देखने में बड़े प्यारे-प्यारे लगते हों। वे जानते हैं कि अगर वे सहमे हुए या भ्रम में उलझे हुए लगेंगे तो शिक्षक स्वयं उन्हें वह बात बता देगा जो उन्हें आनी चाहिए थी। और यही हम शिक्षकों के बीच बच्चों की “सहायता करना” नाम से जाना जाता है। पर कुछ बच्चे साहसी होते हैं। वे उत्तर देश में छुपे जवाब रूपी खजाने की खोज में निकल पड़ने को तैयार रहते हैं। उनके लिए सवाल ऐसे होते हैं मानो उनमें कुछेक इंगित छुपे हुए हों। “खजाना ढूँढ़ो” खेल के तर्ज पर वे इन इंगितों को भी ठीक वैसे ही पढ़ते हैं, मानों वे खजाना ढूँढ़ निकालने के निर्देश हों - ओक के पेड़ तक जाओ, वहाँ पर गिरजे की दिशा में सौ कदम आगे बढ़ो आदि। सो हमारे ये उत्पादक शिक्षार्थी अपने आप से पूछते हैं, “पिछली बार जब ऐसा ही सवाल मिला था तो हमने क्या किया था?” अगर उन्हें पिछली बार की विधि याद हो और वह किसी दूसरी ही विधि से दिमाग में घुलमिल न गई हो तो उनकी दाल गल जाती है और वे कई बार सही उत्तर पा भी लेते हैं।

उदाहरण के लिए एक छोटा-सा सवाल ले लें। “एन मेरी से 3 वर्ष बड़ी है। उनकी आयु का योग 21 है। उन दोनों की आयु बताओ।” जिन बच्चों का दृष्टिकोण समस्या केन्द्रित होगा, वे इन दोनों लड़कियों की कल्पना करते हैं। क्या आयु होगी भला? बहुत बड़ी तो हो नहीं सकती, क्योंकि उनकी उम्र का योग तो सिर्फ 21 ही है। 10 के आसपास होनी चाहिए। तब धीमे-धीमे दूसरी सभी एन और मेरी गायब होने लगती हैं और 9 व 12 साल की लड़कियों की जोड़ी की छवि उनके दिमाग में स्पष्ट हो जाती है।

जो बच्चे समस्या केन्द्रित दृष्टिकोण रखते हैं वे कई बार किसी सूत्र या नियम को भी काम में लेते हैं। वे यह भी पता लगा लेते हैं कि 21 का योग मेरी की उम्र को दुगुनी कर उसमें तीन जोड़ने से मिला है। वे ऐसा कोई सूत्र भी अपनी कॉपियों में लिख सकते हैं। $E + M = 21$, $M + M + 3 = 21$, $2M = 18$, या $M = 9$ और $E = 12$ । पर मुख्य बात यह है कि उन्हें यह सूत्र भी इस समस्या से ही मिलता है, स्मृति से नहीं।

पर जिनका दृष्टिकोण उत्तर केन्द्रित होता है, वे वह बच्चे नहीं जो शिक्षकों से इंगित पाने की कोशिश में या उनके दिमाग पढ़ने की चेष्टा में जुझ रहे हों - वे सोचते हैं, “ऐसे सवाल कैसे करते हैं? पहले शायद कभी किया तो था? हाँ याद आया उनकी उम्र के बारे में कुछ लिखा जाता है। मेरी की उम्र को क मान लेते हैं तो एन की होगी $k + 3$ । इसके बाद शायद दोनों को जोड़ना पड़ता है : $k + k + 3 = 21$ । अब शायद 3 को इस ओर से उस ओर ले जाना होता है। पर 3 क्या दोनों ही तरफ से घटाना है या सिर्फ 21 में से?” और वे इस तरह टटोलते, टटोलते तब तक बढ़ते जाते हैं जब तक उन्हें सही उत्तर न मिल जाए। उत्तर पाते ही वे शिक्षक के पास दौड़ते हैं और जानना चाहते हैं कि जवाब सही है या नहीं। पर यहाँ उन्हें अपना उत्तर सवाल में से नहीं मिला होता है। उत्तर पाने की पूरी प्रक्रिया अंध-स्मृति में से निकली हुई होती है।

स्कूल में होने वाली प्रायः सभी गतिविधियाँ बच्चों को उत्तर केन्द्रित बनाती हैं। इससे सबसे पहला फायदा तो यही होता है कि सही उत्तर मिल जाते हैं। स्कूल विद्या के मन्दिर न होकर मानो “सही उत्तर” के ही मन्दिर हों, जहाँ दर्शन के लिए गर्भगृह तक पहुँचने का रास्ता भी, ढेरों सही उत्तर पा लेने के बाद ही खुलता हो। फिर यह सम्भावना भी तो कम नहीं कि शिक्षक स्वयं ही उत्तर केन्द्रित दृष्टिकोण वाला व्यक्ति हो। खासकर जब विषय गणित हो, पर केवल वही नहीं। वे जो कुछ करते हैं, वह सब इसलिए करते हैं क्योंकि ठीक वैसा करना उन्हें भी सिखाया गया था, या वह तरीका किताब में लिखा गया है, या फिर महज इसलिए

कि वे इसी तरह से उन सवालों को हल करते चले आए हैं। जिन शिक्षकों का दृष्टिकोण उत्तर केन्द्रित न भी हो, उन्हें भी इन दोनों दृष्टिकोणों में अन्तर करने में समय लगता है, जैसे मुझे भी लगा। फिर इस अन्तर के महत्व को समझना तो और भी कठिन होता है। यानी शिक्षकों के पढ़ाने के तरीके, उनके दिए गए कामों का बोझ भी बच्चों को उत्तर पाने की रणनीतियाँ अपनाने पर मजबूर करता है। कभी-कभी तो केवल इसलिए कि दूसरा रास्ता अपनाने का समय ही नहीं रहता। मैंने तो कई बार पाया है कि जब कभी बच्चों पर काम का भार न डाला गया हो तो वे सोचने को तैयार रहते हैं। वे समय लगाकर अपने आप ही अर्थों को समझने की कोशिश करते हैं। पर जैसे ही काम का दबाव बढ़ता है मैं हर ओर से “मेरे पल्ले कुछ नहीं पड़ रहा” का शोर सुनता हूँ। सोचना बन्द हो जाता है, बच्चे उत्तरों के लिए शिक्षकों का मुँह ताकने लगते हैं। यानी जैसे ही हम शिक्षा का तथाकथित स्तर ऊँचा उठाने पर आमादा हो जाते हैं, बच्चे सोचने का समय नहीं निकाल पाते।

अभी उस रोज़ ही मैं एक सोलह वर्षीय लड़के के साथ काम कर रहा था। वह भौतिकशास्त्र के पहले वर्ष के पाठ्यक्रम में कठिनाई महसूस कर रहा था। मैंने उससे कहा कि वह एक समस्या को अपनी कॉपी में हल करे। उसने तुरत-फुरत पन्ने पर लिखा :

दिया गया है :

खोजना है :

उपयोग में लो :

तब उसने खाली जगह को शब्दों और आँकड़ों से भरना शुरू कर दिया। मैंने कहा, “ठहरो, जरा थम जाओ। तुमने तो अभी यह समझा ही नहीं है कि समस्या क्या है, इतना अगड़म-बगड़म लिखने के पहले कुछ सोचा तो होता।” उसने प्रतिवाद किया, “पर हमारे शिक्षक ने कहा है कि हमें सारे सवाल ऐसे ही करने हैं।” लीजिए, अगर उस शिक्षक से पूछा जाए तो वे कहेंगे कि यह प्रारूप तो उन्होंने बनाया ही इसलिए है ताकि उनके छात्र समस्या पर विचार करें। पर एक बात का अहसास उन्हें नहीं हुआ

है, शायद कभी न हो, कि स्पष्ट सोचने और समझने का जो माध्यम उन्होंने बनाया था, वही अब लक्ष्य में बदल गया है। वह अब उत्तर की खोज के अभियान का एक टोटका-भर है।

जब बच्चों को ऐसी परिस्थितियाँ मिलती हैं जहाँ सही उत्तर पा लेने का दबाव उन पर नहीं होता, न ही उन्हें सब कुछ तुरत-फुरत कर डालना होता है तो बच्चों का काम सचमुच अद्भुत होता है। मैंने पिछले वर्ष नवम्बर में अपनी कक्षा से कहा, “मैं अब जो सवाल दे रहा हूँ, वैसे सवाल तुम लोगों ने देखे नहीं हैं। जाहिर है उन्हें करना भी तुम्हें नहीं आता होगा। तुम इन्हें सही करो या गलत, इससे कोई फर्क नहीं पड़ेगा। मैं सिर्फ यह देखना चाहता हूँ कि तुम लोग इन्हें किस तरह करने की कोशिश करते हो।” जो सवाल मैंने दिए वे सामान्य बीजगणित के थे। एन और मेरी की उम्र जैसे सवाल, कुछ सिक्के मिलकर 85 पैसे बनते हैं, जैसे सवाल। ये ऐसे सवाल थे जो बीजगणित शुरू करने वाले बच्चों को बेहद कठिन लगते हैं। मेरे बच्चों ने अपनी पूरी कल्पना-शक्ति, जुगत और सामान्य बुद्धि के सहारे उन पर धावा बोला। यानी पूरी अक्लमंदी के साथ उन्हें हल करने की चेष्टा की। उनके समाधान कई तरह से निकाले गए थे। और कुछ तरीके तो ऐसे भी थे जो मुझे सूझे तक नहीं थे। पर यह काम आगे बढ़ पाता, उसके पहले ही स्कूल को इस बात की चिन्ता होने लगी कि मेरी रफ्तार कम है। मुझसे कहा गया कि मैं पाठ्यक्रम पूरा करवाने के लिए तेज़ी से आगे बढ़ूँ। मुझे शर्म के साथ यह कहना पड़ रहा है कि मैंने तब अपनी गति बढ़ा दी और सोचने वाले ये सारे बच्चे अपनी रणनीतियों के पुराने ढर्रे पर लौट गए। शायद हमेशा-हमेशा के लिए।

□ अक्टूबर 1, 1959

कुछ समय पहले डॉ. गैटेग्नो ने लेसली एलिस स्कूल में एक निदर्शन कक्षा पढ़ाई। मैं आजीवन इस घटना को नहीं भूलूँगा। मैंने शायद ही इससे पहले ऐसा अद्भुत, इस कदर अभिभूत कर देना वाला दृश्य देखा हो।

इस निदर्शन के लिए जिन बच्चों को चुना गया था, वे सबके सब मानसिक रूप से पिछड़े बच्चे थे। उनकी संख्या 5-6 ही थी और आयु पन्द्रह-सोलह के बीच। उनमें से कुछ के चेहरे भाव-विहीन होने के अलावा सामान्य लगते थे। उनमें से एक के चेहरे पर मेरा ध्यान अटक गया। वह टेबिल के आखिरी सिरे पर बैठा था। लम्बा-सा था वह। जर्द चेहरा और काले बाल। मैंने बिरले ही कोई मानवीय चेहरा ऐसा देखा है जिस पर इस कदर भय और तनाव पड़ा जा सके। एक नन्ही सहमी हुई चिड़िया की तरह उसकी नज़र कमरे में हर ओर मँडरा रही थी। (मानो यह अन्देशा हो कि किसी भी कोने से कोई शत्रु आक्रमण कर सकता है।) उसकी जीभ मुँह में बराबर घूमती हुई कभी इस तो कभी उस गाल को फुला रही थी। टेबिल के नीचे उसका हाथ अपनी जांघों को नोचे डाल रहा था। बच्चा देखने में भयावह और दयनीय था।

न कोई औपचारिकता, न कोई भूमिका, न ही बच्चों को सहज करने का कोई प्रयास। गैटेग्नो ने सीधे ही काम शुरू किया। दृश्य का मानसिक चित्र आप तभी बना सकेंगे जब आप स्वयं भी क्यूसेनियर छड़ों से वह सब करें जिसका मैं आगे बयान करूँगा। सबसे पहले गैटेग्नो ने दो नीली (9) छड़ों के बीच एक गहरी हरी (6) छड़ रख दी। इससे नीली छड़ों के बीच में 3 से.मी. की खाली जगह दिखने लगी। उन्होंने बच्चों से कहा, “अब तुम सब भी छड़ों को ऐसे रखो।” बच्चों ने यह कर दिखाया। उन्होंने तब बच्चों से कहा, “अब इस खाली जगह को भरना है। जिस छड़ की लम्बाई सही हो उसे चुनकर लगाइए।” मुझे नहीं पता कि बाकी बच्चों ने क्या किया, क्योंकि मेरी नज़रें तो उस काले बालों वाले बच्चे पर ही गड़ी हुई थीं। उसकी हरेक क्रिया झटकों से भरी थी। वह जब भी कोई छड़ चुनता तो उसे काफी कठिनाई के बाद ही दोनों नीली छड़ों के बीच की खाली जगह पर रख पाता। कई प्रयासों के बाद उसने और दूसरे बच्चों ने पाया कि हल्की हरी (3) छड़ उस जगह के लिए सही रहेगी।

तब गैटेग्नो ने नीली छड़ों के ऊपरी सिरे को पकड़ा और हिलाया। कुछ हिलाने पर उनके बीच में से गहरा हरा छड़ अलग हो गया और उस

जगह 6 से.मी. की जगह खाली हो गई। उन्होंने बच्चों को भी यही करने को कहा। तब कहा कि वे उस जगह के लिए सही छड़ चुनें। क्या बच्चों ने वही गहरी छड़ उठा ली जो कुछ देर पहले उससे अलग हुई थी? एक भी बच्चे ने यह नहीं किया। सबने बार-बार कोशिश की और आखिरकार उस गहरी हरी छड़ को चुना, जिसकी उन्हें ज़रूरत थी।

अब गैटेग्नो ने अपनी छड़ों को ऐसे हिलाया कि उनमें से हल्का हरा हिस्सा निकल आया और 3 से.मी. की जगह खाली हो गई। अब बच्चों को इस जगह को भरना था। एक बार फिर चेष्टाएँ हुई और कई भूलों के बाद बच्चे उस हल्के हरे टुकड़े को ढूँढ पाए। पहले ही की तरह उस काले बालों वाले बच्चे को भी सही छड़ चुनने में प्रयास करना पड़ा। मैंने गौर किया कि उसके प्रयास बेतरतीब थे।

शायद इस बात पर विश्वास करना कठिन हो, पर गैटेग्नो ने यह सब चार-पाँच बार दोहराया। केवल तभी ये बच्चे उस स्थिति में पहुँचे कि बिना शिक्षक सही छड़ ढूँढ पाएँ। मैं सोच में डूब गया, “अपने आसपास की दुनिया के बारे में, उसकी नियमितता, उसकी व्यवस्था, और उसकी सार्थकता के बारे में इतना अनभिज्ञ होना कैसा लगता होगा?” स्वयं को ठेलकर इन बच्चों की तरह अज्ञान की उस सीमा तक पहुँचने में अपनी कल्पना-शक्ति पर कितना जोर डालना पड़ता है, इसका अनुमान आप नहीं लगा सकते। क्योंकि यहाँ बात केवल इस या उस तथ्य को जानने की नहीं है, बल्कि इन बच्चों की तरह एक ऐसी दुनिया में जा बसने की है जो पूरी तरह स्वेच्छाचारी और अननुमेय हो। एक ऐसी दुनिया, जिसमें किसी एक चीज़ का किसी भी दूसरी चीज़ से कोई रिश्ता ही न हो, जिसके बारे में यह लगता हो, और यह प्रायः सभी नन्हें बच्चों को लगता है, कि वह हमारी दुश्मन है।

तब अचानक मेरे देखते ही देखते कुछ घटा। उस काले बालों वाले बच्चे ने कुछ देखा, मानो उसके दिमाग का कोई खटका अचानक पहली बार दब गया हो। उत्तेजना से उसके हाथ काँपने लगे। उसने बिना शिक्षक, बिना हिचकिचाहट के सही छड़ की ओर अपना हाथ बढ़ाया। वह इस कदर

उत्तेजित था कि वह सही छड़ को उठाकर खाली जगह पर रख ही नहीं पा रहा था। उसकी जीभ उसके मुँह में दुगनी गति से घूम रही थी। उसका हाथ दुगनी रफ्तार से जाँघ को नोचने लगा था। अब, जब उसे छड़ को दूसरी ओर घुमाकर चुने हुए हिस्से को लगाना था तो वह मारे उत्तेजना के यह कर ही नहीं पा रहा था। आखिरकर उसने वह टुकड़ा उठाया। “सही है! लगता है, लग जाता है!” वह चीखा और छड़ को उठाकर हम सबको दिखाने लगा। बच्चों के विजयोल्लास और उत्तेजना को देखकर हममें से कई लोगों की आँखें भर आईं। हम समझ सके कि उसके दिमाग ने एक लम्बी छलांग लगाई है।

कुछ समय बाद गैटेग्नो ने यही सब किरमिज़ (4) व पीली (5) छड़ को नीली (9) छड़ों के बीच रखकर किया। उस काले बालों वाले बच्चे को एक ही प्रयास के बाद सही चुनाव करना आ गया। वह अब कुछ शांत हो चला था। उसमें कहीं विश्वास जगने लगा था, वह कुछ जानने लगा था।

एक बार फिर गैटेग्नो ने छड़ों की मदद से बच्चों को बताया कि हम जब यह कहते हैं कि कोई चीज़ किसी दूसरी चीज़ की आधी है तो उसका अर्थ क्या होता है। उन्होंने सफेद (1) व लाल (2) और लाल (2) व किरमिज़ (4) छड़ें इस बात को स्पष्ट करने के लिए लीं। तब उन्होंने बच्चों से भी कई दूसरी छड़ों का आधा ढूँढ़ने को कहा। यह सब वह काले बालों वाला बच्चा कर पाया। अंत में गैटेग्नो ने भूरी (8) छड़ दिखाकर उसका आधा ढूँढ़ निकालने का निर्देश दिया। यह काम भी उसने कर दिखाया।

मुझे उस समय यह अहसास हुआ था और यही आज भी लगता है कि उस बच्चे का आई.क्यू. जो कुछ भी रहा हो, और दुनिया तथा जीवन के प्रति उसकी प्रतिक्रिया जो कुछ भी रही हो, उसने उस क्षण, उस कक्षा में बैठे हुए एक उच्च बौद्धिक माप वाले इन्सान की भूमिका निभाई थी। उसका काम निश्चित रूप से उच्च स्तर का था। जब हम विचार करें कि वह कहाँ से शुरू हुआ था और काम खत्म करते समय कहाँ पहुँचा तो हम उन चालीस मिनटों या उससे भी कम समय में, गणित के क्षेत्र

में उसकी अद्भुत प्रगति पर केवल विस्मय ही कर सकते हैं। ज़ाहिर है कि उसमें अद्भुत क्षमताएँ छुपी हुई थीं।

पर जीवन की त्रासदी शायद यही है कि उस बच्चे को फिर कभी गैटेग्नो जैसा शिक्षक नहीं मिलेगा। क्योंकि जो कुछ वे कर पाए वह दूसरे शिक्षकों के बस का नहीं था। वे स्वयं अपने विद्यार्थियों के बौद्धिक स्तर तक जा पहुँचे थे। कितने शिक्षक ऐसे होंगे जिनमें ऐसा अंतर्ज्ञान या कल्पनाशीलता होगी। गैटेग्नो ने मानसिक रूप से पिछड़े बच्चों के साथ बहुत काम नहीं किया है। पर जो बात मैं शायद कई दिनों में, हफ्तों में, या शायद कभी नहीं समझ पाता, उसे वे पल-भर में भाँप गए। वे उनके स्तर पर उतर सके, ताकि वे बच्चे ठोस धरातल पर पैर टिका सकें और कदम-कदम आगे बढ़ सकें। वे आनन-फानन में कितने पीछे जा सके थे। वहाँ तक, जहाँ से समझने और सीखने की प्रक्रिया की शुरूआत होती है। पर क्या सिर्फ इतना ही किया था उन्होंने? इतना ही महत्वपूर्ण था इन बच्चों के प्रति उनके मन में आदर, उनकी यह आस्था कि अगर परिस्थितियाँ सही हों तो वे सब अव्वल दर्जे के विचारक बन सकते हैं। उनके व्यवहार में कहीं भी कृपा, यहाँ तक कि नज़र आनेवाली हमदर्दी तक का छूट नहीं था। वे कक्षा के दौरान पूरी तरह इन बच्चों के समस्तरीय साथी थे। और उन सबके सामने कुछ निहायत जटिल समस्याएँ थीं, जिनका समाधान उन्हें खोज निकालना था।

इस घटना के मन्तव्य को गलत समझा जा सकता है, गलत समझा जा रहा है। कई लोग, गैटेग्नो का इन बच्चों के साथ काम का ब्यौरा पढ़कर शायद इस निष्कर्ष पर पहुँचें कि मैं शायद यह कहना चाह रहा हूँ कि अगर इन बच्चों को गैटेग्नो जैसे शिक्षक का साथ एक लम्बे अर्से तक मिला होता तो वे भी प्रखर और चुस्त विद्यार्थी बन जाते। यह मेरा मन्तव्य है ही नहीं। बच्चे तो पहले से ही प्रखर थे। गैटेग्नो ने केवल इतना किया कि उनके सामने एक छोटी-सी दुनिया रखी। ऐसी दुनिया जहाँ वे अपनी बौद्धिक क्षमताओं का उपयोग कर सकें। एक ऐसा संसार उन्हें उपलब्ध करवाया जहाँ वे कुछ गतिविधियाँ कर पाएँ।

और स्वयं ही यह भी जाँचें कि जो कुछ वे कर रहे हैं, वह सही है भी या नहीं।

जो लोग अन्ततः यह समझ सके हैं कि मनुष्य की बुद्धि, एक व्यापक और महत्वपूर्ण अर्थ में, कोई स्थिर वस्तु नहीं है बल्कि एक परिवर्तनशील तत्त्व है, वे भी इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि बुद्धिमानी भी गणित, अंग्रेजी या इतिहास जैसा कोई विषय है जिसे “सिखाया” जा सकता है। यह निष्कर्ष पूरी तरह गलत है। जो बात स्कूली विषयों पर लागू होती है वह सबसे पहले बुद्धि पर लागू होती है, वह यह कि सीखने की प्रक्रिया में सबसे बड़ी बाधा हमारा यह दृष्टिकोण ही होता है, “मैं ऐसा कुछ जानता हूँ जो तुम लोग नहीं जानते। और अब मैं तुम्हें वह सिखाने जा रहा हूँ।”

हमें लोगों को मेधावी और चुस्त बनाने की ज़रूरत है ही नहीं, वे तो पैदाइशी ही ऐसे होते हैं। हमें तो केवल इतना करना है कि हम उनसे वे सारे काम करवाना बन्द कर दें जो उन्हें बेवकूफ या कम अक्ल सिद्ध करते हैं और जो उनकी प्रतिभा को मन्द कर देते हैं।

अद्भुत शिक्षक, “प्रतिभाशाली” शिक्षक, या वे शिक्षक जो किसी भी विषय को सिखाने के लिए नए-नए तरीके ढूँढ़ निकालते हैं, ये सबके सब ही अपने विद्यार्थियों को उतना ही नुकसान पहुँचा सकते हैं जितना वे शिक्षक जो मानक अभ्यास पुस्तिकाओं या शिक्षक निर्देशिकाओं के सहारे आगे बढ़ते हैं। प्रतिभाशाली शिक्षक तो कभी भी पढ़ाने से बाज़ आ ही नहीं सकता वे तो उन लोगों की तरह होते हैं जो अपने मित्र को गाड़ी चलाने में मदद करने पहुँच जाएँ तो पहले ही पूरे दम से धक्का लगाते हैं। गाड़ी सरकती है, लुढ़कने लगती है। और तब अचानक उसका इंजन घुरघुराकर चलने लगता है। गाड़ी दौड़ने लगती है। चालक कहता है, “बस करो भाई, मुझे अब कोई मदद नहीं चाहिए।” पर गाड़ी को धकियानेवाला कहाँ सुनता है। “नहीं भई नहीं,” जवाब में वह कहता है, “तुम मेरी मदद के बिना आगे बढ़ ही नहीं पाओगे। मैं धक्का नहीं दूँगा तो गाड़ी रुक जाएगी तुम्हारी।” सो वही गाड़ी जो तेज़ रफ्तार से

निकल भागने को तैयार थी, धीमे-धीमे रेंगती रहती है। तब तक, जब तक गाड़ी का चालक अपने सहायक से पिण्ड छुड़ाने के लिए गाड़ी को अचानक तेज़ी से न बढ़ा ले और सहायक को वहीं सड़क पर पसरा न पड़ा रहने दे। पर अधिकांश शिक्षार्थी, खासकर बच्चे अपने शिक्षकों से अपना पीछा छुड़ा ही नहीं पाते।

नई शिक्षण-पद्धतियों को खोजने वाले सोचते हैं कि अगर एक अच्छे विचार से कुछ सीखना सम्भव हुआ है तो सौ अच्छे विचारों से सौ गुना सीखा जा सकेगा। पर ऐसा होता नहीं है। सौ अच्छे विचार, सीखने की प्रक्रिया को पूरी तरह जड़ और कुंठित कर देते हैं।

एक शिक्षक के रूप में काम करते-करते जब एक अर्सा हो चुका था तब जाकर मैं यह समझ पाया कि जिस दिन शिक्षण सम्बंधी कोई नया विचार मेरे मन में खुदबुदाता था, उस दिन शायद ही कक्षा में कुछ अच्छा घटता था। बच्चे संवेदनशील होते हैं वे हमेशा यह ताड़ लेते थे कि मैं कुछ बदला-बदला सा हूँ। और तब मैं 10 वर्षीय बच्चों के बीच एक 40 वर्षीय शिक्षक नहीं रह जाता था। मैं तो प्रयोगशाला में जानवरों से घिरा एक “वैज्ञानिक” हो उठता था। तब मैं कक्षा में मुझे या बच्चों को पसन्द आने वाली चीज़ों की बातें करते या बच्चों को काम करते देखने का आनन्द नहीं ले पाता था। मैं उन पर प्रयोग करने जाता था। वे फौरन अपनी पुरानी सुरक्षात्मक व टालमटोल वाली नीतियों को ओढ़ लेते थे। चोर नज़रें मेरे चेहरे पर डालकर उत्तर भाँपने की कोशिश करते थे या फिर वहीं कहते थे, “ना मुझे समझ नहीं आ रहा है।” मैं अपनी आँखों के सामने ही उन्हें मुरझाते ढूँढ़ बनते देख सकता था।

जब मैं अपनी अन्तिम पाँचवीं कक्षा को पढ़ाने लगा तो मैं इस स्थिति को तुरन्त भाँपने में दक्ष हो चला था। जैसे ही मैं यह होता देखता, फौरन ही अपनी योजना त्याग देता। अपने सामान्य सहज आचरण पर लौट आता। अगर मैं अपने साथ कोई औज़ार लाया होता, जिससे मैं कुछ करके दिखाना चाहता था, तो उसे भी किसी कोने में रख देता। तब तक उसके बारे में कुछ न कहता जब तक बच्चों में से कोई यह

न पूछता, “यह क्या है, क्या करते हैं इससे? यह काम कैसे करता है?” अगर मेरा मकसद उन्हें किसी गतिविधि से परिचित करवाने का होता, तो मैं खुद वह करने लगता। मैं यह मानकर चलता था कि अगर कोई गतिविधि मुझे रोचक नहीं लगती है तो उन्हें भी नहीं लगेगी। यानी जो कुछ मुझे उबाऊ या नीरस लगता, वह मैं अपने शिक्षार्थियों से करवाने की चेष्टा नहीं करता। पर जो आनन्द देने वाली गतिविधियाँ लगतीं वे ज़रूर करता।

□ फरवरी 14, 1960

मैंने एडवर्ड को कुछ छड़ें दी और पूछा, “इन छड़ों के लिए कितनी सफेद छड़ें चाहिए होंगी?” उसने छड़ों को 10 से.मी. लम्बी 15 कतारों में सजा दिया। उसके पास एक किरमिज़ (4) छड़ बची रह गई। उसने कतारों को दहाइयों में गिनना शुरू किया। वह एक-एक कतार छूकर कहता गया, “10, 20, 30 . . .।” ऐसा करते-करते वह 100 तक पहुँचा और तब उसने अगली पाँच कतारों को गिनते समय कहा, “200, 300, 400, 500, 600 और 604।”

मैंने उसे फिर से गिनती करने को कहा। वह समझ गया, “कहीं कुछ गड़बड़ ज़रूर है।” उसने फिर गिना। इस बार 100 के बाद उसने कहा, “101, 102, 103, 104, 105 और 109।” पर वह संतुष्ट नहीं लगा।

तीसरे प्रयास में एडवर्ड ने 10 की कतारों को गिनने के पहले कहा, “मैं हरेक कतार को 1 कहूँगा।” पर जब वह दसवीं कतार पर पहुँचा तो उसने कहा, “ये हुए हज़ार।” और तब अगली 5 कतारों को भी सैकड़ों में गिनने पर उसका उत्तर 1600 तक पहुँच गया। कुछ देर तक इधर-उधर करने के बाद वह अपने पुराने तरीके पर लौटा और कई बार 604 गिनने के बाद उसने मान लिया कि उसका जवाब सही है।

मैंने उसकी छड़ों को दो भागों में बाँट दिया। एक में दस दहाइयाँ रखी और दूसरे में 5 दहाइयाँ और वह किरमिज़ छड़। उन्हें अलग-अलग गिनकर

उसने बताया कि एक ढेर में 100 हैं और दूसरे में 54। मैंने छड़ें खिसकाकर फिर मिला दीं। इस बार गिनती कर उसने जवाब पाया, “604।”

जो मुझे उस समय समझ लेना चाहिए था, वह यह था कि मेरा सवाल ही उसके लिए निरर्थक था। मैं इस भ्रम में था कि मैं इन छड़ों के सहारे उसके अंक ज्ञान को जाँच रहा हूँ। पर आज उसके जवाबों को देखकर लगता है कि अंकों के बारे में उसके विचारों में, जो कुछ भी वे रहे होंगे, और उन छड़ों में कोई रिश्ता था ही नहीं।

मुझे यही यह जोड़ देना चाहिए कि एडवर्ड सभी विषयों में और खासकर गणित में, असफल छात्रों में आता था। अगर वह गणित ठीक-ठाक कर पाता होता तो भी शायद मैं अंकों की उसकी निजी समझ से छेड़खानी करने नहीं पहुँचता।

जो मैं कर सकता था, जो मुझे करना चाहिए था, और काश मैंने यह किया होता, वह यह था, कि मैं उसे ढेर-सी सफेद छड़ें देता और कहता कि उसे दी गई रंगीन छड़ों जितनी लम्बी कतार बनाने के लिए कितनी सफेद छड़ों की ज़रूरत होगी। और अगर मेरे पास उतनी संख्या में सफेद छड़ें नहीं थीं, तो मुझे चाहिए था कि मैं उसे नापने की मीटर छड़ या कोई मीटर-सेटीमीटर फीता देता, ताकि एडवर्ड उनके सहारे अपनी गिनती को जाँच परख लेता या फिर अगर मैं ऐसी गतिविधियाँ उसके लिए ज़रूरी समझता तो कम-से-कम उसे यह तो जाँच लेने देता कि 6 सफेद (1 से.मी.) छड़ें जोड़ने पर 6 से.मी. लम्बी एक कतार उसे सचमुच मिलेगी। इन छड़ों का तो मकसद ही यह था कि वे अंकों के अमूर्त विचार को जाँचने के लिए एक स्थूल उदाहरण सामने रखें। 6 सफेद छड़ों से 6 से.मी. लम्बी या 5 से 5 से.मी. लम्बी रेखा बनाई जा सकती है, यह बात मेरे लिए तो स्पष्ट थी, पर सम्भव है एडवर्ड के लिए न रही हो।

उसने मेरे प्रश्न का क्या अर्थ लगाया? मैं क्या पूछ रहा हूँ, उसे कैसे समझा, यह मैं नहीं जान सकूँगा। लगता है वह केवल इतना जानता था कि मैंने उसे कोई ऐसा सवाल दिया है जिसका उत्तर उसे किसी

संख्या में देना है। वह शायद यह भी जानता था कि उस संख्या का इन छड़ों के साथ कोई रिश्ता भी है। लगता है उसने अलग-अलग तरह से संख्याओं को जोड़कर उस योग तक पहुँचने की चेष्टा की है, जो मुझे संतुष्ट करता। यानी वह मेरे निरर्थक प्रश्न के लिए एक “सही” उत्तर का जुगाड़ बैठा रहा था। उसके पास ऐसा कोई उपाय तक नहीं था जिससे वह अपने उत्तर को अपनी आँखों देखी और समझी हुई वास्तविकता के साथ तुलना कर पाता या यह देख पाता कि उसका जवाब वास्तव में सही है भी या नहीं। इसके बाद मुझे प्रायः साल-भर समय लगा और तब मैं कुछ ऐसे सवालों तक पहुँच सका जिनसे बच्चे अपने विचारों की सत्यता की तुलना वास्तविकता से कर सकें। इस विषय में मुझे और भी कहना है, पर वह सब बाद के लिए छोड़ देता हूँ।

मैंने वह किरमिज़ रंग की छड़ हटा दी। बाकी छड़ों को फिर से 100 व 50 के ढेरों में बाँट दिया और एक बार फिर जानना चाह्य कि हरेक ढेर में कितनी संख्या है। उसने एक बार फिर 100 व 50 कहा। पर जैसे ही मैंने उन्हें मिला दिया तो उनका योग उसने 600 बताया।

मैंने फिर 10 दहाइयाँ एक साथ रखीं। ये कितने हुए? “100।” मैंने उसमें एक सफेद छड़ जोड़ी “अब?” “101।” मैंने फिर एक सफेद छड़ जोड़ी और पूछा, “अब कितने हुए?” “102।” यह करते-करते हम 109 तक पहुँचे। मैंने अब एक सफेद छड़ और मिलाई, ताकि कतारों की संख्या ग्यारह हो जाए तो उसने उत्तर दिया, “200।”

मैंने कहा, “चलो छोड़ो आज के लिए काफी है।”

एडवर्ड के पिछले शिक्षकों ने उसे कई घंटों की विशेष व्यक्तिगत “सहायता” दी थी, पर उनकी सहायता इस बात तक सीमित थी कि वे उसे तरह-तरह के सवालों को करने की विधियाँ बताते व रटवाते थे। उनमें से किसी ने यह कोशिश नहीं की, और स्वयं मुझे भी सालों तक यह नहीं सूझा था, कि वे यह जान लें कि एडवर्ड को अंकों के बारे में आता क्या है। अंकों की दुनिया की कैसी छवि उसके दिमाग में है। उसके अनुसार अंकों का संचालन होता क्या है। सच्चाई यह थी कि जिस समय एडवर्ड प्रसन्न

या तनावमुक्त होता है तो गणितीय संक्रियाओं की कई विधियों को काम में लेकर कई सवाल हल कर लेता है। यह तो तय है कि इस दृष्टि से वह कक्षा के सबसे खराब छात्रों में नहीं आता, पर उसके गणित का ज्ञान केवल दृश्य ज्ञान है, ज्ञान का आभास भर है, वास्तविक ज्ञान नहीं है।

यह अन्तर महत्वपूर्ण है। पर ज्यादातर शिक्षक इसके अस्तित्व के बारे में नहीं जानते। वे सोचते हैं कि अगर कोई बच्चा गुणा नहीं कर सकता तो उसे गुणा करने की विधि बतानी चाहिए, उसका अभ्यास करवाना चाहिए। अगर वह फिर भी गलती करे तो उसे फिर से विधि बतानी चाहिए, और-और अभ्यास करवाना चाहिए। दर्जनों बार इस तरह उपाय करने के बाद भी वह अगर सीख नहीं पाए तो यह मान लेना चाहिए कि वह बच्चा या तो अक्षम है या सीखना ही नहीं चाहता। जैसा कि एक शिक्षक ने कहा था कि वह बच्चा ही तब बेवकूफ, आलसी, अव्यवस्थित या भावनात्मक रूप से असंतुलित है।

यह वही पुराना स्कूली नियम है जो हमारे शहरों के घटिया से घटिया स्कूलों से लेकर प्रतिष्ठित महाविद्यालयों या विश्वविद्यालयों तक में मिलता है। अगर छात्र कुछ सीख पाते हैं तो श्रेय स्कूल या शिक्षकों को जाता है। पर अगर वे सीखने में असफल रहते हैं तो सारा दोष उनका स्वयं का होता है। अलग-अलग स्तरों में यह नियम मिलता है, केवल शब्दों के अन्तर के साथ। खराब या बेवकूफ छात्र के बदले हम उन्हें “सांस्कृतिक रूप से पिछड़े हुए” कहते हैं या उनकी समस्या को “शैक्षिक विकलांगता” का नाम दे डालते हैं। पर मूल विचार वही है। स्कूल अपने कृत्यों की जिम्मेदारी केवल तभी स्वीकारते हैं जब परिणाम अच्छे हों।

हम यह मानने को प्रस्तुत नहीं होते कि कोई बच्चा इसलिए भी नहीं सीख पाता क्योंकि जिन बुनियादी प्रतीकों के साथ उसे अपना काम करना है, वे ही उसे समझ में नहीं आए हैं। अगर किसी में अंकों या संख्याओं की समझ ही अस्पष्ट है तो उसको गुणा करने का अर्थ कैसे समझ आएगा? ऐसे बच्चों को गुणा या भाग करना सिखाना तो वैसा ही होगा न जैसा पुराने गते के डब्बों की नींव पर एक दस मंजिला भवन बनाना। दुनिया

की श्रेष्ठतम इच्छाशक्ति के लिए भी यह एक असम्भव कार्य है। हमें तो पहले नींव ही फिर से डालनी होगी। एडवर्ड जैसे बच्चे, ध्यान रहे कि उनकी संख्या कम नहीं है, कभी अपने आपको इस स्थिति में नहीं पाते, बशर्ते उनके शिक्षक यह माने नहीं बैठते कि वे वह सब तो जानते ही होंगे, जो उन्हें अब तक जान लेना चाहिए था। इसके बदले उनके शिक्षक धीमी रफ्तार से उनकी नींव पुख्ता करते।

अभी उस दिन ही मैंने अपनी कक्षा के बच्चों से संख्याओं के ऐसे जोड़े बनाने को कहा जिसमें बड़ी संख्या छोटी से पाँच गुनी हो। एडवर्ड ने पहले लिखा 1 और 5, तब 5 और 25। इसके बाद उसने कुछ देर तक अपने पहले जोड़े को देखा। उसे लगा होगा कि वह इस जोड़े में ही एक-एक अंक जोड़ सकता है। उसके नए जोड़े यों बने - 2 और 6, 3 और 7, 4 और 8 आदि। इसके बाद उसने ये सारे जोड़े कॉपी पर लिख डाले। उसे जो सवाल करने को दिया गया था, वह न जाने कहाँ छूट गया, न जाने कब उसका रूप बदल गया। एडवर्ड की बौद्धिक गाड़ी न जाने किस समय पटरियों पर से खिसककर नई दिशा में दौड़ने लगी थी।

ऐसे बच्चे अपने काम की ठीक से जाँच भी नहीं कर पाते। इसलिए क्योंकि किसी विचार को जाँचने-परखने के लिए दो बातें दिमाग में रखनी पड़ती हैं। पहली यह कि आप क्या कर रहे हैं, और दूसरी यह कि आपको क्या करना चाहिए। एडवर्ड अपने ध्यान के केन्द्र को बड़ी धीमी रफ्तार से सरका सकता है। जब तक वह समझ पाता कि उससे क्या करने की अपेक्षा की गई है, वह यह भूल जाता है कि वह कर क्या रहा था। मैं कई बार अपनी कल्पना में उसे कोई फोन का नम्बर घुमाते देखता हूँ। उसके सामने नम्बर लिखा होता है। वह उसे देखकर नम्बर घुमाना शुरू करता है। दूसरी या तीसरी संख्या तक आते-आते वह अगली संख्याएँ भूल चुका होता है। अब कागज़ को देखकर वह नम्बर फिर से याद करता है। आगे नम्बर घुमाना चाहता है पर अब तक वह यह भूल चुका होता है कि कौन-कौन सी संख्याएँ वह घुमा चुका है। नतीजतन फोन बन्द करके वह फिर से शुरू होता है। सम्भव है, एडवर्ड सचमुच फोन करते समय

यह सब न भी करता हो, पर गणित के सवाल वह ठीक इसी तरह से करता है। मैं अक्सर उसे यह बुदबुदाते सुनता हूँ, "मैं था कहाँ?"

जब मैंने उसे ऐसे जोड़े बनाने को कहा जिनमें छोटी संख्या बड़ी की आधी हो तो उसने लिखा, "1 आधा है 2 का, 2 आधा है 4 का, 4 आधा है 6 का, 6 आधा है 8 का।" तिहाई को जोड़े बनाते समय उसने लिखा, "3 छह का एक तिहाई है, 1 छह का एक तिहाई है, 6 बारह का एक तिहाई है, 12 अठारह का एक तिहाई है।" कुछ समय बाद उसने लिखा, "1 चार का एक चौथाई है, 10 चालीस का एक चौथाई है, 40 सत्तर का एक चौथाई है, 70 सौ का एक चौथाई है।" या "7 चौदह का आधा है, 14 इक्कीस का आधा है, 21 अट्ठाईस का आधा है।" दो संख्याओं के बीच जो सार्थक सम्बंध है, उसे लगता है वह योग का है। शायद इसलिए कि वह सारे सवाल जोड़कर ही कर पाता है और फिर गिनती स्वयं भी तो एक योजक संक्रिया ही है।

गणित की कक्षा में एडवर्ड का व्यवहार मूर्खतापूर्ण इसलिए होता है क्योंकि वर्षों से उसे यह पता ही नहीं रहा है कि वह कर आखिर क्या रहा है। और अब उसका यही व्यवहार पक्का बन चला है। उसे बदलना कठिन होगा। पर मैटेग्नो और मानसिक विकलांग बच्चों की बात सोचकर आशा बँधती है। लगता है शायद यह भी सम्भव हो सके, क्योंकि अगर हम क्रमशः मेधा को खत्म कर सकते हैं तो शायद उसे पुनः गढ़ भी सकें।

□ मार्च 2, 1960

इस टिप्पणी से पता लगता है कि मैंने 14 फरवरी के अनुभव से कुछ सीखा था।

अगर कोई बच्चा सच में किसी चीज़ को सीख ले तो वह उसका उपयोग करता है। लगता है उसके दिमाग में बसी वास्तविकता के साथ तब इस ज्ञान का एक रिश्ता बन जाता है और तब वह बच्चा ज़रूरत पड़ने पर दूसरी स्थितियों व वस्तुओं के साथ उसका सम्बंध भी देख सकता है। जबकि

सतही या फर्जी ज्ञान का कहीं कोई जुड़ाव ही नहीं बन पाता और ऐसा ज्ञान शिक्षार्थी के कोई काम नहीं आ सकता।

हमारी पहली कक्षा के नन्हें भी इन छड़ों का इस्तेमाल करने लगे हैं। वे उनके नामों और लम्बाई को जानते हैं। वे नारंगी छड़ को 10 की छड़ कहते हैं। यह आदत खराब है, पर हम इसे छुड़ा नहीं पा रहे हैं। उन्हें इकाइयों, दहाइयों आदि की स्कूली गिनती सिखाई गई है। मैंने एक दिन सोचा कि मैं यह जाँच कर लूँ कि वे यह समझे भी हैं या नहीं कि अगर 38 दिखाना हो तो वे उसे तीन नारंगी (10) और एक भूरी (8) छड़ से भी दिखा सकते हैं। मैंने उनसे एक-एक कर पूछा कि अगर वे अपनी मेज़ के एक सिरे से आरम्भ करें तो 38 सफेद छड़ें कितनी दूर तक जाएँगी। उनमें से एक छोटी-सी बच्ची ने तुरंत 3 नारंगी और एक भूरी छड़ उठाई फिर सभी को जोड़ा और मुझे अपना काम दिखाया। उसके चेहरे का हावभाव साफ-साफ मुझसे कह रहा था, “लो भला! यह आसान-सी बात भी क्या पूछने लायक है?” पर दूसरे बच्चों ने, जो तेज़ बच्चों में गिने जाते थे, उन्होंने भी सफेद छड़ों को आसपास सटाकर 38 तक पहुँचने की कोशिश की और कई तो कई-कई बार गिनती भी भूल गए।

यह अनुभव सुझाता है कि बावजूद इसके कि बच्चे गहरी हरी छड़ को 6 की छड़ कहकर पुकारते हैं, वे यह नहीं समझ पाते कि वह 6 सफेद छड़ों के ही बराबर है। गोकि पूछने पर शायद वे आपको यह बता दें। यानी उनके लिए वह केवल नाम भर ही है, जिससे गहरी हरी छड़ को वे बुलाते हैं। उसके आकार से छह की संख्या का कोई सम्बंध वे जोड़ नहीं पाते हैं। यानी वे छड़ों को कागज़ पर लिखे अंक प्रतीकों के बदले लकड़ी के रंगीन अंक प्रतीकों के रूप में ही देखते हैं। जब उनसे पूछा जाए $5 + 4 = ?$ तो वे 5 नामधारी छड़ उठाते हैं, फिर 4 नामधारी। तब वे इन दोनों की संयुक्त लम्बाई को बड़ी छड़ से नापते हैं। वे फिर तय कर पाते हैं कि लम्बाई 9 नामधारी छड़ जितनी है। पर वे इस पूरी प्रक्रिया को किसी ऐसी प्रक्रिया से जोड़कर नहीं देख पाते, जिसमें 5 चीज़ों के एक समूह को 4 चीज़ों के किसी दूसरे समूह से जोड़ा गया है।

दूसरी कक्षा के बच्चों से अगर पूछा जाए कि $59 + 42 + 35 = ?$ तो वे कुछ ऐसे चकरा जाते हैं कि उनके उत्तर 1200 या उससे भी ऊपर पहुँच जाते हैं। जिन संख्याओं को जोड़ना है उसे देखकर भी उन्हें यह अन्दाज़ नहीं हो पाता कि 1200 का योगफल उनके लिए बहुत बड़ा है। अन्दाज़ इसलिए नहीं होता क्योंकि उन्हें यह पता ही नहीं है कि असल में 1200 कितना बड़ा है। हम बच्चों से यह अपेक्षा रखते हैं कि वे समझदारी के साथ अंकों की गणनाएँ करेंगे और वास्तविकता की मानसिक छवि से मिलान करके उत्तर की जाँच कर लेंगे, पर फिर हम उन्हें इतने बड़े अंक क्यों देते हैं, जिनकी विशालता को वे समझते ही न हों? शायद हमें उनसे ऐसे सवाल करने चाहिए अगर 38 (या 50, 75, 100, 200, 500, 1000) सफेद छड़ों को पास-पास रख दिया जाए तो उनकी संयुक्त लम्बाई कितनी होगी? किसी चतुर्भुज या कागज़ को पूरा भरने में कितनी सफेद छड़ों की ज़रूरत होगी? या अलग-अलग आकार के डब्बों को भरने में कितनी सफेद छड़ों की ज़रूरत होगी?

अगर मैं अपने बच्चों से यह कहूँ कि मुझे बोर्ड पर पूरा-पूरा लिखने में आलस आता है तो वे किसी भी तरह की गणितीय संकेत लिपि को स्वीकारने के लिए तैयार हो जाते हैं। पहली बात तो यह है कि यह एक सच्चाई है। पर साथ ही यह बच्चों को मेरे आलस का मज़ाक उड़ाने का मौका भी देता है और बच्चों को लगता है कि वे उसे स्वीकार कर मुझ पर उपकार कर रहे हैं (यह भी एक सच्चाई ही है)। उन्हें यह पसन्द नहीं है कि मैं उन्हें यह बताऊँ कि किसी प्रतीक का क्या “अर्थ” होता है। ऐसा करते ही उन्हें यह प्रतीक मनमाने और रहस्यमय लगने लगता है। पर अगर हम उसी सम्बंध को या संक्रिय पद को ऐसे अभिव्यक्त करें जिससे वे परिचित हों तो उन्हें कोई कठिनाई नहीं होगी। तब वे किसी भी तरह की संकेत लिपि को स्वीकार कर लेते हैं। सो हम आसानी से “2 सफेद छड़ें = 1 लाल छड़” को “2 स = 1 ल” लिख सकते हैं।

आखिर गणितीय प्रतीकों का अन्वेषण भी तो इसलिए हुआ था ताकि हमें सब कुछ पूरा न लिखना पड़े। यानी जो मैं अपनी कक्षा में करता

हूँ, वह तार्किक रूप से सही है। क्योंकि किसी भी प्रतीक का तब तक तो कोई "अर्थ" ही नहीं होता जब तक हम स्वयं उसे कोई अर्थ न दे डालें। फिर इसमें क्या बुराई है कि इस निर्णय में बच्चों की भी भागीदारी हो।

जो सवाल कोई बच्चा सही-सही न कर सकता हो, उसे वह सवाल करने को कहना एक बड़ी भूल है। हमें उन्हें यह स्वयं जाँचने का मौका देना ही चाहिए कि 37 सफेद छड़ों के एक समूह और 28 के एक समूह में से किसमें अधिक सफेद छड़ें हैं और बड़े समूह में कितने टुकड़े ज्यादा हैं। केवल तभी हमें उसे घटाने के लिए $37 - 28 = ?$ जैसे सवाल देने चाहिए। यह बेहद ज़रूरी है कि वह घटाने के नियम जानने के पहले उसकी प्रक्रिया को ठीक से समझ चुका हो, और घटा सकता हो। यही बात गणित के दूसरे सवालों पर भी लागू होती है। लिखित संख्याओं के साथ सवाल करना उन्हें परिचित गणितीय संक्रिया का ही अधिक सरल व तेज़ी से हो जाने वाला तरीका लगना चाहिए, न कि ऐसी रहस्यमय विधि जिसमें उनसे निरर्थक प्रश्नों के लिए सही उत्तरों की अपेक्षा की जाती है।

मोटे तौर पर मैं इस सबसे अब भी सहमत हूँ। पर आज का कैल्क्युलेटर-युग एक दूसरी राह भी सुझाता है, जिससे बच्चे अंकों और अंक संक्रियाओं की स्वयं छानबीन कर सकते हैं। हम बिल्कुल आसान-सा कैल्क्युलेटर ले सकते हैं जिससे केवल जोड़ना, घटाना या गुणा व भाग करना ही सम्भव हो। हम उनके सहारे भी बच्चों को कई तरह के सवाल समझा सकते हैं। अगर उन्हें $3 + 8 = ?$ "करना" बताना हो तो हम कहेंगे, "मशीन चालू करो, तीन का बटन दबाओ, तब जोड़ के निशान का बटन दबाओ, फिर 8 का बटन दबाओ, और आखिर में बराबर के निशान वाला बटन दबाओ। उत्तर अपने आप आ जाएगा।" अगर 4×6 करना हो, "4 का बटन दबाओ, फिर x का, फिर 6 का और फिर = का। और लो तुम्हारे उत्तर।" इन सबके "अर्थों" की व्याख्या की या किसी तरह के लम्बे स्पष्टीकरण की ज़रूरत ही नहीं है। इतना-भर समझाकर बच्चों को छोड़ देना चाहिए। पूरी सम्भावना है कि बच्चे स्वयं अपने लिए तमाम तरह के सवाल ईजाद करने लगेंगे और स्वयं ही

उन्हें कैल्क्युलेटर पर कर भी लेंगे। वे यह सब अव्यवस्थित और बेतरतीब तरीके से करेंगे। उनके पास जितनी सूचना इकट्ठी होगी वह न केवल निरुद्देश्य ही होगी, शायद निरर्थक भी। पर यह शायद वैसी ही बात होगी, जैसे पहले-पहल कानों में किसी भाषा का पड़ना होता है। वे धीरे-धीरे कई तरह के विचारों को ग्रहण करने लगेंगे, उनका परीक्षण कर सकेंगे। वे समझ सकेंगे कि संख्याएँ और उनकी संक्रियाएँ कैसे होती हैं। वे यह भी जान लेंगे कि कैल्क्युलेटर से कौन-सा सवाल किस तरह कराया जा सकता है और अन्ततः वह क्या उत्तर देगा, इसका अनुमान कैसे लगाया जा सकता है। संक्षेप में, बच्चे स्वयं अपने अर्थ बना सकेंगे, अंकों की दुनिया का एक सीमित ही सही, निजी मानसिक प्रारूप रच सकेंगे।

□ अप्रैल 16, 1960

गणित की मेरी कक्षा में 16 बच्चे हैं। उनमें से चार तो खराब छात्र हैं, एक ठीकठाक है पर बाकी सभी मेधावी हैं। विषय की समझ है उनमें। उन सबको स्थानीय मान की बात समझाई गई है।

उस दिन मैंने उनसे पूछा, "मान लो कि मैं बैंक में 1437.50 डॉलर का एक चेक लेकर जाता हूँ। मैं कहता हूँ कि मुझे अपना भुगतान 10 डॉलर के नोटों में चाहिए, तो मुझे 10 डॉलर के कितने नोट मिलेंगे?" संख्या मैंने बोर्ड पर लिख दी। कुछ देर कागज़ पर कलम घिसने के बाद जवाब आने लगे। कोई जवाब सही नहीं था। अधिकांश तो बड़े ही ऊटपटांग थे। केवल थोड़े से बच्चों ने दो-तीन कोशिशों के बाद सही उत्तर पाया पर अधिकांश बच्चे जवाब तक पहुँच ही नहीं सके।

मैंने बोर्ड पर लिखी संख्या पोंछ दी और लिखा 75.00 डॉलर। "अब कितने नोट मिलेंगे?" सबको फटाक से उत्तर मिल गया। तब मैंने लिखा डॉलर 175.00। पूछा, "अब कितने नोट मिलेंगे?" यह सवाल उन्हें कठिन लगा। कुछ ने उत्तर पा लिया पर अधिकांश असफल रहे। कुछ देर बाद मैंने 175 की संख्या में 7 की ओर इशारा कर पूछा, "इस 7 का मतलब

क्या है?" उन्होंने कहा, "7 का मतलब है 70 डॉलर या 7 दहाइयाँ।" मैंने यह बोर्ड पर लिखा। तब मैंने जानना चाहा, "अब इस 1 का मतलब बताओ?" सबने कहा, "मतलब है, हमारे पास सौ डॉलर हैं।" पर यह किसी ने नहीं बताया कि इसका मतलब 10 दहाइयाँ भी होता है। सो मुझे पूछना पड़ा, "सौ में कितनी दहाइयाँ होती हैं?" सबका उत्तर था 10। जैसा उन्होंने बताया था उसी हिसाब से मैंने आगे बताया, "10 दहाइयों में अगर 7 दहाइयाँ जोड़ी जाएँ तो हमारे पास 17 दहाइयाँ हो जाएँगी।" इसके बाद मैंने फिर से 1437.50 डॉलर बोर्ड पर लिखा और हर संख्या के स्थानीय मान के अनुसार उसमें आने वाली दहाइयों की बात पूछी। बच्चों ने बताया कि 3 का अर्थ 3 दहाइयाँ होगा, 4 का अर्थ 40 होगा और 1 का सौ। और उनका योग 143 होगा। इस पर मैंने संख्या में 143 के इर्द-गिर्द एक गोला बना दिया। बच्चे उत्तेजना से शोर करने लगे, "आ गया, आ गया! यह तो बहुत ही आसान है। फट से निकाला जा सकता है।" पर मैं शंकित था क्योंकि "अच्छी स्पष्टीकरण" की ताकत पर से मेरा भरोसा डिग चुका था।

दो दिन बाद मैंने बोर्ड पर 14357.50 डॉलर लिखा और जानना चाहा, "इस चैक को मैं अगर भुनाने जाऊँ और 100 के नोट माँगूँ तो कितने नोट मिलेंगे?" मुझे जो उत्तर मिले उनमें से कुछ थे 43, 17, 107, 142, 604, 34, 13100 और 22। केवल एक ही बच्चे ने पहली बार में सही उत्तर ढूँढ निकाला था। मैं हरेक अंक के स्थानीय मान की बात करता, उसके पहले चार और बच्चों ने सही जवाब पा लिया, पर शेष ग्यारह बच्चे असफल रहे। मैंने फिर से संख्या लिखी। हरेक अंक के स्थानीय मान के अनुसार उसमें आने वाले सैकड़ों की बात पूछी। पर मुझे शंका है कि वे अब भी स्थानीय मान को पहले से बेहतर समझे हैं।

जब तक यह समझ न हो तब तक बच्चे बड़ी संख्याओं के भाग नहीं कर सकते। अब 260 को 5 से भाग देने की बात ही लीजिए। 2 सैकड़ों के 5 हिस्से तो हो नहीं सकते, सो उन सैकड़ों को हमें 20 दहाइयों में बदलना पड़ता है। यानी हमारे पास कुल 26 दहाइयाँ हो जाती हैं। तब

25 दहाइयों को पाँच बराबर भागों में बाँटने के बाद हमारे पास 1 दहाई बच रहती है। इस दहाई को इकाइयों में बदलना पड़ता है। तब जाकर हरेक हिस्से में 5 दहाइयाँ और दो इकाइयाँ होती हैं। भाग करने का तरीका तो इस परिवर्तन के विचार पर आधारित होता है। पर जो बच्चा भाग करता है वह यह समझता ही नहीं कि वह कर क्या रहा है, या क्यों कर रहा है। उनके लिए तो विभाजन की पूरी प्रक्रिया ही निरर्थक है, जो उनके लिए सिर्फ परेशानियाँ पैदा करती रहती हैं।

जेम्स हर्नडन की पुस्तक *हाउ टू सर्वाइव इन यॉर नेटिव लैंड* में एक शिक्षाप्रद अध्याय है जिसका नाम है *द डम्ब क्लास*। जिस माध्यमिक स्कूल में जिम पढ़ाते थे वहाँ के सबसे फिसड्डी छात्र उनकी कक्षा में थे। ऐसे बच्चे जो अब तक कुछ भी सीख नहीं पाए थे और इनमें भी एक ऐसा था जो फिसड्डियों का भी सरताज था। वह किसी तरह का स्कूली कार्य नहीं कर पाता था।

एक दिन जिम इसी छात्र से एक खेल के मैदान में मिले। उन्होंने पाया कि वह लड़का वहीं नौकरी करता था। हर शाम होने वाली प्रतियोगिताओं में स्कोर रखने का काम उसके जिम्मे था। वह एक ऊँची कुर्सी पर बैठता था और दोनों ओर के स्कोर का लेखा-जोखा रखता था। जिम लिखते हैं कि बच्चा वहाँ इसलिए कार्यरत नहीं था कि उसने फिसड्डी छात्रों को नौकरी दिलाने के किसी केन्द्रीय कार्यक्रम के तहत रखा गया था, बल्कि उसे वहाँ काम मिला ही इसलिए था कि वह तेज़ी से सही हिसाब रख सकता था। यह तो ज़ाहिर ही है कि उन प्रतिस्पर्धाओं में किसी तरह की भूल अक्षम्य ही होती।

सो जिम ने सोचा कि वह लड़के को गेंदबाज़ी के बारे में सवाल देगा। लड़का वे सवाल हल नहीं कर पाया, न केवल उसके उत्तर गलत थे, बल्कि हास्यास्पद भी। फिसड्डी छात्र दुनिया में मुस्तैद हो सकते हैं पर स्कूल में कदम रखते ही वे फिर से फिसड्डी बन जाते हैं। उनके लिए तो स्कूल एक ऐसी उबाऊ, खतरनाक और जीवन के अनुभवों व अर्थों से कटी जगह होती है, जिसने उन्हें फिसड्डी बनाया था।

□ जून 20, 1960

हम यह कैसे जान सकते हैं कि बच्चे किसी बात को समझते हैं या नहीं? जब मैं छात्र था तो मैं यह तय कर पाता था कि मैं किसी चीज़ को समझा भी हूँ या नहीं और इस समझ का उस विषय की परीक्षा में मिले प्राप्तांकों से कोई सम्बंध न था। कॉलेज के आखिरी वर्ष में मैंने गणित का पाठ्यक्रम लिया था। अच्छे ही नम्बर मिले थे मुझे। पर जब सत्र शेष होने को आया तब मुझे साफ नज़र आने लगा कि मुझे तो पाठ्यक्रम का सिर-पैर ही समझ नहीं आया है। कॉलेज में पढ़ाते समय मैं एक अर्से तक इस भरोसे रहा कि मेरे छात्र यह तो स्वयं ही तय कर सकते होंगे कि उन्हें कब कोई बात समझ आ गई है और कब नहीं। मैं स्वयं भी उनसे कहता रहता था कि जब कभी उन्हें कुछ समझ न आए वे तुरन्त मुझे बता दें ताकि मैं अपनी पांडित्य भरी "व्याख्या" से उनकी शंकाओं का समाधान कर सकूँ। कई दुःखद अनुभवों के बाद ही मैं यह जान सका कि शायद सौ में से एक ही छात्र ऐसा होता होगा जो यह जान सके कि उसे कोई बात समझ आई भी है या नहीं। यानी ऐसे में उनसे यह अपेक्षा रखना कि वह यह भी बताए कि बात उन्हें क्यों समझ नहीं आई, तर्कसंगत नहीं होगा। जो बच्चा समझ जाता है या जानता है, उसकी चिन्ता तो हमें करनी नहीं है, क्योंकि वह तो अच्छे नम्बर पाएगा ही। पर कक्षा के दूसरे कुछ छात्र कब, क्या, नहीं समझ सके हैं, यह हम कैसे जानें।

सबसे पहले तो दिमाग में किसी बाहरी परीक्षा की ही बात उपजती है। पर यह परीक्षा कैसी हो? क्योंकि मैं अब तक तमाम ऐसे छात्रों के सम्पर्क में आ चुका हूँ जो बिना यह समझे ही कि वे क्या कर रहे हैं सवाल हल कर डालते हैं। इनमें से कुछ तो ऐसे भी हैं जो अर्थ तक समझे बिना मेरे द्वारा की गई सभी व्याख्याएँ रट्टू तोते की तरह दोहरा सकते हैं। और फिर सभी कक्षाओं में ऐसे बच्चे भी तो होते हैं जो परीक्षा के भय से ही जड़ हो जाते हैं। वे इतना डर जाते हैं कि जो कुछ वे जानते

हैं उस तक को परीक्षकों को नहीं दिखा पाते। कुछ दूसरे ऐसे भी होते हैं जो काम करते समय बात पूरी तरह समझते हैं, पर उसे शब्दों में बाँधते समय डर व भ्रम के जाल में उलझ जाते हैं।

इस समस्या का आंशिक समाधान है, बच्चों की ऐसी परीक्षाएँ लेना जैसी मैंने इस वर्ष अपने बच्चों की ली थी। इस परीक्षा में मिश्रित समस्याएँ थीं। यानी ये सवालों का उत्तर ढूँढने की स्वचालित मशीन के द्वारा हल नहीं किए जा सकते। बच्चों को सोचने पर बाध्य होना पड़ता है। शायद यह अच्छा हो कि हम अपने प्रश्नपत्रों को नया ढाँचा दें। पर उस स्थिति में हम क्या करें, जब इन परीक्षाओं को लेने के बाद यह लगे कि साल-भर जो कुछ हमने पढ़ाया, वह अधिकांश बच्चों के पल्ले ही नहीं पड़ा।

शायद यहाँ हमें यह भी स्पष्ट कर देना चाहिए कि समझ से हमारा क्या अर्थ है। मुझे लगता है कि अगर मैं किसी बात को ठीक से समझ गया हूँ तो मैं (1) उसे अपने शब्दों में प्रस्तुत कर सकूँगा। (2) मैं उसके उदाहरण दे सकूँगा। (3) उसे हर रूप और हर स्थिति में पहचान सकूँगा। (4) उसमें तथा दूसरे विचारों व तथ्यों में सम्बंध देख सकूँगा। (5) उसके कई उपयोग कर सकूँगा। (6) उसके परिणामों का अनुमान लगा सकूँगा। (7) उसका विलोम व विपरीत बता सकूँगा। यह सूची सम्पूर्ण नहीं है, एक शुरुआत भर है। पर सम्भव है, इसकी मदद से हम यह अनुमान लगा सकें कि हमारे छात्र असल में क्या जानते हैं, चाहे वे आभास इससे कहीं अधिक जानने का क्यों न देते हों। उसके वास्तविक और फ़र्ज़ी ज्ञान में क्या अन्तर है?

कई लोग यह कहते हैं कि ऐसा कोई अन्तर होता ही नहीं है। पर समस्या के अस्तित्व को ही नकार देना एक पेचीदा गुत्थी से निपटने का सबसे आसान तरीका है। कई मनोवैज्ञानिक इस मत को मानते हैं। उनके अनुसार अगर कोई यह कह दे कि $7 \times 8 = 56$ है, तो वह इस तथ्य के बारे में जो कुछ जानना है, वह जानता ही है। अगर वे नहीं जानते होते तो यह कहते कैसे? अगर इस मत को हम भी मान लें तो हम एक गणितज्ञ, तीसरी कक्षा के एक बच्चे और एक रट्टू तोते में कोई भेद नहीं मानेंगे,

क्योंकि तीनों ही इस तथ्य को दोहरा सकते हैं, तो तीनों की समझ भी एक-सी ही होगी। अन्तर केवल इतना होगा कि गणितज्ञ इस तथ्य के अलावा भी तमाम तथ्य दिमाग में रखता है। अर्थ यह हुआ कि किसी बच्चे को अगर गणितज्ञ बनाना है तो उसे केवल प्रशिक्षित भर करना है। उसे तब तक अनुकूलित करना है जब तक वह ऐसे ढेरों तथ्य दोहराने लायक न हो जाए। जो कुछ आइन्स्टाइन जानता था वह सब एक बच्चे को रटा दीजिए और छू-मन्तर। एक-दूसरा आइन्स्टाइन आपके सामने होगा।

आश्चर्य है। लोग कैसी-कैसी बकवास पर विश्वास कर लेते हैं।

यह तो सच है कि यह विचार व्यवहारशास्त्रियों के सिद्धान्तों में बिलकुल सही बैठता है और काफी लोकप्रिय भी है, बावजूद उन तमाम सवालों के जिनका समाधान इस विचार द्वारा हो ही नहीं सकता। उन शिक्षकों के लिए तो यह सचमुच आरामदायक है जो यह माने बैठे हैं कि उनका काम है एक-एक कर सूचना उन बच्चों के खाली दिमागों में ठूँसते चलना जो स्कूल की असेम्बली लाइन में धीमी रफ्तार से बढ़ते चले आ रहे हैं। इसी विचार ने प्रायोजित निर्देश और मशीनी शिक्षण की उस अनन्त मालगाड़ी को भी चालू कर दिया है, जिस पर हरेक भय अपने कुनबे के दूसरों को धकियाता हुआ, सवार होने को तैयार है।

पर $7 \times 8 = 56$ जैसी सूचनाएँ एकांतिक तथ्य नहीं हैं। वे तो अंकों की दुनिया का अंश हैं और केवल वही व्यक्ति उसे सही-सही जानता है जो इस तथ्य का उस दुनिया में स्थान भी समझता है और उस दुनिया के दूसरे क्षेत्रों को भी जानता है। एक गणितज्ञ जानता है कि $7 \times 8 = 56$ इस तथ्य की पुष्टि करता है कि सम संख्या का गुणनफल भी सम होता है; कि $7 \times 8 = 56$ वही है जो 14×4 , 28×2 या 56×1 है; कि केवल इन्हीं सम संख्याओं को गुणा करने पर गुणनफल 56 आएगा; कि 7×8 को $(8 \times 8) - 8$ या $(7 \times 7) + 7$ या $(15 \times 4) - 4$ के रूप में लिखा जा सकता है, आदि-आदि। वह यह भी जानता है कि $7 \times 8 = 56$ केवल एक प्रतीकात्मक सम्बंध है, जो वास्तविक जगत में कई रूपों में पाया जाता है। इसी तरह वह यह भी जानता है कि एक

आयत जिसकी एक भुजा 8 इकाइयों व दूसरी भुजा 7 इकाइयों के बराबर है, उसका क्षेत्रफल 56 वर्ग इकाइयाँ होगा। पर जिस बच्चे ने एक तोते की तरह “आठ सत्ते छप्पन” सीखा है, वह वास्तविक जगत या अंकों की दुनिया में इसके तमाम सम्बंधों को नहीं समझ सकता। उसके पास अन्धस्मृति के अलावा कुछ नहीं होता। वह भूलने पर कह सकता है कि $7 \times 8 = 23$ होता है या यह भी कि 7×8 , 7×5 से छोटा है या कि 7×10 से बड़ा है। 7×8 जानते हुए यह ज़रूरी नहीं है कि वह बच्चा यह भी जाने की 8×7 वही बात है। वह 7×8 याद करने के बावजूद इस सूचना का उपयोग नहीं कर सकता है। अगर उससे पूछा जाए कि एक 7 से.मी. \times 8 से.मी. के आयत में कितने 1 वर्ग से.मी. के टुकड़े समाएँगे तो वह उस आयत में बड़ी मेहनत से उन टुकड़ों को पहले लगाएगा, तब गिनेगा। वह अपने उत्तर को याद किए हुए पहाड़े के साथ जोड़कर देख ही नहीं सकेगा।

ज्ञान, सीखना और समझना एकरेखीय चरण नहीं हैं। न ही वे एक कतार में एक के ऊपर एक रखे हुए जानकारी के टुकड़े हैं। ज्ञान का कोई भी क्षेत्र चाहे वह भाषा हो, विज्ञान हो, संगीत हो या कोई भी दूसरा विषय क्यों न हो, एक क्षेत्र होता है। उसे जानने का अर्थ उस क्षेत्र की हरेक वस्तु को केवल जानना भर नहीं होता, बल्कि यह जानना भी होता है कि उनका परस्पर सम्बंध क्या है, किनसे उनकी तुलना की जा सकती है, वे कहाँ एक-दूसरे में जुड़ते हैं। यह अंतर वैसा ही है जैसा अपने घर के बारे में यह कहना कि उसमें कितनी मेजें, कितनी कुर्सियाँ या बस्तियाँ हैं और आँखें मूँदे-मूँदे ही यह जान लेना कि कौन-सी चीज़ कहाँ आनी चाहिए। यह वही अंतर है जो एक शहर की सड़कों के नाम जानने में और अपने गन्तव्य तक पहुँचने के लिए हमें कौन-सा रास्ता पकड़ना चाहिए, यह जानने में होता है।

इस बारे में मेरा विश्वास अब पहले से कहीं अधिक दृढ़ हो चला है और मुझे यह इस पुस्तक के अन्य विचारणीय मुद्दों जितना ही महत्वपूर्ण लगता है।

हम अपनी दुनिया और उसके ज्ञान के विषय में ऐसे क्यों बोलते या लिखते हैं मानो वह एकरेखीय हो? इसलिए क्योंकि भाषा का स्वभाव ही ऐसा है। हमारे शब्द एक कतार में निकलते हैं, एक के बाद एक बोलने या लिखने का कोई दूसरा उपाय है ही कहाँ। सो जगत के बारे में कुछ कहने के मकसद से हम इस अविभाजित व सम्पूर्ण जगत को छोटे-छोटे टुकड़ों में काट देते हैं। बातों की लड़ियाँ ही बना लेते हैं, मानों वे किसी माला के मनके हों। पर इससे हमें धोखा नहीं खाना चाहिए। जगत बातों की लड़ों जैसा होता नहीं है। हमारा ज्ञान तब तक वास्तविक, सम्पूर्ण, बिल्कुल सही या उपयोगी नहीं हो सकता, जब तक हम इन शब्द लड़ों को अपने दिमाग में जगत की छवि में परिवर्तित नहीं करें। यानी हमारे मन में जगत का एक कामचलाऊ प्रारूप भी हो। जब हमारे पास एक ऐसा प्रारूप हो और जब यह प्रारूप यथार्थ से बिल्कुल मिलता-जुलता हो, केवल तभी हमारे बारे में यह कहा जा सकता है कि हमने कुछ सीखा है।

स्कूलों में जो होता है वह यह है कि बच्चे शब्दों की इन लड़ियों को बिना पचाए ही अपने दिमाग में सहेजते जाते हैं, ताकि शिक्षक जब भी माँगे, वे उसे उगल सकें। पर ऐसे में न तो उनके शब्द बदल ही पाते हैं, न ही किसी दूसरी वस्तु के साथ जुड़ते हैं, न उनके साथ शब्दों का कोई सम्बंध ही बन पाता है। वे उतने ही अर्थहीन होते हैं जितने किसी तोते के बोल, खुद तोते के लिए। हम स्कूलों को ऐसे स्थानों में कैसे बदलें, जहाँ बच्चे केवल निगलें नहीं, कुछ वास्तविक ज्ञान प्राप्त करें?

मुझे अब अहसास होता है कि जब कभी हम जानने की चेष्टा करते हैं कि हमारे छात्रों ने क्या समझा है तो हम उनकी जैसी भी समझ पनपती है, उसे भी नष्ट कर देते हैं। जब तक किसी वस्तु का ज्ञान सुदृढ़ नहीं हो जाता, बच्चे अधिकार से उस पर बोल नहीं सकते तब तक उनसे यह अपेक्षा रखना कि वे अपने ज्ञान के बारे में कुछ बताएँ, या यह बताएँ कि उन्होंने जो जाना या पाया वह कैसे जाना, बिल्कुल बेमानी है। छोटे बच्चों से ऐसे सवाल पूछना ही अनुचित है। बच्चों ने क्या जान लिया है इसका कुछ-कुछ अनुमान हम तब लगा सकते हैं

जब हम उन्हें कुछ करते देखें। वह भी उस स्थिति में जब उन्हें अपनी रुचि का काम चुनने की स्वतंत्रता हो।

हम यह भी कर सकते हैं कि हम बच्चों को कुछ ऐसे रास्ते भी सुझाएँ, जिससे वे स्वयं अपनी समझ को जाँच सकें, अपने विचारों की सच्चाई को परख सकें। पर यहाँ भी ध्यान रहे कि स्व-परीक्षण का अगर कोई एक तरीका अच्छा है तो सौ बेहतर भी होंगे। यानी यहाँ भी सबसे अच्छे नियम वही होंगे जो छात्र अपने अनुभव से अपने लिए बनाएँ।

□ सितम्बर 11, 1960

मैं अपने दोस्तों से मिलने गया था। उन्होंने अनुरोध किया कि मैं उनकी दस वर्षीय बिटिया के साथ कुछ देर गणित करूँ, क्योंकि उसे गणित में कुछ कठिनाई हो रही थी। मैंने हाँ कर दी। उनकी बिटिया से मेरी पुरानी दोस्ती थी। मैंने सोचा, शायद मैं यह पता लगा सकूँगा कि गणितीय समस्याओं पर वह कैसे सोचती-विचारती है। मैंने गणित से आरम्भ किया। मैंने सोचा था कि उससे पूछूँगा कि 2×76 कितने होते हैं। और जैसे ही वह जवाब दे देगी, तुरन्त आगे पूछूँगा “ 2×77 ?” मैं देखना चाहता था कि वह अपने पिछले उत्तर में 2 जोड़कर फौरन जवाब देती है या फिर सवाल को एक नई समस्या की तरह ही देखती है। मैं भौचक रह गया जब उसने मुझे बताया कि $2 \times 76 = 432$ होते हैं।

मैंने अनुमान लगाने की कोशिश की कि उसे यह जवाब कैसे मिला होगा। मुझे लगा कि 6 इकाइयों को तो उसने 2 से ही गुणा किया होगा, पर दहाइयों को 6 से यानी उसने 6 को 72 से गुणा कर डाला था और वह भी सही। मैंने उससे फिर से गुणा करने को कहा। उसका उत्तर दूसरी बार भी 432 ही रहा। इससे स्पष्ट हो गया कि वह गलतियाँ दोहराती थी। जिस राह पर वह एक बार चली हो, उस पर ही कदम बढ़ाती थी।

अब मैंने पूछा, “ 2×100 ?” उसने कहा, “200।” मैंने पूछा, “ 2×90 ?” “180।” “ 2×80 ?” रुककर, “160।” “ 2×76 ?” “432।” “ 2×70 ?” “140।”

"2 x 80?" "160!" "2 x 76?" "432!" "2 x 100?" "200!" "2 x 200?" "400!" "2 x 76?" "432!"

तब वह अचानक रुकी और उसने कुछ देर मुझे घूरा और तब कहा, "ज़रा ठहरना!" वह कागज़ पेंसिल लेने दौड़ी, "कुछ गड़बड़ है, मैं ज़रा देख लूँ!" कागज़ पर सवाल कर उसने पाया कि $2 \times 76 = 152$ ।

जिस क्षण उसने कहा था, "ज़रा ठहरना" उसी क्षण कुछ महत्वपूर्ण घटा था। शायद उसने पहली बार यह पाया था कि किसी सवाल के उत्तर के बारे में न केवल यह पूछा जा सकता है कि "उत्तर सही है" या "उत्तर गलत है", बल्कि यह भी कि "क्या यह उत्तर समझदारीपूर्ण है?" यह अहसास भी उसे शायद पहली ही बार हुआ था कि यह सवाल बिना उत्तर जाने भी पूछा जा सकता है, खासकर तब जब हमारा उत्तर उन तथ्यों से मेल नहीं खाता हो जिनके सही होने के बारे में हम निश्चित हों।

कुछ देर यों काम करने के बाद वह सोने चली गई। वह अपने काम से खुश थी। मैंने बाद में उसके माता-पिता को उसके काम के बारे में बताया। बताया कि बच्चों को तब किस तरह की परेशानियों का सामना करना पड़ता है, जब उन्हें यह पता ही न हो कि अंकों की संक्रियाएँ होती कैसी हैं। खासकर तब जब उनके पास केवल एक असम्बद्ध तथ्य और विधियाँ मात्र हों। उसके पिता ने स्वीकारा कि वे अब समझने लगे हैं कि हम क्यूसेनियर छड़ों के साथ किस तरह का काम करते हैं। पर उसकी माँ ने विरोध किया। उन्होंने नाराज़ होते हुए कहा कि वे इन नए तरीकों को समझ ही नहीं पातीं। वे तो अपने पुराने तरीके से ही बच्ची को हर दिन गणित का एक पन्ना इस चेतावनी के साथ करने को देती रहेंगी कि हर गलत सवाल के बदले उसे कई सवाल दण्डस्वरूप करने पड़ेंगे।

इस प्रतिक्रिया से मुझे आश्चर्य नहीं, भय होता है। यह माँ बच्ची पर सज़ा के रूप में गणित क्यों लादना चाहती है। मुझे उन सभी अभिभावकों की याद हो जाती है, जिन्होंने किसी न किसी समय मुझसे अपने बच्चों की जमकर ठुकाई करने को कहा था। क्या ऐसे लोग स्कूल को किसी तरह की संस्थागत सज़ा के रूप में देखते हैं? या एक ऐसी अप्रिय चीज़ के

रूप में जो हम अपने बच्चों पर बिना कसूर ही लाद सकते हैं? वह क्या है जो उनके मन में अपने ही बच्चों के लिए ऐसा बैर जगाता है?

□ अक्टूबर 16, 1960

मैंने अपनी पाँचवी कक्षा से पूछा, "अपनी मेज़ के एक सिरे से दूसरे सिरे तक एक कतार बनाने के लिए तुम्हें कितनी सफेद छड़ों की ज़रूरत होगी?" कक्षा के पन्द्रह बच्चों में से करीब आधों ने नारंगी (10) छड़ों से नापना शुरू किया। बाकी में से एक को छोड़ सबने सफेद छड़ें उठाईं। जब सफेद छड़ें खत्म हो गईं तो उन्होंने लाल (2) उठाईं और पास-पास रखते गए। जैसे सफेद रखी थीं। लाल खत्म हुई तो हल्की हरी (3) छड़ें रखीं और ऐसा ही करते गए। जब कतार पूरी हो गई तब उनको गिनना शुरू किया।

ये बच्चे इन छड़ों को तीन सप्ताह से काम में ले रहे हैं। वे उनसे परिचित हैं, हरेक की लम्बाई जानते हैं। उन्हें वे उनकी लम्बाई से पुकारते हैं। वे नारंगी छड़ को 10 की छड़ ही कहते हैं। वे यह जानते हैं कि एक नारंगी छड़ 10 सफेद छड़ों के बराबर है। पर वे इस जानकारी को उस समय भुना नहीं पा रहे हैं, जबकि उससे उनका काम आसान हो सकता है।

मैंने पूछा, "इस कागज़ (करीब 9" x 6") को पूरा भरने के लिए कितनी सफेद छड़ें चाहिए होंगी?" करीब दस बच्चों ने पूरे कागज़ पर छड़ें बिछांना शुरू किया। कुछ तो थोड़ी देर में यह देखकर ही रुक गए, कि हरेक कतार में छड़ों की संख्या समान थी। पर कुछ ने पहले पूरे कागज़ पर छड़ें बिछाईं, तब समझ आने पर छड़ों की लम्बाई को कतारों की संख्या से गुणा किया। दो बच्चों ने छड़ों को लम्बाई में न रखकर उन्हें खड़ा करना शुरू कर दिया था। फलतः हरेक छड़ ने, चाहे उसकी लम्बाई कितनी भी क्यों न हो, केवल 1 वर्ग से.मी. की जगह ही घेरी। कुछ देरी में उनकी सारी छड़ें खत्म हो गईं। अब आगे क्या करना है, यह उन्हें समझ ही नहीं आया।

डॉरथी ने अपना कागज़ छड़ों से पूरा भरने के बाद कहा कि उसे पूरा करने के लिए 44 सफेद छड़ों की ज़रूरत होगी। पर यह अन्धानुमान

ही था। मैंने पूछा, “अच्छा बताओ तो एक नारंगी छड़ को पूरा करने के लिए कितनी सफेद छड़ें चाहिए होंगी?” उसने कहा, “करीब आठ।” मैंने सुझाया, “करके तो देखो।” उसने पाया कि नारंगी छड़ के लिए 10 सफेद छड़ों की ज़रूरत पड़ती है। तब मैंने उससे पूछा, “4 नारंगी छड़ों के लिए कितनी सफेद छड़ों की ज़रूरत होगी?” वह चुप्पी साधे मुझे घूरती रही।

□ अक्टूबर 30, 1960

उस रोज़ हम लोग गणित के पीरियड में पहाड़ों पर काम कर रहे थे। उसके परिणाम आश्चर्यजनक रहे। उस कागज़ पर 100 चौखाने थे। दस-दस की 10 कतारों में। ऊपर की कतार तथा बाईं ओर के स्तम्भ में 1 से 10 तक की संख्याएँ थीं, पर क्रम में नहीं। इस तरह सौ के सौ चौखाने किसी न किसी संख्या के स्तम्भ या कतार में आते थे। अगर कोई चौखाना 2 नम्बर की कतार में 3 नम्बर के स्तम्भ में आता था तो बच्चों को उस चौखाने में 2×3 या 6 लिखना था। अगर चौखाना पाँचवीं कतार के सातवें स्तम्भ में आता तो वहाँ उन्हें 35 लिखना था।

मारजरी के पृष्ठ पर मैंने पाया $4 \times 6 = 22$, $4 \times 4 = 20$, $4 \times 7 = 32$, तब $10 \times 10 = 20$ व उसके पास में लिखा था $10 \times 2 = 22$ । आठवीं कतार में लिखा था $8 \times 8 = 48$, $8 \times 6 = 59$, $8 \times 4 = 40$, $8 \times 7 = 49$, $8 \times 9 = 42$ । सातवीं कतार में $7 \times 5 = 35$, $7 \times 8 = 24$, $7 \times 7 = 47$, $7 \times 9 = 45$ ।

यह सब मैं मन से नहीं गढ़ रहा हूँ। सच में उसने यही लिखा था। नवीं कतार में $9 \times 9 = 69$, $9 \times 10 = 40$ । चौथी कतार में $4 \times 8 = 62$, $4 \times 9 = 40$ । क्या यह कहना काफी है कि इस बच्ची को पहाड़े नहीं आते?

□ नवम्बर 12, 1960

कुछ दिनों पहले मैं मारजरी के साथ काम कर रहा था। उसने काम रोका और कहा, “मैं कुछ पूछूँ?” “ज़रूर पूछो।” मैंने उत्तर दिया था। इस पर

उसने कहा कि जब कभी वह उँगलियों के सहारे 10, 11, 12, 13 आदि गिनती है तो वह कभी-कभी अँगूठे को 10, तर्जनी को 11 और बीच की उँगली को 12 कहती है, तो कभी अँगूठे को 11, तर्जनी को 12 और यों आगे गिनती है। पर इन दो तरीकों में से किसी एक तरीके से उससे हमेशा गलती होती है। उसने मुझसे जानना चाहा कि कौन-सा तरीका सही है और कौन-सा गलत। मैंने पूछा, “क्या तुम मुझे किसी सवाल का उदाहरण बता सकती हो, जिसमें तुम्हें ऐसी उलझन का सामना करना पड़ा हो?” यह वह नहीं कर पाई। ऐसे बच्चे बिरले ही कोई उदाहरण दे पाते हैं।

उसे एक झाड़ू की ज़रूरत है जो उसके दिमाग के सारे जालों और कबाड़ को बुहार दे। उसके मानसिक लेखा-जोखा की विधि इस कदर गड़बड़ है कि वहाँ से कुछ भी ढूँढना कठिन है। न केवल उसकी फाइलों की दिमागी दराज़ ही बल्कि उसके सभी दिमागी बक्सों-संदूकों को भी पूरी तरह खाली करना ज़रूरी है। अगर वह अब तक के एकत्रित तथ्यों और नियमों का नौ बँटा दस हिस्सा भूल जाए, तब शायद कुछ सीख सके।

अभी उस रोज़ मैंने अपनी कक्षा से कहा कि p से खत्म होने वाली जितनी क्रियाओं को वे जानते हैं, लिख डालें। मारजरी के चेहरे पर एक त्रस्त भाव उभरा। मैंने अपने निर्देश दोहराए। अन्ततः उसने प्रायः आतन्कित होकर कहा, “मुझे कुछ समझ नहीं आ रहा।” मैंने पूछा, “क्या समझ नहीं आ रहा है?” सवाल बेमानी था पर आदत से मैं भी लाचार हूँ। मैं जानता था वह क्या उत्तर देगी, ठीक वही उसने कहा, “बस, मुझे समझ नहीं आ रहा।” मैंने फिर से निर्देश बताए, उसे उन्हें दोहराने को कहा। तब मैंने पूछा, “तुम जानती हो क्रिया किसे कहते हैं?” उसने कहा, वह नहीं जानती। (वैसे यह परिभाषा उसे कई बार बताई गई थी।) मैंने क्रिया के कुछ उदाहरण उसे बताए। उसने चैन की साँस ली और काम करने लौट गई। मेरी इच्छा थी कि मैं उससे पूछूँ, “तुमने मुझसे यह क्यों नहीं कहा कि तुम क्रिया किसे कहते हैं, यही नहीं जानती?” पर कुछ सोचने के बाद मुझे लगा कि जब तक मैंने उससे सवाल नहीं किया था, उसे खुद ही

पता नहीं था कि वह क्रिया ही नहीं पहचानती है। उसे तो केवल इतना पता था कि उससे कुछ करने को कहा गया है जो उसे नहीं आता है। निर्देशों का विश्लेषण कर वह यह समझने में असमर्थ थी कि उसे क्या बात समझ आ रही है, क्या नहीं। उसे तो यह इल्म ही नहीं था कि उसका ज्ञान कहाँ शेष होता था और कहाँ अज्ञान प्रारम्भ होता था।

मारजरी जैसे बच्चे इस बात का इन्तज़ार करते हैं कि शिक्षक उन्हें हर चीज़ करना बता दें, उन्हें केवल अन्धानुकरण ही करना पड़े। उन्हें मौखिक निर्देशों से जानकारी बटोरना नहीं आता। वे खुद से यह अपेक्षा ही नहीं रखते कि वे केवल शब्दों को सुनकर यह समझ लेंगे कि उनसे क्या करने को कहा जा रहा है। न ही उन्हें अपने लक्ष्य और उस तक पहुँचने की राह में, या सौंपे गए काम और उसे करने के तरीके में कोई अन्तर नज़र आता है। उन्हें जब भी कोई सवाल करने को दिया जाता है तो वे या तो उसे “करना जानते हैं” या “नहीं जानते”। और अगर इतिफाक से वे उसे करना नहीं जानते तो फिर वह सवाल ही उनके लिए निरर्थक हो उठता है।

जिन प्रतीकों के ठोस अर्थ बच्चे समझ नहीं पाए हों, उन्हें संचालित करने को कहना ही खतरनाक है, क्योंकि ऐसा करते ही बच्चे मारजरी की ही तरह यह समझने लगते हैं कि सभी प्रतीक निरर्थक होते हैं। हमारा शिक्षण शब्दों से पटा पड़ा है जो शुरू से ही बच्चों पर थोपे जाते हैं।

□ जनवरी 26, 1961

मैंने यह बताया था कि डॉ. गैटेग्नो ने मानसिक रूप से पिछड़े बच्चों की निदर्शन कक्षा में किस तरह की समस्या बच्चों को दी थी। अभी उस दिन मैंने यही समस्या डॉरथी को दी जो मेरे द्वारा अब तक पढ़ाए गए बच्चों में सबसे सुस्त है। अब तक इस समस्या पर जितने बच्चों ने काम किया था, उन सबने एक या दो प्रयास में उसका समाधान पा लिया था। पर डॉरथी पाँच-छह प्रयासों के बाद ही बिना झिझके या भूल किए खाली

जगह के लिए सही छड़ का चुनाव कर सकी। मैंने कहा, “भई तुम्हें छकाना तो अब मुश्किल हो चला है।” और हम कोई दूसरा खेल करने लगे।

कुछ शिक्षकों को यह लग सकता है कि इस तरह के खेलों का भला क्या लाभ होगा। पहला और सबसे ज़रूरी लाभ तो यही है कि ये खेल उस बच्ची को एक ऐसा सवाल देते हैं, जिसका उत्तर वह बिना किसी बाहरी सहायता के, बिना किसी फॉर्मूले या अन्धस्मृति से निकाले किसी विधि-विधान को अपनाए, स्वयं ढूँढ सकती है। दूसरे, इन खेलों से उसे ठोस वस्तुओं के व्यवहार के बारे में एक बुनियादी तथ्य समझने का मौका मिलता है। वह समझ पाती है कि अजीब वस्तुओं का व्यवहार सुसंगत और भरोसे लायक है न कि स्वेच्छाचारी और अननुमेय।

यह मान लेना तो बड़ा आसान है कि बच्चों का इन्द्रिय-बोध ही भोथरा है। मानो वे वह सब देख ही न पाते हों, जो हम देख पाते हैं। मैंने एक बार डॉरथी से पूछा था कि कौन-सी छड़ छह (या कोई दूसरी संख्या) सफेद छड़ों के बराबर होगी? वह कई बार ऐसी छड़ें उठाती रही जो उससे दो-तीन से.मी. बड़ी या छोटी थीं। वह हर बार उन्हें छह सफेद छड़ों के कतार के पास रखकर नापती रही। क्या उसकी इन्द्रियाँ उसे उस क्षण के पहले कोई सन्देश दे ही नहीं रही थीं? या वह अपनी इन्द्रियों द्वारा दिए गए संकेतों पर भरोसा करने से ही डरती थी।

शायद यह सम्भव हो कि समय के साथ इस बच्ची के मन के पुनर्निर्माण के लिए बहुत पीछे, बिल्कुल शुरूआत तक, पहुँच जा सके। जिस तरह गणित के दुरुपयोग ने उसकी बुद्धि का विनाश किया है, उसका सदुपयोग उसके निर्माण में सहायक हो सके। पर यह तब तक नहीं हो सकता जब तक बाहरी जगत उसे सीखते समय, चीज़ों का अर्थ ग्रहण करते समय बिल्कुल अकेला न छोड़ दे। उसे इस बात पर विवश न करे कि वह जो नहीं जानती, उसे भी जानने का आभास देती रहे। इतना कम जानने पर उसे बेवकूफ ही न करार दे, उसे लज्जा का बोध न कराए। पर जाहिर है कि ऐसी अपेक्षाएँ रखना ही बेकार है।

“इस बच्ची के मन के पुनर्निर्माण...” यह कहना ही गलत है। यह जुमला ही खराब है। हम उस समय क्या कम नुकसान कर रहे थे जब हम यह सोचे बैठे थे कि हम केवल कुछ तथ्य ही पढ़ा रहे हैं। जिस दिन हम यह तय कर लेंगे कि हम शिक्षकों का काम बच्चों के मन का पुनर्निर्माण है, उस दिन से हम और नुकसान पहुँचाना शुरू करेंगे। मानव तो पैदाइशी मेधावी होता है। हम तो प्राकृतिक रूप से ही सवाल उठाने वाले, उत्तर खोजने वाले, समस्याओं का समाधान करने वाले हैं। हम इसमें माहिर भी होते हैं, खासकर शैशव काल में। पर किन्हीं विशिष्ट परिस्थितियों में, जो वैसे तो कहीं भी पाई जा सकती हैं पर खासतौर पर स्कूलों में तो मिलती ही हैं, हम अपनी मेधाजन्य शक्तियों का उपयोग बन्द कर देते हैं। उनको काम में लेना ही नहीं चाहते, यह मानते ही नहीं कि ये शक्तियाँ हमारे पास हैं भी।

पर इसका समाधान इस बात में निहित नहीं है कि हम “मेधा के निर्माण” की नई-नई युक्तियाँ सोचें, बल्कि इसमें है कि हम उन तमाम परिस्थितियों को ही हटा दें जो लोगों को बेवकूफ-सा व्यवहार करने पर बाध्य करती हों। आवश्यकता यह है कि हम तमाम ऐसी परिस्थितियाँ पैदा करें जहाँ लोगों का व्यवहार मेधावी व्यक्तियों का हो। आत्मा के पास भी शरीर की तरह घावों को ठीक करने की ताकत है, बशर्ते हम उन घावों को जाँचने के लिए खोलते रहे कि वे भर रहे हैं या नहीं।

यह कक्षा डॉरथी के लिए अमूल्य थी। पिछले छह वर्षों के स्कूली जीवन में, स्कूली परीक्षाओं व अन्य मापदण्डों के अनुसार, डॉरथी ने हर सत्र में निर्धारित कार्य का कुल आधा काम ही किया था। पर इस कक्षा में वह पहली बार पूरे साल का काम कर पाई थी। यह इसलिए नहीं सम्भव हुआ था, क्योंकि मैं उसे ढेर सी नई चीज़ें पढ़ा पाया था, उसके मन का पुनर्निर्माण कर पाया था। मैंने तो उसके साथ काम करते हुए बहुत कम समय बिताया था। कई महीनों बाद ही मुझे लगने लगा था कि अब वह अपने भय पर काबू पा सकी है और मैं उसके साथ काम शुरू कर सकता हूँ।

जिस बात ने उसकी सहायता की, वह यह थी कि दूसरी स्कूली कक्षाओं की तुलना में हमारी कक्षा अधिक जीवन्त व रोचक थी, इसमें सहयोग की भावना थी, वह खतरों या धमकी भरी जगह नहीं थी। इन चिन्ताओं से मुक्त होकर कुछ समय में वह अपने खोदे हुए सुरक्षात्मक गड्ढे से बाहर निकल पाई थी। अपनी आँखें खोलकर आसपास जो कुछ हो रहा था, उसे देखने लगी थी। वह कोई दो महीने ही कक्षा में आई होगी कि उसकी माँ एक दिन मुझसे मिलने आई। वे मुझे, जो कुछ मैंने किया उसके लिए धन्यवाद देने आईं। क्योंकि मैंने तब तक डॉरथी को छेड़ना उचित ही नहीं समझा था, उसे कोई समय ही नहीं दिया था। उसका स्कूली काम तब तक भयानक था, सो बात मेरी समझ में नहीं आई। अपने छात्रों की ही तरह मैंने बात कुरेदकर निकालने की कोशिश की। पता चला कि पिछले छह वर्षों से डॉरथी जब भी स्कूल से घर लौटती तो बिल्कुल चुप रहती। शाम-भर उसका मौन नहीं टूटता। पर अब वह बोलती हुई, गाड़ी में बैठती थी। उसका बतियाना न केवल पूरे रास्ते चलता, बल्कि शाम-भर भी। किस बारे में बोलती थी वह? अपने अच्छे टीचर होल्ड साहब के बारे में? जी नहीं। कक्षा में जो कुछ रोचक घटा हो, दूसरे बच्चों ने जो कुछ कहा या किया हो वह उस बारे में बताती थी। सोचने के लिए सामग्री इस स्रोत से मिलती थी।

हाँ, थोड़ा-सा श्रेय अपने आपको देने की खुशी भी मुझे है। मैंने इस प्रक्रिया के आरम्भ होने में सहायता ज़रूर की थी। पर “डॉरथी के मन का पुनर्निर्माण” मैं नहीं कर रहा था। न ही मेरे साथ बिताया समय उसके लिए सबसे महत्वपूर्ण समय था।

□ जनवरी 30, 1961

मैंने एंडी से कहा कि वह ऐसी 5 ढेरियाँ बनाए जिनमें हरेक में आठ-आठ सफेद छड़े हों। इसके लिए हम लोग असल में कोई भी छोटी चीज़ें काम में ले सकते थे। तब मैंने उसे आठ कागज़ के प्याले दिए जिनमें उन्हीं

छड़ों को बराबर बाँटने को कहा। जो बच्चा पहाड़े जानता था वह तुरन्त समझ जाता कि हर प्याले में 5 छड़ें आएँगी। कम समझ रखने वाला बच्चा शायद अपने आप से कहता, “मेरे पास $5 \times 8 = 40$ छड़े हैं। अगर इन्हें 8 हिस्सों में बाँटना है तो हरेक में 5 छड़ें आएँगी।” एंडी ने ऐसा नहीं किया। उसने हरेक प्याले में 8 छड़ें रखने की चेष्टा की। छड़ें खत्म होते ही वह बोला, “यह सही नहीं है।” उसने फिर हरेक प्याले में 4 छड़ें डालीं। 8 छड़ें बच गईं। मैंने सोचा, वह हरेक प्याले में एक-एक डालकर बाँट देगा। पर उसने प्यालों को खाली किया और हरेक में 6 छड़ें डालीं। छड़ें कम पड़ीं। उसने फिर हरेक में 5 छड़ें डालीं। उसका काम पूरा हुआ।

इस काम का सौंदर्य इस बात में है कि एंडी को सवाल का हल आता ही नहीं था। उसे जवाब पाने के लिए संघर्ष करना पड़ा। वह गलतियाँ करता रहा। उसके अनगढ़ प्रयासों द्वारा उसने खोज की; उसके प्रयासों के असफल होने की बात किसी को बतानी नहीं पड़ी। वह सही उत्तर की ओर बढ़ता गया। पाँचवीं कक्षा के बच्चों के लिए उसका गणित का अज्ञान भी उसमें लज्जा की भावना पैदा नहीं कर सका। उसे इस गतिविधि से जैसा जीवन्त सन्तोष मिल सका, वैसा स्कूल में मिल पाना असम्भव है।

टेड ने कुछ भाग के सवाल किए। उसे 86 को 2 से भाग देने में कोई दिक्कत नहीं हुई। 2, 8 में 4 बार जाता है और 6 में 3 बार, सो जवाब 43 है। पर जब उसे 96 को 2 से भाग देना था तो भी उसने यही प्रक्रिया दोहराई। 2, 9 में 4 बार जाएगा और एक बचा रहेगा। 2, 6 में 3 बार जाएगा। उसने जवाब फिर से 43 लिखा। इस बच्चे हुए 1 को क्या करना है इसका उसे कतई भान नहीं था। मैंने उसे 5 से 55 को भाग देने को कहा। उसका उत्तर 11 था। तब मैंने उसे 65 को भाग देने को कहा। उसका उत्तर वही था। तब 75 को, फिर वही उत्तर। तब 85 और 95 को। उत्तर वही रहा। अब तक वह अस्थिर हो चला था। उसने सुरक्षात्मक रवैया अपनाते हुए अपने बचाव में कहा, “9 को 5 से भाग दिया तो 1 मिला। 5 को 5 से भाग दिया तो भी 1 मिला।” पर वह अपने आपको इस फन्दे से निकाल नहीं पाया।

हमने तब ऐसे ही भाग छड़ों को प्यालों में बाँटकर किए। मैंने उसको 5 नारंगी (10) छड़ें दीं और 2 सफेद (1) और उन्हें 4 प्यालों में बराबर बाँटने को कहा। उसने हरेक प्याले में पहले एक-एक नारंगी छड़ डाल दी। एक नारंगी छड़ बची रही। उसे सफेद छड़ों से बदला और तब 12 सफेद छड़ों को भी 4 प्यालों में बाँटकर उसने सही उत्तर 13 पाया।

उसने इस तरह के कई सवाल किए। हर बार उसके पास एक नारंगी छड़ बची रह जाती और उसे मुझसे उसके बदले में 10 सफेद छड़ें लेनी पड़तीं। कभी-कभार मैं उसे छड़ें देने के पहले यह पूछ लेता कि हरेक प्याले में कितनी सफेद छड़ें आएँगी। वह कई बार जवाब दे भी सका। 32 को 2 से भाग देते समय उसने एक-एक नारंगी छड़ प्याले में डाली और बता दिया कि बची हुई 12 सफेद छड़ें दो प्यालों में 6-6 बाँट सकेंगी। यानी हर प्याले में 16 सफेद छड़ें होंगी, पर जब भाग देने की संख्या दो से बड़ी होती, वह मेरे सवाल करते ही अस्थिर हो जाता। वह खुद यह सवाल अपने आपसे कभी कर ही नहीं पाता था। वह उत्तर पाने के लिए छड़ों को सफेद छड़ों में बदलता और ध्यान से हरेक प्याले में बाँटता था।

और होना भी यही चाहिए। जब बच्चे ऐसी ठोस संक्रियाएँ कर रहे हों, ऐसी चीजों में लगे हों जो उन्हें सार्थक लगती हों, जहाँ वे न केवल स्वयं अपने उत्तर ही ढूँढ़ रहे हों, बल्कि यह विश्वास भी पा सकें कि उनके उत्तर सही हैं, तो उन्हें तब ऐसे ही बोझिल प्रयास करने देना चाहिए। जब तक उनका आत्मविश्वास पुख्ता न हो जाए। केवल तभी यह सुझाना चाहिए कि उत्तर पाने का कोई आसान तरीका भी हो सकता है। यह तो कई बार कहा जाता है कि बच्चे दोहराने में, बारबार अभ्यास करने में सुरक्षा पाते हैं। जहाँ स्थिति बच्चे के हाथ में हो और उसका अपनी सामग्री पर पूरा बस चल रहा हो, वह विश्वास के साथ अपना काम कर रहा हो, वहाँ शायद यह बात सच सिद्ध होती हो। पर स्कूल में दिए जाने वाले अभ्यासों का एक प्रतिशत भी इस तरह का नहीं होता। स्कूली काम तो मानो बेमानी टोटके ही होते हैं। जहाँ धारणा यह होती है कि अगर बच्चा किसी निरर्थक कथन या प्रक्रिया को पर्याप्त बार दोहरा लेगा तो

वह उसके लिए अपने आप ही सार्थक हो उठेगी। यह बात उतनी ही विसंगत है, जितना यह मानना कि अगर कोई तोता मनुष्य की बोली की नकल करता रहे तो वह यह समझने लगेगा कि वह क्या कह रहा है। इस मेधावी बच्चे को न जाने कितनी बार गुणन, पहाड़े और भाग की मान्य विधियाँ बताई गई थीं। पर आज उसका हाल उस दिन से कहीं अधिक खस्ता है जब उसने पहले-पहल उनके बारे में सुना होगा। उसके लिए वे उतने ही निरर्थक हैं जितने पहले थे। और तो और, वे उसे आज पहले से कहीं अधिक डराते भी हैं। छड़ों व दूसरी सहायक सामग्री के साथ जब वह काफी समय बिता लेगा, तभी वह गुणा या भाग मन में कर सकेगा। जब वह उस स्थिति में पहुँच जाए कि बिना आखिरी सफेद छड़ों को बाँटे ही वह अपना उत्तर प्राप्त कर ले तभी हम इन संक्रियाओं को ऐसा सार्थक प्रतीकात्मक रूप दे सकेंगे, जिन्हें वह भी समझ सके।

सेमोर पैपर्ट ने *माइंड स्टॉर्म्स* नामक अपनी पुस्तक में लिखा है कि गणितीय सोच में बच्चों के निजी विचारों को स्पष्ट करने के लिए कम्प्यूटरों को काम में लाया जा सकता है। बशर्ते ये कम्प्यूटर आज के कम्प्यूटरों से भिन्न हों। उनका मानना है कि “ड्रिल” और “अभ्यास” में एक महत्वपूर्ण अन्तर है। अभ्यास व्यक्ति स्वयं के लिए करता है, ताकि वह जो कुछ कर रहा हो, और अच्छी तरह कर सके। पर ड्रिल दूसरों के लिए किया जाता है। शायद इसलिए ताकि वे यह जाँच सकें कि बच्चा जानता है जो उसे जानना चाहिए या महज इसलिए कि वे उसे व्यस्त रख सकें।

मैं इस लड़के के साथ ड्रिल कर रहा था या अभ्यास? मुझे भय है कि मैं भी ड्रिल ही कर रहा था। मुझे वह बच्चा प्यारा लगता था और वह भी यह जानता था। मुझे लगता है कि वह भी शायद मुझे पसन्द करता था, मुझ पर विश्वास भी करता था। यह तो निश्चित था कि उसे अपनी पिछली कक्षाओं के बनिस्बत इस कक्षा में अधिक आनन्द आता था। उसका स्कूली काम भी पहले से बेहतर हुआ था। पर मैंने उसे स्वयं कभी वे सारे समझ और चतुराई भरे काम करते नहीं पाया जो मैं उससे करवाता था। शायद यही कारण था कि उसने इस दौरान

जो कुछ सीखा था, स्थाई नहीं बन पाया। हमें हर दिन, सप्ताह, फिर-फिर लौटकर, वह सब दोहराना पड़ता था।

असल में जो कुछ भी मैं गणित को आसान बनाने के नाम पर उसके साथ कर रहा था, वह नियोजित पाठ्यक्रम का ही एक रूप था। जब तक मैं सवाल करने बैठा होता, वह कुछ प्रयासों और गलतियों के बाद मुझे जो उत्तर चाहिए होता, उस तक पहुँच जाता। पर उस ग्यारहवीं कक्षा के बच्चे की तरह उसे सवाल याद नहीं रहते थे। अगर मैं उसे कुछ संकेत दे देता तो वह उनके सहारे राह टटोलते-टटोलते मेरे पीछे-पीछे आ सकता था। पर वही राह उसे अपने आप नहीं सूझती थी। चाहता तो मैं यह था कि उसे छड़ों के उपयोग की ऐसी विधि दे दूँ, जिससे वह निजी प्रयासों द्वारा स्वयं ही हल निकाल ले, उत्तरों को जाँच ले। पर वह मेरे विचारों को आत्मसात नहीं कर पाया था, उन्हें अपना नहीं बना पाया था। वे सब के सब विचार मेरे ही बने रहे थे।

उससे भाग के सवाल करवाने का विचार भी मेरा था। उसे तो वह सब सीखना ही नहीं था, यानी उसके लिए वे निरर्थक ही थे। ठीक वैसे ही जैसे मेरे लिए भी वे सवाल कक्षा के बाहर हमेशा निरर्थक रहे हैं। मैं भी उनका कभी इस्तेमाल नहीं करता हूँ। वह यह केवल मुझे खुश करने के लिए करता था। उसके मन में कहीं यह बात भी बैठी थी कि अगर वह मुझे एक बार संतुष्ट कर सके कि उसे भाग करना आता है, तो उसे निजात मिले। फिर उसे दुनिया में कोई यों तंग न करें। और सच्चाई यह थी कि उसका यह सोचना बिल्कुल सही था।

□ फरवरी 3, 1961

बेचारी मारजरी ने हमेशा, बिना अर्थ समझे ही, वह सब याद रखने की कोशिश की है जो उसे स्कूल में अब तक बताया गया है। सम्भव है उसे कभी यह लगा ही न हो कि जो कुछ उसे बताया जा रहा है उसका कोई अर्थ है भी। अपने अथक प्रयासों के फलस्वरूप उसका दिमाग आज तथ्यों

और विधियों के कबाड़ से भरा है। किसी के माँगने पर वह शायद ही उस गड़बड़-झाले में से कुछ निकाल पाती हो। उसे तो यह तक नहीं पता कि उन उलझे विचारों में से कौन-सा तथ्य कौन-सी विधि, किसी दी गई परिस्थिति में लागू करनी चाहिए।

अभी उस रोज़ उसने पूछा कि क्या वह मेरे साथ छड़ों पर काम कर सकती है। मैंने कहा, “ज़रूर।” हमने सबसे पहले रंगीन आयतवाली समस्या ली। मैंने कुछ छड़ें पास-पास रखकर एक आयत बनाया। तब उससे कहा कि वह बिलकुल वैसा आयत किसी दूसरे रंग की छड़ों से बनाए। उसने तुरन्त यह समझ लिया कि जो कुछ वह सफेद छड़ों से कर सकती है, वह दूसरे रंगों की छड़ों से भी किया जा सकता है।

“मैंने कुछ छड़ें इकट्ठी जमा दी हैं. . .” मुझे अब भी लगता है कि यह एक अच्छी पहेली है। जो छड़ों का इस्तेमाल करते हैं, वे इसे कर सकते हैं। अगले वर्ष मैंने गते के कुछ डिब्बों को काट-छाँटकर 1 से.मी. ऊँचाई के कुछ डिब्बे तैयार किए। उनके आकार अलग-अलग थे। कुछ 3 से.मी. x 5 से.मी. के थे, कुछ 4 से.मी. x 7 से.मी. के। मैं ये डिब्बे बच्चों को देता और उन्हें तरह-तरह से भरने को कहता। कभी एक ही रंग की छड़ों से, कभी कई रंगों की छड़ों से, कभी दो रंगों की बराबर संख्या से आदि। छोटे बच्चों को ऐसी पहेलियाँ कई कारणों से रोचक लगती हैं। जो ये छड़ें बनाते हैं उन्हें शायद प्लास्टिक के कुछ डिब्बे भी बनाने चाहिए। पर वे न भी बनाएँ तो गते के ऐसे डिब्बे बड़ी आसानी से बनाए जा सकते हैं।

काम करते समय मारजरी ने कुछ कहा। उसने यही बात उस सत्र के दौरान कई बार मेरे साथ काम करते समय दोहराई। जो कुछ उसने कहा, उसे कोरे शब्दों में उतारते समय उसकी आवाज़ के उल्लास, उसकी उत्तेजना को पकड़ा नहीं जा सकता। “वाह! कितना सुन्दर है। जब कुछ करने का तरीका आ जाए तो क्या मज़ा आ जाता है।”

एक-दो दिन में मैंने उसे चुनौती दी कि वह छड़ों का एक ऐसा आयत बनाए, जिसे सफेद छड़ों के अलावा दूसरे रंगों की छड़ें काम में लेते हुए

में पूरी तरह नहीं ढँक सकूँ। उसने कई प्रयासों के बाद यह तय किया कि वह 3, 5 या 7 से.मी. के आयतों से मुझे हरा सकती है। सो उसने यह निष्कर्ष निकाला कि वह 9 से.मी. से भी मुझे चकमा दे सकेगी। उसे आश्चर्य हुआ जब मैं हल्के हरे रंग (3) की छड़ों से उसे पूरी तरह ढँक सका। उसे यह समझ नहीं आया कि उसे अभाज्य संख्याओं की ज़रूरत है। हम पिछले कुछ सप्ताहों से कक्षा में अभाज्य संख्याओं पर काम कर रहे थे, पर मारजरी को यह पता ही नहीं था कि वे क्या होती हैं।

वह बार-बार कहती रही कि कुछ करने का तरीका आ जाना कितनी मजेदार बात होती है। वह कई दूसरे बच्चों की तरह इस जुमले का प्रयोग उस भावना को बयान करने के लिए करती है जो मन में स्वयं कुछ करने के बाद, बात पूरी तरह समझने पर जागती है। कक्षा के अधिकांश बच्चों के लिए यह अनुभव इतना अपूर्व होता है कि उन्हें लगने लगता है कि उस काम का स्कूली काम से कोई सम्बंध ही नहीं है।

उसके बाद कागज़ के प्यालों की मदद से हमने भाग करने का खेल खेला। दूसरे बच्चों की तरह मारजरी प्यालों में जितनी नारंगी और सफेद छड़ें बराबर बाँट पाई, उसने बाँटी। तब बची हुई नारंगी छड़ों को बदला। उसे इसमें भी मज़ा आया। आज उसने ऐना के साथ होड़ लगाई। ऐना के साथ, जो गणित में उससे कहीं तेज़ है।

अगर आप इन बच्चों से पूछते कि वे क्या कर रहे हैं तो वे यही कहते कि वे भाग कर रहे हैं, पर अपने मन में वे ऐसा नहीं सोचते हैं। न ही वे विभाजन के ज्ञात तथ्यों या विधियों को इस गतिविधि के दौरान लागू करते हैं। हर बार वे छड़ों को बदलने की लम्बी प्रक्रिया से ही गुज़रना पसंद करते हैं। यह बात इतना तो सुझाती है कि अगर हम चेतें और गणित के सवाल बच्चों को अंक-प्रतीकों के सहारे करवाने के पहले ठोस वस्तुओं से करने दें तो बेहतर हो। स्कूलों और शिक्षकों को ऐसा करने की अनुमति देने तक लाना आसान काम नहीं होगा। पर उस हालत में भी हमें बच्चों को, जो कुछ वे कर रहे हैं उसके बारे में, तुरत-फुरत सामान्यीकरण करने पर बाध्य करने के लालच से बचना होगा। इसके

बदले हमें ऐसी स्थितियाँ ईजाद करनी होंगी, जिनमें वे इन ठोस संक्रियाओं को करने के बेहतर तरीके खोज सकें - जैसे मारजरी व ऍना की स्पर्धा। यह इसलिए ज़रूरी है ताकि बच्चे अधिक कुशल विधियाँ ढूँढने के प्रयास में स्वयं अपने सामान्यीकरण बना सकें।

उदाहरण के लिए एक ऐसे बच्चे की कल्पना कीजिए जो यह नहीं जानता कि 42 को 3 से भाग देने पर उत्तर 14 मिलता है। न ही उसके पास इस उत्तर तक पहुँचने की कोई विधि ही है। हम उसे 4 नारंगी (10) और 2 सफेद (1) छड़ें देकर तीन प्यालों में बाँटने को कहते हैं। वह एक-एक नारंगी छड़ हर प्याले में रखता है। बची हुई नारंगी छड़ को 10 सफेद छड़ों में बदलता है। सफेद छड़ों का बाँटवारा कर के पाता है कि हर समूह में 14 छड़ें हैं। कई बार इस प्रक्रिया को दोहराने के बाद ही वह समझ सकता है कि जब उसके पास 1 नारंगी और 2 सफेद छड़ें बची रह जाएँ तो बिना सफेद छड़ों में बदले भी उनका विभाजन दिमागी तौर पर किया जा सकता है।

एक दिन मैंने इस प्रक्रिया को जबरन तेज़ कर दिया था। जब एक बच्चे ने नारंगी छड़ बदलने को कहा, तो मैंने उससे पूछा कि वह बिना छड़ बदले और बिना सफेद छड़ों को बाँटे ही क्या यह बता सकता है कि हरेक प्याले में कितनी सफेद छड़ें डलेंगी? जब-जब उसे भाग देने वाली संख्या का पहाड़ा आता था, वह मुझे उत्तर बता पाया। पर मेरे सवाल किए बिना स्वयं यह करने की बात उसे नहीं सूझी थी। अकेले छूटते ही वह अपनी पुरानी प्रक्रिया को दोहराता था, जिससे वह परिचित था।

हम इस बात के महत्व को बढ़ा-चढ़ाकर आँक ही नहीं सकते। इन बच्चों के मन में दिमागी तौर पर भाग देने की प्रक्रिया घर नहीं कर रही थी। इसलिए कि यह विचार मेरा था, उनका नहीं। इसलिए कि उन्हें इसकी ज़रूरत महसूस ही नहीं हुई थी। हम शिक्षकों को स्वयं को छलना नहीं चाहिए, पर ठीक यही तो मैं बरसों तक करता रहा था। हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि अगर हम बच्चों से एहतियात से सोचे हुए सूचक सवाल पूछते जाएँगे तो हम उन्हें क्रमशः उत्तरों की दिशा में भी बढ़ाते चलेगें।

क्योंकि यह करना खुद उन्हें उत्तर बता देने से भिन्न है ही नहीं। ऐसे बच्चे जिन्हें उनके शिक्षक सवालों के सहारे आगे बढ़ाते रहे हैं, बाद में अपने आपको बिल्कुल असहाय पाते हैं। उन्हें न तो वे सवाल ही याद रहते हैं जो उनके शिक्षकों ने उनसे पूछे थे, न ही वे ये सवाल खुद से पूछ पाते हैं। बच्चों के मन में उसी सवाल का जवाब घर करता है, जो उन्होंने स्वयं पूछे हों या स्वयं से पूछे होते हैं।

कल हम एक-दूसरा ही खेल कर रहे थे। मैंने मारजरी को 2 सफेद छड़ें दीं और उससे पूछा कि वह उन्हें पास-पास रखकर कितनी आयताकार आकृतियाँ बना सकती है। उसने पाया कि वह केवल एक ही आकार बना सकती है। मैंने उसे एक और सफेद छड़ दी। अब उसके पास 3 छड़ें थीं। पर सम्भावना एक ही बनी रही। 4 छड़ों से दो सम्भावनाएँ बनीं। एक, जब वह 1×4 का आकार बनाती और दूसरी जब वह 2×2 के आकार बनाती। हमने यह खेल 20 छड़ों तक किया। हम हरेक संख्या के गुणनखंडों पर विचार करते गए और साथ ही अभाज्य संख्याएँ भी ढूँढते चले। मारजरी को या उससे कहीं अधिक कुशल ऍना को, इस गतिविधि के दौरान किसी समय यह अहसास नहीं हुआ कि वे गुणनखंड के अपने सीमित ज्ञान का उपयोग भी कर सकती है। 10 की छड़ पाकर उन्होंने यह नहीं सोचा कि हम इससे “5 छड़ों को 2 कतारों में रखकर एक आयत भी बना सकते हैं।” वे हर बार चेष्टाओं और गलतियों की प्रक्रिया से गुजरती रहीं। पर हाँ, यह ज़रूर था कि आकारों की सम्भावनाओं के बारे में सोचने में उन्हें क्रमशः कम समय लगता गया।

मैं बाद में ही यह समझ पाया कि काम में आई यह तेज़ी सामान्यीकरण की समझ का ही बीज था। बार-बार दोहराया उदाहरण याद आता है। जब बच्चों के पास 12 छड़ें थीं, तो उन्होंने एक 6×2 का आयत बनाया और उसके बाद 4×3 का। जैसे-जैसे वे काम करते गए थे वे अधिक व्यवस्थित और सुचारू होते गए। वे अपनी अन्तर्दृष्टियों व समझ को शब्दों में अब भी नहीं बाँध पाते थे, पर उसके करीब वे पहुँचने लगे थे। इस तरह की गतिविधियों में आवश्यक है कि इसमें जल्दबाज़ी न की जाए।

बच्चों के साथ किए गए इस काम के कारण क्यूसिनेर छड़ें और दूसरी सामग्री के उपयोग सम्बंधी मेरे विचारों में बदलाव आया है। पहले मुझे लगता था कि इनका उपयोग गणित की विधियाँ सिखाने की रफ्तार बढ़ाने के लिए किया जा सकता है ताकि अधिक से अधिक विधियाँ सिखा पाएँ। दूसरे शिक्षक अब भी उनका यही इस्तेमाल करते हैं। पर यह भूल है। हमें बच्चों को इनका उपयोग, अनुभव व खोज के माध्यम से, अंकों व गणितीय विधियों की पक्की समझ बनाने के लिए करने देना चाहिए। हमारा लक्ष्य मजबूत नींवें डालने का होना चाहिए। और अगर इस प्रक्रिया में समय लगे तो लगने देना चाहिए। इसका फल यह होगा कि हम बाद में कुछ चीजें समय से पहले ही कर सकेंगे, जैसे भिन्ना, हाँ, बड़ी संख्याओं के भाग हमें शायद कुछ बाद के लिए छोड़ने पड़ें। पर बच्चों का काम, उसकी प्रगति, हमें इस बारे में पर्याप्त संकेत देगी।

जो मैंने *ग्रोइंग विदआउट स्कूलिंग* के चौथे व छठे अंकों में लिखा था वही मैं पिछले चार-पाँच वर्षों से दोहराता रहा हूँ। वह यह कि अगर हमें बच्चों को वह विषय "पढ़ाना" है जो स्कूलों में "बुनियादी अंकगणित" के नाम से जाना जाता है - जिसमें $3 + 4 = 7$, या $5 \times 4 = 20$ जैसी बातें हों - तो इसका बेहतरीन तरीका यही है कि हम उन्हें ये सारे तथ्य प्रयोगों द्वारा स्वयं खोजने दें जैसे ये दो लड़कियाँ खोज रही थीं। वे अंकों के बुनियादी गुणधर्म को जान रही थीं। अगर हम कह दें कि $3 + 2 = 5$, तो इस तथ्य को समझने का सबसे अच्छा उपाय है कि हम इसे एक ऐसे कथन का रूप न दें जो किसी ने खोजा था और अब सबको कंठस्थ करना पड़ता है। बल्कि इसे अंकों के गुणधर्म के बारे में एक कथन के रूप में समझाएँ। 5 वस्तुओं के किसी समूह को 3 व 2 के समूहों में बाँटा जा सकता है। यह तथ्य मानवीय खोज नहीं है, यह एक प्राकृतिक तथ्य है। इस तथ्य का बयान कई तरह से हो सकता है, जिनमें से एक तरीका है यह कहना कि $3 + 2 = 5$ ।

कई तरीकों में से एक तरीका? दूसरे हैं $2 + 3 = 5$, $5 - 2 = 3$, $5 - 3 = 2$ । स्कूलों में ये सभी कथन परस्पर स्वाधीन और असम्बद्ध

तथ्यों की तरह पेश किए जाते हैं, जिन्हें रटना ज़रूरी बन जाता है। पर सच्चाई यह है कि वे सब एक ही तथ्य, एक ही प्राकृतिक तथ्य, से सम्बंधित हैं। यह तथ्य है कि 5 वस्तुओं को 3 व 2 वस्तुओं के समूहों में बाँटा जा सकता है।

इस प्राकृतिक तथ्य को बच्चे स्वयं खोज भी सकते हैं। किसी दूसरे पर भरोसा कर इसे स्वीकारा जाए या अंधस्मृति की तरह इसे सहेजा जाए, यह कतई ज़रूरी नहीं है। बच्चे वास्तविक दुनिया को अपनी इन्द्रियों से देखकर भी यह तथ्य खोज सकते हैं, उसे जाँच सकते हैं। एक नहीं, अनेक बार। जितनी बार वे चाहें, उतनी बार। पर मुझे यहाँ एक बार फिर से उस "अगर" पर बल दे लेने दीजिए। "अगर हमें वह विषय बच्चों को पढ़ाना ही हो..." हमें यह नहीं मान लेना चाहिए कि अगर हम यह तथ्य बच्चों को नहीं पढ़ाएँ तो वे उन्हें कभी सीखें ही नहीं। हमें यह भी नहीं मानना चाहिए कि अगर हम उन्हें यह बता दें कि 5 की संख्या की वो बुनियादी गुणधर्म वे कैसे खोज सकते हैं तो वे अपना सारा समय दूसरी संख्याओं के गुणधर्म को ढूँढ़ने में बिताएँगे। अधिकांश बच्चों को यह काम रोचक नहीं लगेगा।

गणित की समझ का सबसे महत्वपूर्ण बिन्दु यह है कि $4 + 3 = 7$ या $9 \times 5 = 45$ जैसे कथन असल में वास्तविक जगत के कथन हैं, जिनकी पुष्टि वहीं के उदाहरणों से की जा सकती है। इस विषय में बच्चों को एक बार सन्तुष्ट कर देने पर (या स्वयं ही सन्तोष पा लेने पर) उस पर और समय बर्बाद करने का कोई कारण नहीं बचता है।

□ मार्च 11, 1961

डॉरथी मेरे साथ उस दिन काम कर रही थी। मैं कोशिश करता रहा हूँ कि अंकों के बारे में उसकी भ्रान्तियों की तह तक पहुँच सकूँ। वहाँ ठोस ज़मीन ढूँढ़ सकूँ, ताकि उस पर कुछ गढ़ा जा सके। लगता है मैं आखिरकार वहाँ पहुँच पाया हूँ। पर इसमें काफी समय लगा है।

मैंने 5-5 सफेद छड़ों की 2 कतारें बनाई। बनाते-बनाते मैंने कहा, “ये 2 कतारे हैं, दोनों में छड़ों की संख्या बराबर है।” वह सहमत हुई। मैंने पूछा कि उन 2 कतारों के लिए कितनी छड़ों की ज़रूरत पड़ी। उसने बताया - 10। मैंने कागज़ पर 10 लिखा और सही का निशान बनाया। तब मैंने 7 की 2 कतारें बनाई। उसने बताया कि दोनों कतारों में छड़ों की संख्या बराबर है। पूछने पर उसने छड़ों की कुल संख्या 14 बताई। उसे छड़ें गिननी पड़ी थीं। मैंने 14 लिखा और सही का निशान बनाया।

तब मैंने उससे कहा, “अब तुम कुछ कतारें बनाओ।” उसने मेरी कतारें सरकाकर पीछे धकेलीं और कुछ छड़ें उठाकर खुद काम शुरू किया। पहले उसने 2 कतारें 6-6 छड़ों की बनाई। पूछने पर गिनकर छड़ों की संख्या 12 बताई। मैंने संख्या कागज़ पर लिखी और सही का निशान बनाया। तब मैंने पूछा, “क्या वह 11 छड़ों से ऐसी दो बराबर कतारें बना सकती है जिसमें कोई छड़ बची न रहे?” उसने ढेरी में से गिनकर 11 छड़ें उठाई और दो कतारें बनाने की कोशिश की। कुछ देर बाद उसने कहा, “यह तो हो ही नहीं सकता।” मैंने सहमति जताई और कागज़ पर 11 लिखकर उसके सामने x का बड़ा-सा निशान बना दिया।

मैंने कहा, “कुछ संख्याओं से बराबर कतारें बनाई जा सकती हैं, जैसे 10 और 14, लेकिन कुछ से नहीं, जैसे 11। अब तुम 6 से शुरू करो और मुझे बताओ कि किन संख्याओं से 2 कतारें बन सकती हैं, और किनसे नहीं।” उसने गिनकर 6 छड़ें निकालीं और 3-3 की 2 कतारें बनाई। मैंने 6 लिखा और उसके आगे सही का निशान बनाया। तब मुझे पहला झटका लगा। उसने उन 6 छड़ों में 1 जोड़ने के बजाए पिछली छड़ों को ढेर में सरकाया और गिनकर 7 छड़ें निकालीं। 2 कतारें नहीं बना पाने पर मुझसे कहा, “इससे नहीं हो सकता।” मैंने 7 लिखा और सामने x का निशान बनाया। फिर उसने सभी छड़ें सरका दीं और ढेरी में से 8 छड़ें गिनकर निकालीं। 4-4 की 2 कतारें बनाई और कहा, “8 से यह हो सकता है।” उसने यह पूरी प्रक्रिया 14 तक दोहराई।

तब उसने अपनी पहली छल्लांग मारी। 14 के बाद उसने एक छड़ उठाकर 15 बनाया और मुझे बताया कि उससे 2 कतारें सम्भव नहीं होगा। अगली बार उसने उन कतारों को छेड़े बिना छोटी कतार में 1 सफेद छड़ जोड़ी और बताया कि “16 ठीक है।” पहले से कहीं कुशल प्रक्रिया के साथ वह 20 और 30 के बीच पहुँची। शायद 24 तक। 24 को सही पाकर उसने बिना छड़ जोड़े ही कहा, “25 से नहीं होगा।” मैंने संख्या लिखी। अब वह आत्मविश्वास से भरी तेज़ी से बढ़ती गई। हम शायद 36 तक पहुँचे थे कि उसने असम संख्याएँ बताना बंद कर दिया। उसने कहा, “38 से होगा, 40 से होगा. . .” यों वह 50 तक पहुँची। यहाँ हम रुके।

हम कुछ देर सुस्ताए। छड़ों से खेल करते रहे। उनसे कुछ आकार बनाए। तब अगली समस्या की ओर बढ़े। दुबारा मैंने 3 बराबर कतारें बनाई और पूछा कि वह 6 से शुरू कर वैसी 3 कतारें किन-किन संख्याओं से बना सकती है। मुझे आश्चर्य हुआ कि वह 6 छड़ों की 3 बराबर कतारें नहीं बना सकी। उसने उन्हें 3-2-1 में बाँट दिया था। मैंने मदद की और 2-2 की 3 कतारें बना दीं। तब कागज़ पर 6 लिखा और संख्या के सामने सही का निशान बनाया। उसने 1 छड़ उठाई और उसे एक कतार में जोड़ा और बताया कि 7 से नहीं होगा। फिर 1 छड़ जोड़ी और बताया कि 8 से भी नहीं होगा। नवीं छड़ जोड़ने पर उसने कहा, “9 सही है।” हम इस तरह 15 या 18 तक पहुँचे होंगे कि उसने छड़ें जोड़ना बन्द कर दिया और कहने लगी, “19 से नहीं होगा, 20 से नहीं होगा, 21 से हो जाएगा. . .” आदि। 27 के आसपास पहुँचने के बाद वह मुझे केवल सही संख्याएँ बताने लगी - 30, 33, 36, 39।

4 कतारों पर काम करते समय हम 8 छड़ों से शुरू हुए। 1-1 छड़ जोड़कर उसने कहा, “9, 10, 11 सही नहीं है, पर 12 से 4 कतारें बन सकेंगी।” तब बिना छड़ों की मदद से उसने कहा कि 13, 14, 15 नहीं चलेगा, 16 सही है। इसके बाद वह चौथी संख्या से गिनने लगी 20, 24, 28, 32 आदि। 5 कतारों पर हमने अपना काम 10 सफेद छड़ों से शुरू किया। 15 तक वह छड़ों की मदद से पहुँची ही थी कि उसने

पाँचवीं संख्या की गिनती बताना शुरू किया।

जिन लोगों को मैंने इस बच्ची के काम के बारे में बताया है, वे इस पर विश्वास नहीं करते। वे कल्पना ही नहीं कर सकते कि खराब से खराब छात्र के पास भी गणित की इतनी सीमित अन्तर्दृष्टि होगी कि उसे इन साधारण सी समस्याओं के लिए इतनी मशक्कत करनी पड़े। हम शिक्षकों का यह कहना बेकार है कि बच्चों को इससे कहीं अधिक जानना चाहिए, अधिक समझना चाहिए, कहीं अधिक दक्षता से काम करना चाहिए। यह तथ्य अपने आप में महत्वपूर्ण है। अपने 6 वर्षों के स्कूली अनुभव में यह बच्ची प्रायः कुछ भी नहीं सीख पाई थी। इसका कारण यह था कि कोई शिक्षक वहाँ से शुरू करना ही नहीं चाहता था, जहाँ वह थी। और इस सत्र में वह अपने आप ही बड़ी कुशलता से सीख और समझ रही है। इस विलक्षण प्रगति का कारण ही यह है कि वह उस जगह से शुरू कर सकी है जहाँ वह थी और खुद कदम-कदम आगे बढ़ रही है।

आज मैं पाँचवीं कक्षा के इन बच्चों के साथ किए गए अपने काम को शंका के साथ देखता हूँ, पर डॉरथी के साथ उस दिन का काम मुझे आज भी आनन्दित कर जाता है। मुझे लगता है कि मैं जो कुछ बता रहा था, वह अब डॉरथी टेड से भी कहीं अच्छी तरह आत्मसात कर रही थी। उन तथ्यों पर अपनी पकड़ मजबूत कर रही थी, उन्हें स्वयं नियंत्रित कर पाने की स्थिति में आ रही थी। कम से कम उन सवालों को खुद हल करने का अनुभव तो उसे हो ही रहा था जो उसके बूते के थे। साथ ही उसकी इंद्रियाँ उसे उन हलों को सही होने का प्रमाण भी दे रही थीं। वह अपनी मानसिक शक्ति को स्वयं महसूस कर पा रही थी। उसे वे सवाल, मेरे दिए गए सवाल, शायद तब भी निरर्थक या ऊलजलूल लगते रहे हों, पर हल बाकायदा उसके निजी थे।

मुझे लगता है कि कई बार ऐसे ही अभ्यासों की प्रक्रिया से बच्चों को गुजरने पर मजबूर करना निरर्थक और हानिकारक भी सिद्ध हो सकता है। पर उन बच्चों या वयस्कों के लिए जिन्हें सरल-सा गणित का सवाल भी अबुझा और भयावह रहस्य-सा लगता है, यह प्रक्रिया

सहायक होती है। वे इस प्रक्रिया के सहारे यह महत्वपूर्ण तथ्य भी समझ लेते हैं कि हम गणित के किसी सवाल को अगर उस समय समझ न भी पाएँ तो भी वह तर्कपूर्ण ही होता है, निरर्थक नहीं।

मुझे तो यहाँ तक लगता है कि जिन वयस्कों को अंकगणित हमेशा से कठिन लगता रहा हो और जो उससे डरते रहे हों, उन्हें ऊपर बताए गए अभ्यास दिए जाएँ, तो वे भी गणित में तर्क और अर्थ ढूँढ़ सकेंगे। मारजरी की ही तरह शायद उन्हें भी तब लगे कि “जब कुछ करने का तरीका आ जाए तो क्या मज़ा आ जाता है।”

क्यूसिनेर छड़ों जैसी महंगी चीज़ की ज़रूरत नहीं है। जली तीलियों, कागज़ और गत्ते के टुकड़ों से भी काम चलाया जा सकता है।

□ मार्च 20, 1961

कई बच्चों ने एक सवाल पर काम किया। सवाल था : “वर्गों की वह संख्या बताओ जिनसे एक ऐसा आयत बनाया जा सके जिनकी चौड़ाई एक वर्ग से अधिक हो।” ज़ाहिर है कि अभाज्य संख्याओं के अलावा दूसरी कई संख्याओं से ऐसे आयत बनाए जा सकते थे। उस दिन मैंने इसे एक नई और पहले से सूक्ष्म पहेली का रूप दे डाला। मैंने कहा कि उस आयत के ठीक बीचों बीच एक चौकोर की जगह खाली छोड़ो। टैरी जैसे दक्ष छात्र ऐसी समस्याओं को हल करने के व्यवस्थित प्रयास करते हैं। उसने सबसे छोटे आयत से प्रारम्भ किया, जिसमें बीचों-बीच एक वर्ग की जगह खाली रह सकती हो। उसने बीच में खाली जगह छोड़ी और तब इर्द-गिर्द एक आयत बनाया। इसके लिए उसने 8 वर्ग चुने। तब उसने सोचा कि वह इसी आकार को कैसे बढ़ा सकता है ताकि वह बीच की जगह खाली ही बनी रहे। उसने जल्दी ही पाया कि ऐसे आयतों की भुजाओं को असम लम्बाई का होना होगा 3×5 , 7×3 आदि। अगले ही क्षण वह बिना आकारों को बनाए ही सामान्यीकरण पर पहुँच सका कि किन संख्याओं से ऐसे आयत बन सकते हैं और किन से नहीं।

पर एंडी जैसा कोई सुस्त बच्चा इस सवाल को बिल्कुल दूसरी ही तरह हल करने की चेष्टा करेगा। उसने 16 छड़ें लीं और 4×4 का एक चौकोर बनाया। तब वह बीचोंबीच एक चौकोर की जगह खाली करने की कोशिश करने लगा। उसकी कोशिशें बेकार रहीं। उसकी असफलता ने उसे खिझाया तो, पर वह उससे डरा नहीं। वह बिना घबराए उसी गर्मजोशी के साथ जुटा रहा। अन्ततः उसने पाया कि उसे असम भुजाओं का आयत चाहिए होगा, पर इसके बाद भी वह नहीं जान पाया कि वह किसी भी असम भुजाओं वाले आयत से काम चला सकता है। टैरी के तरीके से अगर इसकी तुलना की जाए तो हमें यह तरीका फूहड़ और अदक्ष लगेगा, पर ध्यान में यह रखना चाहिए कि उसका तरीका उसके गणितीय ज्ञान और अन्तर्दृष्टि के अनुकूल था। इसलिए क्योंकि यह उसका अपना तरीका था, जिससे वह कुछ सीख रहा था।

अगर भाग्य साथ दे तो सोच और अभ्यास से हम ऐसे सवाल रच सकते हैं जो बच्चों को उपयोगी लगे और जिन्हें वे निजी तरीकों से हल कर सकें। इस स्थिति में ये सवाल ही एक ऐसी मशीन का रूप अख्तियार कर लेंगे, जिसे बच्चे स्वयं नियंत्रित कर सकें और जिससे वे अपने पाठ्यक्रम को निजी दक्षता के अनुरूप क्रमशः कठिन बनाते चले। पर गणित शिक्षण की इस पद्धति में यह आवश्यक होगा कि शिक्षक सवाल हल करने की अकेली विधि या सबसे अच्छा तरीका के बारे में सोचना बन्द कर दें। हमें यह मान लेना चाहिए कि जो बच्चे इन सवालों को बिल्कुल आदिम, प्रायोगिक या अदक्ष स्तर पर करते हैं, वे भी अपनी तरह से बिल्कुल नई और उत्तेजक खोजों तक पहुँच रहे हैं। ठीक वैसे ही जैसे कुशल और परिष्कृत तरीके अपनाने वाले बच्चे पहुँचते हैं। जब डॉरथी अपने लम्बे-लम्बे और कष्टदयाक प्रयासों के बाद यह जान लेती है कि हर दूसरी सम संख्या को 2 कतारों में बाँटा जा सकता है और हर तीसरी सम संख्या को 3 बराबर कतारों में तो वह उन बच्चों जितनी ही बड़ी बौद्धिक छलाँग लगाती है जिन्होंने बिना किसी बाहरी सहायता के स्वयं घातांक के कुछ नियम ढूँढ़ ही लिए हों।

दूसरे शब्दों में पहिए का अन्वेषण उतना ही बड़ा चरण था जितना विमानों की खोज, बल्कि कहना चाहिए कि वह उससे कहीं अधिक बड़ा वैज्ञानिक चरण था। हम शिक्षकों को यह भेद करना सीखना होगा कि हमारे छात्र कब पहिए की खोज कर रहे हैं और कब विमानों की, और हमें पहिए खोजने वाले छात्रों से भी उतना ही खुश होना सीखना होगा, जितना विमानों की खोज करने वालों से होते हैं। साथ ही हमें अपने इस लालच पर भी काबू पाना होगा कि हम अपने सुस्त छात्रों को पहिए की पहचान बता दें, ताकि वे विमान खोजने की दिशा में तेजी से बढ़ चले। गणित के बारे में यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है और सम्भवतः दूसरे विषयों के बारे में भी, कि जो कुछ बच्चों ने स्वयं खोजा नहीं होता है, वह सब निरर्थक सिद्ध होता है। बच्चे उसे जल्दी ही भूल जाते हैं।

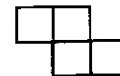
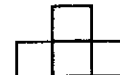
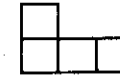
ये पहेलियाँ या समस्याएँ, जो आयतों या बीच में छेदवाले आयतों से सम्बंधित होते हैं, बच्चों को बेहद रोचक लगती थीं। कम से कम स्कूली काम की दृष्टि से तो रोचक लगती ही हैं। मुझे शंका है कि वे कभी भी अपने आप इन्हें करने में समय बिताते होंगे पर किसी कक्षा के लिए ये बुरी नहीं थीं। जिन गतिविधियों का मैंने यहाँ वर्णन किया



2 बर्गीय पॉलियोमिनो



3 बर्गीय पॉलियोमिनो



4 बर्गीय पॉलियोमिनो

है, वे सभी गणित से डरने वाले बच्चों व व्यस्कों के लिए रोचक व उपयोगी हो सकते हैं।

गणित में कई महत्वपूर्ण कामों का विकास ऐसी ही छोटी-छोटी शुरुआतों से हुआ है। जैसे पॉलियोमिनो का खेल - वर्गों को जोड़-जोड़कर आकृतियाँ बनाना (चित्र देखें)।

जिस तरह की पहेलियाँ मैं अपनी कक्षा के बच्चों को देता था, उसके लिए क्यूसिनेर छड़ों की ज़रूरत नहीं है। कागज़ या गत्ते के चौकोरों से भी काम चल सकता है।

□ मई 6, 1961

तथाकथित नवीन गणित के लिए काफी कुशल जनसम्पर्क किया गया है। सब उसकी चर्चा करते हैं। कोई स्कूल या शिक्षक, जो आज ऐसा नहीं करता, बिलकुल पुरातनपन्थी लगता है। नवीन गणित का कुछ अंश सचमुच बहुत अच्छा है। गणित-शिक्षण में इसकी वजह से क्रांतिकारी और रचनात्मक परिवर्तन भी आए हैं। दूसरों से उत्तर पूछने या इंगित पा उत्तरों को पाने के बजाए बच्चे यहाँ स्वयं कई चीज़ें खुद के लिए खोज पा रहे हैं, पर ऐसे अंश नवीन गणित में कम ही हैं। उसका एक बड़ा भाग पुरानी पद्धतियों जैसा ही है, जिसमें पकवान बनाने के नुस्खों की भरमार हो। फर्क सिर्फ इतना ही है कि नवीन गणित की किताबें ताज़ा हैं, आधुनिक हैं, और अगर हमें पाककला की ही किताबें चाहिए तो इनसे काम चलाया जा सकता है। क्योंकि इनमें नयापन भी है और ये बेहतर भी हैं। पर इनमें से कुछ बहुचर्चित, महँगी और बड़े पैमाने पर इस्तेमाल की जाने वाली किताबें बेहद घटिया हैं। कुछ किताबों का, जो मैंने देखी हैं, लेखन अस्पष्ट है, उनके उदाहरण भी अनुपयुक्त हैं। बच्चों के समझ के जिस स्तर की ये अपेक्षा करती हैं, वह उनका होता ही नहीं है। वे ज्ञात और वास्तविक व अज्ञात और प्रतीकात्मक के बीच कोई पुल नहीं बनाती। जानकारी से ठसाठस भरी ये किताबें, असम्बद्ध, एक-रेखीय और उत्तर निदेशित होती

हैं। संक्षेप में, वे उस सब शोर-शराबे के नाकाबिल हैं जो उन्हें लेकर मचाया जा रहा है। जो बच्चे उन्हें काम में लेते हैं उनमें से कुछ को मैं जानता हूँ। ये बच्चे पहले जैसे ही भ्रमित, चकित और डरे हुए होते हैं।

सेमोर पैपर्ट ने, जो एम.आई.टी. में गणित व शिक्षा के प्रोफेसर हैं, अपनी पुस्तक *माइन्ड स्टॉर्म्स* में नवीन गणित के लिए कहा है :

स्कूली गणित के पाठ्यक्रम को बदलने का उपक्रम नवीन गणित पाठ्यक्रम सुधार के साथ छठे दशक में प्रारम्भ हुआ था। पर यह सुधार बहुत दूर न जा सका। नवीन गणित में भी सवालों की ही भरमार थी, अलबत्ता ये सवाल दूसरी तरह के थे। पर इस बात से, कि ये सवाल संख्याओं के बदले समुच्चय में थे, या आधार 10 (दशमलव प्रणाली) के बदले आधार 2 में, कोई फर्क नहीं पड़ा। गणित-सुधार के इस आन्दोलन ने गणितज्ञों की रचनात्मकता या सृजनशीलता के समक्ष कोई चुनौती नहीं रखी। फलतः सोच की लकड़क या उत्तेजना तक इसमें नहीं आ पाई। “नवीन गणित” नामकरण तक एक भूल है क्योंकि इसकी विषयवस्तु में विशेष नयापन नहीं था। बदलाव की इस प्रक्रिया का जन्म बच्चों के गणित से हुआ ही नहीं था, बल्कि गणितज्ञों के गणित को टुच्चा बनाने से हुआ था।

पर अगर नवीन गणित अच्छा भी होता, और वास्तव में इसके कुछ अंश अच्छे थे, तो भी उससे स्कूलों में गणित पढ़ाने की विधि में कोई आमूल परिवर्तन लाना असम्भव था। क्योंकि जब तक शिक्षकों से यह कहा जाता रहेगा कि उन्हें अपनी कक्षाओं में नवीन गणित करवाना है, चाहे उन्हें यह अच्छा लगे या न लगे, तब तक कोई बदलाव कैसे आ सकेगा। किसी भी नए विचार का स्वागत तभी हो सकता है, जब शिक्षकों से कहा जाए, “यह एक नया विचार है, हमें लगता है यह आपको भी अच्छा लगेगा। अगर आपको यह सचमुच अच्छा लगे तो बच्चों के साथ अपने काम में इसका इस्तेमाल करें।” ठीक उसी भावना से बिल हल और मैं क्यूसिनेर छड़ों के प्रति आकृष्ट हुए थे। स्कूल में किसी ने हमसे उन्हें इस्तेमाल करने को नहीं कहा था, बल्कि उन्हें तो किसी

ने देखा तक नहीं था। हम अपने आप ही एक गोष्ठी में गए थे, जहाँ मैटेग्नो ने उनका उल्लेख किया था। हमने स्वयं अपनी कक्षा के लिए उन्हें खरीदवाया था, उनके बेहतर उपयोग के उपाय ढूँढ़े थे।

अन्ततः यही अकेली शैक्षिक अनुसंधान पद्धति है जो शिक्षा के स्तर में सुधार ला सकती है। ऐसा अनुसंधान जो शिक्षक अपनी ही कक्षा में करते हों। और जो उनके द्वारा महसूस की गई समस्याओं पर आधारित हों। पर आज के हालात में जो शिक्षक ऐसे अनुसंधान करते हैं, उनके नतीजों को अपनी शिक्षण-पद्धतियों में उतारते हैं, उनमें से अधिकांश परेशानियों का सामना करते हैं। फिर चाहे उनके परिणाम पहले से बेहतर ही क्यों न हों। ऐसे अनुसंधान करने पर शिक्षकों को बाध्य करने का कोई उपाय भी नहीं है। अधिकांश शिक्षक ऐसा कुछ करना भी नहीं चाहेंगे। उन्हें तो आसानी इसी में होगी कि दूसरे उन्हें बता दें कि उन्हें क्या करना है, ताकि असफलता की जिम्मेवारी भी उनकी खुद की न रहे। पर जो शिक्षक अपनी कक्षा का उपयोग बेहतर शिक्षण पद्धतियाँ ढूँढ़ने में करना चाहते हैं, उन्हें हर सम्भव प्रोत्साहन मिलना चाहिए। 1958 के बाद मैंने जिन तीन स्कूलों में काम किया वहाँ मुझे नई शिक्षण पद्धतियाँ ढूँढ़ने के निजी प्रयासों के लिए कोई विशेष प्रोत्साहन या सहायता नहीं मिल सकी। तब भी नहीं जब परिणाम ज़ाहिर तौर पर और कई बार तो आश्चर्यजनक रूप से बेहतर हो पाए थे।

बच्चे पाककला की किताबों से बहुत कुछ नहीं सीख पाते, फिर चाहे वे कितनी ही आकर्षक और अच्छी क्यों न हों। बच्चा जिस क्षण भी कुछ सीखता है, वह किसी ऐसे तरीके के इस्तेमाल के कारण नहीं सीखता जिसे हम बेहतरीन मानते हों, बल्कि वह उस तरीके से सीख पाता है जो उसे खुद को सबसे अच्छा लगता हो। क्योंकि वही तरीका उसकी वैचारिक संरचना व सम्बंधों और वास्तविकता के दिमागी प्रारूप से मेल खाता है। यानी सीखते समय बच्चा उस कड़ी का इस्तेमाल करता है जिसे वह अगली कड़ी मानता है, न कि उसका जिसे हम अगली कड़ी के रूप में देखते हैं। शिक्षक इस बात को सीख ही नहीं पाते। खासकर वे शिक्षक जो बेहद

कुशल और वाकपटु होते हैं जिन्हें हम “प्रतिभाशाली” कहते हैं। जितना अधिक हम अपनी वैचारिक संरचना के प्रति सचेत होते हैं, उतना ही यह लालच मन में उपजता है कि हम उस संरचना को जस का तस बच्चों के दिमाग में उतार दें। पर ऐसा हो नहीं सकता। हमें बच्चों को स्वयं अपने ढाँचे तैयार करने देना होगा। मैं तथ्य “अ” और “ब” को “स” सम्बंध से जोड़ पाता हूँ। पर किसी बच्चे के मन में मैं बातचीत के माध्यम से वह सम्बंध पैठा नहीं सकता। सम्भव है, वह उन तथ्यों को और जो कुछ मैंने कहा हो उसे याद रख ले। पर इस बात की सम्भावना कहीं अधिक है कि वह मेरे शब्दों को घुमा दे और उसे “अ”, “ब”, “स” जैसे तीन तथ्यों का रूप दे डाले, जिनका परस्पर कोई सम्बंध ही न हो।

उदाहरण के लिए, $2 \times 9 = 18$ व $2 \times 10 = 20$ को लें। अधिकांश बच्चे व शिक्षक इन्हें दो असम्बद्ध तथ्यों के रूप में देखते हैं। पाठ्य-पुस्तकें भी गुणन से सम्बंधित ऐसे सैकड़ों तथ्यों का उल्लेख करती हैं। पर ये तथ्य परस्पर इस सम्बंध से जुड़े हैं कि 10 बार 2, 9 बार 2 से 2 अधिक है। इसे जानकर मैं यह भी समझ सकता हूँ कि 1000×2 निश्चित रूप से 999×2 से 2 अधिक है, यानी बिना गुणा किए मैं यह जान सकता हूँ कि 999×2 निश्चित रूप से 2000 - 2 या 1998 होगा। पर जब-जब मैंने अपने छात्रों को यह बताने की कोशिश की है तो उन्होंने इसे एक तीसरे पेचीदा तथ्य के रूप में ग्रहण किया है, जिसका पिछले तथ्यों से कोई सम्बंध न हो। उदाहरणार्थ किसी बच्चे को यह ढूँढ़ना होगा कि अगर $2 \times 75 = 150$ है तो $2 \times 74 = 150 - 2$ या 148 है। जब तक वह यह स्वयं न खोज ले तब तक इस बारे में बात करने से वह यह कल्पना ही नहीं कर सकता कि अगर $3 \times 50 = 150$ है तो $3 \times 49 = 150 - 3$ या 147 के बराबर ही होगा।

मुझे एक लम्बे समय से लगता रहा है कि बच्चे आगमनात्मक (इंडक्टिव) तर्क में कुशल होते हैं। वे विशिष्ट से सामान्य की ओर बढ़ सकते हैं। पर निगमनात्मक (डिडक्टिव) तर्क में वे कमजोर होते हैं, यानी अच्छे से अच्छे छात्र भी अपने सीखे हुए सामान्यीकरणों के उदाहरण बिरले ही दे पाते

हैं। बच्चे स्कूलों में सुने तमाम सामान्यीकरणों में से बहुत कम ही काम में ले पाते हैं। इसका कारण यह है कि ये सामान्यीकरण उनके निजी नहीं होते हैं। और न ही उनका वास्तविकता से कोई जुड़ाव होता है। जिस तरह के ठोस सवालों का मैंने वर्णन किया है वे बच्चों को अपने स्तर पर निजी सामान्यीकरण बनाने का मौका देते हैं। फिर चाहे ये सामान्यीकरण कितने ही अनगढ़ क्यों न हों। ऐसे निजी सामान्यीकरण ही वह नींव डालते हैं जिस पर बच्चे स्वयं रच सकें। शुरू-शुरू में मुझे यह सूझता नहीं था कि निदान के लिए ईजाद किए गए सवालों का मैं पारम्परिक गणित - यानी अंक व उनकी संक्रियाएँ - पढ़ाने के लिए कैसे काम में लूँ। तब मैंने हारवर्ड में कार्यरत एक ब्रितानवी गणितज्ञ व शिक्षक प्रोफेसर जेड.पी. डीनेज़ का काम देखा। तत्काल ही सम्भावनाओं के नए द्वार खुलने लगे।

प्रोफेसर डीनेज़ ने गणित शिक्षण के लिए “गणित प्रयोगशाला” नामक एक विधि विकसित की थी। सबसे पहले लेस्टरशायर के स्कूलों में इसका व्यापक प्रयोग हुआ और बाद में कई दूसरी जगहों पर भी।

बच्चों को इस पद्धति में कई तरह की सामग्री दी जाती है और उनसे प्रयोग करने को कहा जाता है। ये प्रयोग कुछ ऐसे होते हैं : किसी एक आकार को बनाने के लिए कितने टुकड़े चाहिए होंगे, या किसी एक आकार के टुकड़ों को लेकर कुछ दूसरे आकार बनाना आदि। यह कैसे किया जाना है, बच्चों को कोई नहीं बताता है, उन्हें अपनी ही जुगत भिड़ानी पड़ती है। अगर उन्हें कोई प्रयोग कठिन लगे तो वे उसे छोड़कर आसान प्रयोग कर सकते हैं। जैसे-जैसे उन्हें उत्तर मिलते जाते हैं वे उन्हें लिखते चलते हैं। कालान्तर में वे यह गौर कर पाते हैं कि जो कुछ उन्होंने कभी एक बार किया था, वह दूसरे काम के काफी समान है। तब वे साम्य देखने लगते हैं, सामान्यीकरण करने लगते हैं। अन्ततः वे कुछ समस्याएँ बिना किसी सामग्री के उपयोग के हल कर पाते हैं। तब यह कहा जा सकता है कि उन्होंने उस समस्या में निहित सिद्धान्त को जान लिया है।

ये सारी सामग्रियाँ, ये सारे प्रयोग, विविध और अनूठे हैं। बच्चों को ये रोचक लगते हैं। लेस्टरशायर के स्कूलों में अक्सर किसी कमरे में चालीसेक

बच्चे, जिनमें कुछ तो सिर्फ सात साल के भी होते हैं, अपने आप इन प्रयोगों को एकाग्रचित होकर करते मिलते हैं। कई बार तो कक्षा में कोई शिक्षक तक नहीं होता था। इन सामग्रियों में से कुछ तो बच्चों को वह सब सीखने में मदद करती हैं जो हमारे यहाँ बहुत कम बच्चे जानते हैं - किसी संख्यांक प्रणाली में आधार व स्थानीय मान का अर्थ व उपयोग (हमारी दशमलव प्रणाली भी तो ऐसी ही एक प्रणाली है जिसका आधार 10 है)। गणित प्रयोगशाला की दूसरी सामग्री दूसरे कामों में इस्तेमाल की जाती है। उसमें कुछ ऐसे काम भी होते हैं जिन्हें अधिकांश शिक्षक उन्हीं बच्चों के लिए बेहद कठिन करार दें, जिन्हें ये बच्चे सहज ही मज़ा लेते हुए कर चुके हों।

कोई कारण नहीं कि इन सामग्रियों के इस्तेमाल से - क्यूसिनेर छड़ों व अन्य सहायक सामग्री - हम बच्चों को गणित प्रयोगशाला विधि से पूरी गणित न सिखा सकें। यह जानने में अवश्य समय लगेगा कि बच्चों को कौन-सी सामग्री अधिक रोचक लगती है, किनमें वे अधिकतम गणितीय सार्थकता पाते हैं। कौन-कौन से प्रयोग बच्चे अधिक आनन्द के साथ व शिक्षकों से कम से कम निर्देश पाकर, बिना उनके हस्तक्षेप और भूल सुधार के, कर सकते हैं।

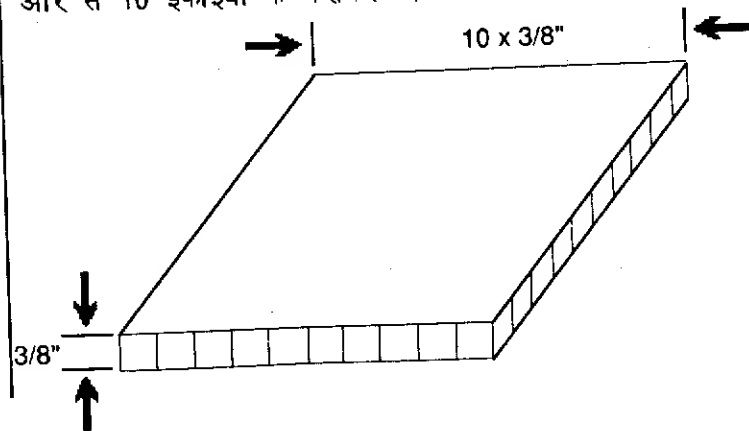
पर ये तो क्रियान्वयन की बारीकियाँ हैं, जिन्हें आसानी से हर स्कूल के ऐसे शिक्षक निपटा सकते हैं जो इनके उपयोग और सिद्धान्त को समझते हों। जिनकी रुचि इस बात में हो कि बच्चे केवल परीक्षाओं में अच्छे नम्बर ही नहीं लाएँ बल्कि सच में कुछ सीखें। ऐसे स्कूलों में कालान्तर में गणित का पाठ्यक्रम एक घृणित या हानिकारक पाठ्यक्रम के बदले सबसे लोकप्रिय व रचनात्मक पाठ्यक्रम बन सकता है। एक ऐसा पाठ्यक्रम जहाँ सीखना फर्जी न होकर वास्तविक व उपयोगी हो, जो बच्चों की मेधा का विनाश करने के बदले उसे पोषण दे।

जैसा आप समझ पा रहे होंगे मैं गणित प्रयोगशाला के इस विचार से पूरी तरह अभिभूत था कि डीनेज़ की सामग्रियों से, और इस सम्भावना से ही कि हम अगर बच्चों के सामने उचित सामग्रियाँ रखें व कुछ

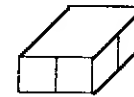
गतिविधियाँ करने का सुझाव दें तो बच्चे न केवल गणित ही सीखेंगे, बल्कि उससे प्यार भी करने लगेंगे। दूसरे शब्दों में, मैं आशा करता था कि हम इन सामग्रियों की सहायता से वह सब कर सकेंगे जो सेमोर पैपर्ट माइन्ड स्टॉर्म्स में विशेष तरह के कम्प्यूटरों से करना चाहते थे।

ब्रिटेन की प्राथमिक शालाओं में और बाद में हमारे यहाँ भी, शिक्षक जिस बात को साग्रह सिखाना चाहते थे, वह थी संख्यांक प्रणाली में आधार व स्थानीय मान का अर्थ। उन्हें लगता था कि अगर बच्चे यह समझने लगेंगे तो वे तमाम ऊटपटाँग गलतियाँ नहीं करेंगे बल्कि तर्क को समझ लेंगे। यानी वे स्कूली गणित पाठ्यक्रम की सारी की सारी संक्रियाएँ याद रख सकेंगे।

डीनेज़ ने यह सब याद रखने में सहायता देने के लिए बहु-आधार वाले गुटके ईजाद किए थे। इनके आधार 2, 3, 4, 5 व 10 के सैट में मिलते थे। आधार 10 के एक सैट में कुछ इकाई घन थे। ये घन $3/8"$ के आकार में लकड़ी के बने थे। साथ में लकड़ी की कुछ पट्टियाँ भी थीं जो $3/8"$ चौड़ी और 10 गुनी लम्बी थीं। ये पट्टियाँ 10 की संख्या को इंगित करती थीं। कुछ लकड़ी के बने चौकोर थे जो $3/8"$ ऊँचे व हर भुजा में 10 इकाइयों बराबर लम्बे थे। लकड़ी के कुछ घन 1000 की संख्या को इंगित करने के लिए भी थे, जो हर ओर से 10 इकाइयों के बराबर थे।



आधार 2 के सैट में भी इकाई घन थे, कुछ पट्टियाँ थीं, जिनकी लम्बाई 2 इकाइयों के बराबर थीं, और चौकोर भी थे जो 1 इकाई ऊँचे व 2 इकाई लम्बे थे। कुछ घन भी थे जो हर ओर से 2 इकाइयों के बराबर थे। इसी तरह से आधार 3, 4, व 5 के सैट भी थे।



विचार यह था कि बच्चे “ऐसे प्रयोग” करेंगे जो असल में गणित के ही सवाल थे पर उन्हें हल करते समय वे इन ठोस सामग्रियों का इस्तेमाल करेंगे, ताकि वे अपने उत्तरों की जाँच भी करते चले। यानी इन सामग्रियों से वे सचमुच सीखेंगे। इस सम्भावना से उत्तेजित होकर मैंने भी बहु-आधार गुटके व प्रयोग तालिकाओं का एक सैट मँगवाया। जब वे आए तो मैंने बच्चों को प्रयोगों की सूचियों की बात बताई और कहा कि वे स्वयं यह तय कर लें कि वे कौन से प्रयोग करना चाहेंगे।

बच्चों को शुरू में यह सामग्री अच्छी लगी और मैं यह आशा करने लगा कि अपने-आप गणित सीखने की प्रक्रिया मेरी कक्षा में भी आरम्भ हो जाएगी। पर कुछ ही समय बाद मुझे एक झटका लगा। तब, जब मैंने पहले प्रयोगों के परिणामों, यानी उत्तरों को देखा। कुछ अपवादों को छोड़कर सभी उत्तर न केवल गलत थे बल्कि बिल्कुल असम्भव भी थे। उन महँगी, स्व-शिक्षण की सामग्री कहलाने वाली चीजों से बच्चों ने कुछ भी नहीं सीखा था। मैं एडवर्ड, डॉरथी व दूसरे बच्चों के साथ एक बार फिर वहीं खड़ा था जहाँ मैं पहले था।

कुछ दिनों बाद बच्चों ने इन प्रयोगों में रुचि लेना बन्द कर दिया। उन्हें मेरी बनाई पहेलियाँ और समस्याएँ ही अधिक रोचक लगती थीं, जो इस सामग्री के विषय में कोई अच्छी टिप्पणी नहीं है।

मैंने कुछ इन्तज़ार किया कि शायद स्थिति कुछ बदले। यह सोचकर कि अगर बच्चे कुछ समय तक बहु-आधार गुटके काम में लेते रहेंगे,

तो शायद यह भी समझ लेंगे कि उनका बेहतर उपयोग कैसे किया जा सकता है। पर कोई सुधार नहीं आया। जो बच्चे पहले से ही आधार व स्थानीय मान का सिद्धान्त जानते थे, केवल वे ही लिखित अंकों व अंकों की संक्रियाओं में और इन गुटकों में सम्बंध देख पाए। फिर चाहे उनकी पहले की समझ स्वतःस्फूर्त ही क्यों न रही हो। यानी जो बच्चे पहले ही 101 को आधार 2 में, या 322 को आधार 4 में, या किसी संख्या को दशमलव प्रणाली में, बिना इन गुटकों के बदल सकते थे, केवल वे ही उस काम के लिए इनका इस्तेमाल कर पाते थे। अपने उत्तर इनकी मदद से जाँच लेते थे। पर जो बच्चे यह सब करना नहीं जानते थे, उन्हें इन गुटकों का क्या करना है, सूझता तक नहीं था।

फलतः जो बच्चे पहले ही यह जानते थे कि आधार 2 का घन 8 इकाइयों के बराबर होता है या आधार 4 का घन 64 इकाइयों के बराबर होता है, केवल वे ही अपने उत्तर जाँच लेते थे। पर जिन बच्चों के लिए यह सब अस्पष्ट था, वे अब भी यह कह सकते थे कि आधार 4 के घन में 211 या 83 इकाइयाँ हैं या फिर वे ऐसी ही दूसरी कोई ऊटपटाँग संख्या बता सकते थे जो उनके दिमाग में उस वक्त उपज जाए। उन्हें ये गुटके उतने ही अमूर्त और वास्तविकता से कटे लगते थे, जितने एडवर्ड को क्यूसिनेर छड़ें। उनके लिए तो ये गुटके भी उतने ही रहस्यमय, निरंकुश और स्वेच्छाचारी थे जितनी वे संख्याएँ जिन्हें जीवन्त बनाना इन गुटकों का काम था।

मैंने तय किया कि मैं बहु-आधार गुटकों को सेवानिवृत्त कर दूँ। मैंने बच्चों को उनके उपयोग के लिए उकसाना बंद कर दिया। उन्हें कमरे के एक कोने में रख दिया, ताकि जो बच्चे चाहें उन्हें उठाएँ और देखें। पर किसी ने ऐसा नहीं किया। अधिकांश शिक्षक जो नहीं कर पाते हैं, वह मैं यहाँ कर सका था। मैं उस चीज़ का मोह त्याग सका जो कोई परिणाम नहीं दे पा रही थी।

मैंने तय किया कि मैं अपनी गणित की सामग्री स्वयं ही बनाऊँगा। बिल हल, मैं और हमारे कुछ साथी लेस्टरशायर की "खुली" प्राथमिक

शालाओं से बेहद प्रभावित थे। हमें लगता था कि उनमें बदलाव इसलिए सम्भव हुआ कि उनके साथ कई स्रोत व्यक्ति जुड़े हुए थे। इन स्रोत व्यक्तियों का काम ही नए विचार व सामग्री उन शिक्षकों को उपलब्ध कराना था, जो उनकी माँग कर रहे हों।

मैंने सोचा कि अगर मैं स्कूल में गणित परामर्शदाता बन जाता हूँ तो मैं केवल अपनी कक्षा में ही नहीं बल्कि पूरे स्कूल में गणित शिक्षण को प्रभावित कर सकूँगा। मैंने स्कूल को यह सुझाया। उन्होंने बात तो मान ली पर साथ ही जोड़ा कि वे मुझे इस काम के लिए आधी तनखाह ही दे सकेंगे (करीब दो हजार डॉलर, जिसकी 1962 में आज से अधिक कीमत थी)।

आज मैं यह साफ देख पाता हूँ कि स्कूल की रुचि शोध में मुझसे कम थी। और शायद मुझे सामान्य शिक्षण कार्य से बाहर निकालकर वे प्रसन्न ही हुए थे। साल भर बाद वे मुझे यह कहने वाले थे कि शोध में तो उनकी रुचि अब भी बरकरार है, बशर्ते शोध के लिए पैसे की व्यवस्था मैं स्वयं कर लूँ, क्योंकि अब वे मुझे वेतन दे ही नहीं सकते। साल भर मैंने अवैतनिक काम किया। पर न तब, न आज मुझे ऐसे सीमित स्तर पर किए जानेवाले शोध के लिए धन उपलब्ध हो सका है। साल भर बाद वेतन की आवश्यकता महसूस कर जब मैंने पाँचवीं कक्षा को पढ़ाने के अपने पुराने काम पर लौटना चाहा, तो मुझसे कहा गया कि यह सम्भव नहीं हो सकेगा।

पर अगर स्कूल के पास धन होता, तो भी परामर्शदाता या स्रोत व्यक्ति बनना ही मेरी गलती थी। क्योंकि अगर मेरी कक्षा बच्चों के लिए एक बेहतर जगह थी, जहाँ वे कुछ सीख पाते थे, तो वह बढ़िया सामग्री, दिलचस्प पहेलियाँ या नए विचारों के कारण नहीं थी। बल्कि इसलिए कि वहाँ मानवीय परिस्थितियाँ भिन्न थीं। यह तो ज़ाहिर है कि मैं एक सामग्री-अन्वेषक के रूप में बच्चों के लिए फायदेमन्द नहीं था, बल्कि एक ऐसे व्यक्ति के रूप में जिसने जीवन में कुछ रोचक काम किए थे, जिसकी विविध रुचियाँ थीं, जो पढ़ने लिखने में, खेलकूद और संगीत

में रुचि रखता था, जो बच्चों को प्यार करता था, जिसके पास धैर्य था, जो कभी-कभार बेहद नाराज़ भी हो सकता था, पर कभी वह होने का ढोंग नहीं करता था जो असल में वह नहीं हो। जो बच्चों को पसन्द करता था, उनका आनन्द उठा सकता था, उन पर विश्वास करता था, उनकी इज़्ज़त करता था। कोई भी दूसरा वयस्क जो यह सब कर सकता हो उतना ही अच्छा काम कर सकता था, जितना मैं कर पाया था।

अब मैं किसी भी तरह की सामग्री के बारे में स्वयं को उत्साहित होता नहीं पाता हूँ। अगर आज मैं किसी कक्षा को कहीं पढ़ाता, या घर पर बच्चों को पढ़ाता, या बच्चों के लिए कोई स्रोत केन्द्र चलाता तो क्यूसिनेर छड़ों को पाकर मैं बहुत खुश ज़रूर होता, बशर्ते वह मुझे कोई खरीद देता। क्योंकि अब अपने पैसों से मैं तमाम ज़रूरी चीज़ें खरीदना पसन्द करूँगा।

तो अंकों की दुनिया को बच्चों की गिरफ्त तक लाने के लिए उसे रोचक व समझ आनेवाली चीज़ बनाने के लिए हमें क्या करना चाहिए?

कुछ सिद्धान्त इस बारे में दिमाग में रखना अच्छा होगा :

(1) बच्चे कुछ सीखें इसके लिए कतई ज़रूरी नहीं है कि हम उन्हें कुछ “पढ़ाएँ”। वे बिना पढ़ाए ही कहीं अधिक और शायद सबसे अच्छी तरह सीखते हैं। (2) बच्चे हम वयस्कों की दुनिया में और वयस्कों की गतिविधियों में बेहद रुचि लेते हैं। (3) बच्चे सबसे अच्छी तरह सब कुछ सीख पाते हैं जब वह वास्तविकता से जुड़ी चीज़ हो। जॉर्ज डेनिसन ने ऐसी वस्तुओं को अपनी पुस्तक *द लाइव्स ऑफ़ चिल्ड्रन* में “अनुभव की निरन्तरता” का नाम दिया है। (4) बच्चे तब सबसे अच्छी तरह सीखते हैं जब उनका सीखना किसी तात्कालिक और गम्भीर उद्देश्य से जुड़ा हो।

अंकों की दुनिया में इस सबका बड़ा सरल अर्थ है : जितना हम बच्चों को यह बताना सम्भव कर सकेंगे कि अंकों का हम वयस्क क्या उपयोग करते हैं और उन्हें वैसे ही काम में लेने देंगे जैसे हम उन्हें लेते हैं, उतना ही बेहतर होगा।

वयस्क अंकों से क्या करते हैं? हम उनसे अपने आसपास की दुनिया की तमाम चीज़ें नापते हैं। क्यों? ताकि हम उनके बारे में जान सकें, सोच सकें और उनका बेहतर इस्तेमाल कर सकें। नापते हम यह जानने के लिए हैं कि हमें बुखार है या नहीं; यह जानने के लिए कि हम काम पहले से बेहतर या तेज़ कर पा रहे हैं या नहीं; यह जानने के लिए कि किसी चीज़ को खड़ा करने के लिए हमें उसे कितना मज़बूत बनाना है; यह जानने के लिए कि हम कहाँ हैं या कहाँ जा रहे हैं; यह जानने के लिए कि अगर हम कुछ करें तो उसका परिणाम क्या होगा आदि-आदि। हम खामखाह, जिज्ञासावश, कुछ भी नहीं नापते। यह नाप-तौल हम तब करते हैं जब हमें कोई निर्णय लेना होता है या कुछ करना होता है। क्योंकि यह सब करना हमारे लिए अपने आप में रोचक और महत्वपूर्ण होता है, इसमें बच्चों की भी रुचि होगी।

यानी बच्चों को अंकों से परिचित करवाना हो तो हमें उन्हें जितने सम्भव हो, उतने नाप-तौल के उपकरण देने चाहिए। फुटपट्टी, नाप का फीता (फीट व मीटर दोनों में), घड़ियाँ, स्टॉपवॉच, थर्मामीटर, ताल-मापक, तापमान-मापक, प्रकाश-मापक, ध्वनि-मापक, तराजू आदि। जो कुछ हम अपने जीवन में या कार्यक्षेत्र में नापते-तोलते हैं, वह हमें बच्चों के सामने करना चाहिए ताकि वे भी यह सब कर सकें। हमें उन्हें यह बताना चाहिए कि जो कुछ हमने नापा उस बारे में हम क्या सोचते हैं।

बच्चों की रुचि स्वयं में होती है। खुद के शरीर में, निज के विकास में, अपनी तेज़ी और ताकत में होती है। *व्हॉट डू आई डू मन्डे?* में मैंने कई ऐसे प्रयोग सुझाए हैं जो बच्चे स्वयं कर सकते हैं। समय और परिस्थितियों के बदलने के साथ वे उनमें आने वाले बदलाव को भी देख सकते हैं। बच्चे अपनी श्वास की गति, दिल की धड़कन या नब्ज नाप सकते हैं। तेज़ व्यायाम के बाद उसे फिर से नापकर देख सकते हैं। सुस्ताने के दौरान कुछ-कुछ देर बाद वे नापकर यह देख सकते हैं कि स्वाभाविक स्थिति में लौटने में उन्हें कितना समय लगता है। बच्चे अपनी गति और बल को नाप सकते हैं। वे दौड़कर निश्चित समय में

तय की गई दूरी को नाप सकते हैं। वजन उठाने या व्यायाम करने के बाद वे फिर से वही काम दोहराकर अपने प्रदर्शन व सुस्ताने के समय के अनुपात में हफ्तेवार, या एक से दूसरे महीने में आनेवाले अन्तर को नापकर देख सकते हैं।

और इन सभी गतिविधियों में अंकों के साथ सच्चा विज्ञान भी जुड़ा है। वैसा जड़ स्कूली विज्ञान नहीं, जहाँ कक्षाओं में बच्चों को उन अद्भुत वैज्ञानिकों के अन्वेषणों के बारे में बताया जाता है। वह फर्जी विज्ञान भी नहीं, जहाँ बच्चे “प्रयोग” कर वह जान पाते हैं जो वे पहले से जानते हों, या ऐसे उत्तर पाते हों जिन्हें शिक्षक “सही” या “गलत” करार दें।

बच्चों की रुचि पैसों में होती है। आंशिक रूप से इसलिए कि पैसों का उपयोग वे अपने निजी जीवन में करते हैं। अंशतः इसलिए कि वयस्क अपने जीवन में उससे कुछ करते हैं। पर सबसे अधिक इसलिए कि वयस्क उसे महत्वपूर्ण मानते हैं। दस वर्ष या कम उम्र के बच्चे यह जान लेते हैं कि वयस्क किसी भी दूसरी वस्तु की तुलना में पैसे के बारे में अधिक सोचते, बोलते, लड़ते-झगड़ते, बहस या चिन्ता करते हैं।

अगर मेरे पास फिर से कोई पाँचवीं कक्षा होती तो मैं न केवल अपनी क्लास के उन बच्चों से दुनिया में पैसे के स्थान की चर्चा करता बल्कि अपने जीवन में उसकी भूमिका पर भी सविस्तार बातचीत करता। मेरी आय के स्रोत क्या हैं, मैं अपनी आय किन मदों पर खर्चता हूँ, कैसे बचत करता हूँ आदि बताता। मैं उन कम्पनियों की आर्थिक रपट बच्चों को दिखाता जिनके कुछ शेयर मेरे पास हैं, मैं उन्हें अपने बैंक-खाते का मासिक ब्यौरा दिखाता, अपनी चैक बुक, रसीदें, बिल, आयकर फार्म भी दिखाता। यह सब करना आज फोटो कॉपीइंग मशीनों के युग में कितना आसान भी होता है।

इस सबमें न केवल मानक गणित पाठ्यक्रम निहित होता, बल्कि सामाजिक शास्त्र, राजनीति और आर्थिक विचार के लिए भी पर्याप्त सामग्री मिलती।

अगर मैं घर पर बच्चों को पढ़ाता होता तो मैं परिवार की पैसों की लेन-देन की जानकारी ऐसी जगह रखता जहाँ बच्चे उसे देख सकते। मैं उनसे कहता कि वे चाहें तो परिवार के आर्थिक मामलों में सक्रिय भूमिका निभा सकते हैं। वे हिसाब के खाते रख सकते हैं, चैक लिख सकते हैं, बिल अदा कर सकते हैं। सम्भव है कुछ बच्चों की इस में रुचि न होती। पर मुझे लगता है कि अधिकांश बच्चों को यह सब करना अच्छा लगता। कुछ बच्चे तो अपने घरों में यह सब करते भी हैं।

ऐसा करने के साथ मैं द्विलेखी हिसाब-किताब का मूल विचार भी बच्चों के सामने रखता जो मुझे न केवल रोचक बल्कि एक अद्भुत मानवीय अन्वेषण लगता है। मैं बच्चों को टाइप करना भी सिखाता, क्योंकि यह भी एक महत्वपूर्ण कौशल है जो किसी भी युवा व्यक्ति के जीवन और कार्यक्षेत्र में काम आता है।

अच्छा हो यदि परिवार अपना हिसाब-किताब ऐसे रखें मानो वे एक छोटी-मोटी व्यापारिक संस्था हो। मेरा विश्वास है कि कई बच्चों की इसमें रुचि होगी और वे इसमें भागीदारी करना चाहेंगे।

शायद यह बेहतर होता कि जिस स्कूल में मैंने पढ़ाया वहाँ भी मैंने स्कूल की आर्थिक व्यवस्था की चर्चा की होती। जैसा मैंने डेनमार्क की मुक्त शाला (नाय लिल स्कूल) में किया, जहाँ मैं कई वर्षों बाद गया और पढ़ाया भी। धन कहाँ से आता है, किन मदों पर खर्चा जाता है, किस तरह लेखा-जोखा रखा जाता है, किस तरह के निर्णय लेने पड़ते हैं। क्या यही अच्छा होता कि इन निर्णयों में शाला के बच्चों की भी भागीदारी होती।

बहरहाल मैं अपने पहले बिंदु पर लौटकर यह दोहराना चाहूँगा कि बच्चों को अंकों की दुनिया से परिचित करवाने का सबसे अच्छा मार्ग है कि उन्हें यह देखने दिया जाए कि वयस्कों के जीवन में अंकों की क्या भूमिका है।

☐ कैसे असफल
होते हैं स्कूल

□ फरवरी 27, 1958

कुछ दिनों पहले नैल मेरी मेज़ तक आई और हमेशा की तरह बिना बोले, अपलक देखते हुए स्याही से लिखा अपना ताज़ा आलेख मेज़ पर रखा। हमारा नियम है कि स्याही से जब कभी कोई चीज़ उतारी जाए तो एक पन्ने पर तीन से अधिक गलतियाँ नहीं होनी चाहिए। अगर हों तो पन्ना फिर से उतारना होगा। उसके पहले पन्ने को जाँचने पर मुझे पाँच गलतियाँ मिलीं। मैंने भरसक नरमी से बताया कि उसे पन्ना फिर से उतारना होगा। जैसी शिक्षकों की वृत्ति होती है, मैंने यह भी जोड़ा कि उसे सावधानी बरतनी चाहिए थी। उसने मुझे घूरा, उसाँस छोड़ी और अपनी मेज़ पर लौट गई। वह बाएँ हाथ से लिखती है और कलम का सही इस्तेमाल सीख नहीं पाई है। मैं उसे एकाग्र होकर काम से जूझता देख रहा था। कुछ देर बाद वह दूसरी बार अपना काम उतारकर लौटी। इस बार पहले पन्ने पर 7 गलतियाँ थीं और लिखावट भी पहले से कहीं खराब हो गई थी। मैंने कहा कि उसे काम एक बार फिर उतारना होगा। कुछ देर बाद तीसरी प्रति भी आई जो दूसरी से भी बदतर थी।

ठीक उसी समय बिल हल ने मुझसे एक सवाल किया जो मुझे खुद से करना चाहिए था, जो सभी शिक्षकों को हमेशा अपने-आपसे पूछना चाहिए, “तुम कहाँ पहुँचना चाह रहे हो, तुम क्या वहाँ पहुँच रहे हो?”

यह सवाल मुँह बाएँ स्कूलों में खड़ा होता है, पर कौन-सी ऐसी जगह है जहाँ इसका सामना नहीं करना पड़ता? हम कितनी आसानी से फिर-फिर उसी फन्दे में जा फँसते हैं। लक्ष्य के लिए जो साधन है, वही लक्ष्य बनकर रह जाते हैं। मेरे पास तीन गलतियों वाला यह नियम था जो बच्चों को

एकाग्रता के साथ, सफाई के साथ, लेख लिखवाने का साधन मात्र था। उसे सख्ती से लागू कर मुझे क्या पहले से बेहतर, अधिक साफ-सुथरा काम मिल रहा था? नहीं, मुझे तो एक ऐसी बच्ची मिल रही थी जिसे लेख उतारने की इतनी चिन्ता थी कि उसके लिए ध्यान केन्द्रित करना ही असम्भव बनता जा रहा था, जिसका काम बद से बदतर होता जा रहा था। मुझे तो एक ऐसी बच्ची मिल रही थी जो अपना हर अगला पन्ना अपने हर पिछले पन्ने से अधिक खराब लिखनेवाली थी।

जो कुछ हम स्कूलों में करें उसके बारे में यह पूछते जाना चाहिए, “हम पहुँचना कहाँ चाह रहे हैं और जो हम कर रहे हैं क्या उससे हमें वहाँ पहुँचने में मदद मिल रही है?” जब हम कुछ करते हैं क्या वह इसलिए नहीं करते कि हम बच्चों की सहायता करना चाहते हैं और यह देख पाते हैं कि बच्चों को सचमुच सहायता मिल रही है। या फिर हम वह इसलिए करते हैं कि वही स्कूल को, शिक्षकों या व्यवस्थापकों को किरायेती और सुविधाजनक लगता है। या फिर इसलिए कि दूसरे भी ठीक ऐसा ही करते हैं। हमें सजग रहना चाहिए कि हम अपनी सुविधा को ही एक मूल्य का दर्जा न दे डालें। न ही हमें व्यवस्थात्मक किरायेत की वजह से अपनाए गए नियमों को उच्च शैक्षिक स्तर का जामा पहनाना चाहिए। इससे भी कहीं खतरनाक होगा किसी अच्छे कारण से शुरू की गई गतिविधि को हठ व अन्धेपन के साथ करते चले जाना। और यही मैं उस दिन कर रहा था। या तो मैं यह देख ही नहीं पा रहा था या देखना चाहता ही नहीं था कि मैं बच्ची को फायदा नहीं, नुकसान पहुँचा रहा हूँ।

जब मेरा सहकर्मी बिल हल उस स्कूल में आया, जहाँ हम दोनों ने बाद में साथ-साथ पाँचवीं कक्षा को पढ़ाया, तो वह गणित विभागाध्यक्ष के सहायक के रूप में आया था। विभागाध्यक्ष एक बुजुर्ग सज्जन थे, जिन्होंने ताउम्र गणित पढ़ाया था और इस विशिष्ट, उच्च आई. क्यू. वाले बच्चों के स्कूल में भी लम्बे समय से पढ़ाते चले आ रहे थे। एक रोज़ उन्होंने बिल को अपने जीवन-भर के उपक्रम का सार-संक्षेप इन शब्दों में बताया, “मैं पढ़ाता तो हूँ, पर वे सीखते नहीं हैं।”

यह बात वे सभी शिक्षक जानते हैं जो अपने काम के प्रति ईमानदार हैं। यही बात मैं कॉलेजों में पढ़ाना शुरू करने के कुछ ही दिनों में जान गया था। मैं पढ़ाता था पर वे सीखते नहीं थे। चंद छात्र, जो मेरे पास आने के पहले भी अच्छे थे, वे ही अच्छे बने रहते थे। पर खराब छात्र पहले से बेहतर नहीं होते, बल्कि कुछ तो बदतर ही होते जाते थे। अगर देश-भर के “श्रेष्ठतम” स्कूलों का लेखा-जोखा देखें कि उनके यहाँ के कितने छात्र दूसरी या तीसरी श्रेणी से पहली श्रेणी में आए तो यह संख्या दुखदाई रूप से छोटी होगी।

जिस प्रश्न का मैं सालों से उत्तर चाहता रहा हूँ, वह यह है कि बच्चे वह सब क्यों नहीं सीखते जो हम उन्हें पढ़ाते हैं? जिस उत्तर तक मैं पहुँचा हूँ उसे यों कहा जा सकता है : क्योंकि हम उन्हें पढ़ाते हैं, यानी उनके मन की विषयवस्तु को नियंत्रित करना चाहते हैं।

□ अक्टूबर 30, 1968

यहाँ हरेक ऐसे पेश आता है मानो कुछेक निहायत निकम्मे छात्रों को छोड़कर बाकी सभी छात्र गणित की वे सब बातें समझते हैं जो उन्हें जाननी चाहिए। यह सच नहीं है। बीस बच्चों की कक्षा में कम से कम छह छात्र ऐसे होंगे जो साधारण जोड़ नहीं जानते और इससे कहीं बड़ी संख्या उन बच्चों की होगी जो उँगलियों पर जोड़ते हैं। हाँ, वे उन्हें छुपाकर रखते हैं। इससे भी कहीं अधिक संख्या उन बच्चों की है जो गुणा या भाग नहीं कर पाते। मुझे तो यह अनुमान लगाने की चेष्टा ही डराती है कि स्थानीय मान की उनकी समझ क्या है।

गणित के एक ऐसे पर्चे को बनाना बड़ा आसान होगा जो न तो बहुत लम्बा हो, न ही बहुत टेढ़ा; जो केवल ऐसे ही सवाल पूछता हो जो इन बच्चों को आने चाहिए; पर जो कुछ को छोड़ पाँचवीं कक्षा के सभी बच्चों को चक्कर में डाल दे। और पाँचवीं का ही क्यों किसी भी कक्षा का ऐसा पर्चा बनाया जा सकता है। जिस नवीं कक्षा को मैं पढ़ाता था वे सब गणित

में ठीक-ठाक नम्बर पाकर ही उत्तीर्ण हुए थे, पर भाग के बारे में वे बहुत कम जानते थे, भिन्नो के बारे में उससे भी कम और दशमलव के बारे में तो प्रायः कुछ भी नहीं जानते थे।

लगता है यह जाँच-परीक्षा नम्बर-वाली पूरी व्यवस्था ही एक बड़ी साजिश है। जिसका मकसद है छात्रों, शिक्षकों व स्कूलों को एक सामूहिक छलाव में भाग लेने देना। यह छलाव कि छात्र सच में वह सब जानते हैं जो उन्हें जानना चाहिए। जबकि सच्चाई यह है कि वे उसका कुछ हिस्सा ही जान पाते हैं। उच्च विद्यालयों तक में शिक्षक पहले से यह क्यों बताते हैं कि परीक्षा किन अध्यायों की होगी या सवाल किस तरह के पूछे जाएँगे? इसलिए क्योंकि अगर शिक्षक ऐसा न करें तो अधिकांश बच्चे फेल हो जाएँ। हारवर्ड या येल तक में कोई प्रोफेसर अगर मार्च के महीने में उन अध्यायों की परीक्षा ले डाले जो उसने अक्टूबर में पढ़ाए थे तो क्या हो? शायद इसका नतीजा हम सब जानते हैं। इसीलिए ऐसा करते नहीं है।

यह बात आज भी उतनी ही सच है जितनी तब थी। चाहे हमारे परीक्षा परिणाम कुछ भी क्यों न दिखाते हों, स्कूलों में जो कुछ भी पढ़ाया जाता है उसका एक छोटा-सा अंश ही सीखा या याद रखा जाता है। और जो याद रखा जाता है उसका भी एक छोटा-सा हिस्सा ही काम का होता है। हम जो कुछ सीखते, याद रखते, और इस्तेमाल करते हैं वे सब वही बातें होती हैं जिन्हें हम स्कूल से बाहर की ज़िन्दगी में तलाशते या पाते हैं।

□ मार्च 20, 1959

आज जेन ने वह किया जो कक्षा में उसके विद्रोही और उद्दण्ड व्यवहार के बावजूद, उसे कक्षा की सबसे अच्छी और आकर्षक बच्ची बनाता है। मैं तो अपने जीवन में उस जैसे, बड़ी या छोटी उम्र के, केवल गिने-चुने लोगों से मिल पाया हूँ। मैं बोर्ड पर था और उसे बड़ी संख्या के भाग के बारे में कुछ समझा रहा था। उसने आत्मरक्षा में कहा, “पर हमारी

चौथी कक्षा की मैडम ने तो बताया था कि हमें सबसे पहले, पहले अंक को लेना चाहिए...।” यहाँ उसने मेरे चेहरे पर शंका की छाया पहचान ली। वह तत्काल समझ गई कि मैं इस नियम को सही नहीं मानता। वह बिना रुके आगे कहती गई, “नहीं, मैडम ने नहीं, शायद किसी और ने बताया था...।” और वह भाग के बारे में अपनी बात आगे बताने लगी।

बात मुझे छू गई, अन्दर तक उद्वेलित कर गई। कितने वयस्क वह पहचान सकते जो उसने फौरन पहचान लिया था कि उसकी शिक्षिका के शिक्षण के बारे में कुछ कहना उन्हें मेरी नज़रों में गिराना होगा? इससे भी बड़ी बात तो यह है कि कितने वयस्क ऐसे होंगे जो अपनी परेशानियों का दायित्व अनुपस्थित मैडम के सिर लादने का मौका पाने के बावजूद अपनी कहानी बदलकर उन्हें दोष से बचाते? निष्ठा का बराबर ढोल पीटने वाले हज़ार व्यक्तियों में से शायद एक भी ऐसा नहीं होता जो इस नन्हीं बच्ची की तरह अपनी पिछली शिक्षिका और सहेली के प्रति ऐसी निष्ठा दिखा पाता। और उसे ऐसा करने के लिए सोचना तक नहीं पड़ा। उसके लिए अपने प्रिय मित्र को दोष से, आलोचना से बचाना उतना ही स्वाभाविक था, जितना साँस लेना होता है।

शिक्षक व स्कूल अक्सर शिष्ट व्यवहार को ही अच्छे चरित्र के रूप में देखते हैं। वे जिन गुणों को महत्वपूर्ण आँकते हैं वे हैं - आज्ञाकारिता व परामर्श ग्राह्यता। जो बच्चा वह सब करता चले, जो-जो उसे करने को कहा जाए; बेहतर हो कि वह जो कुछ अपेक्षित हो वह बिना किसी के कहे करता चले; वही छात्र उनकी नज़रों में अच्छा है। वे उसी को सबसे अमूल्य मानते हैं जिसकी बच्चे अपने में सबसे कम कीमत आँकते हैं। फिर इसमें आश्चर्य कैसा कि चरित्र निर्माण के उनके सारे प्रयास विफल होते हैं? वे तो सदगुण देखकर भी पहचान नहीं पाते। जेन इसका बेहतरीन उदाहरण है। जिस किसी ने उसे पढ़ाया है, उनके लिए वह एक कठिन परीक्षा सिद्ध हुई है। इस उदार स्कूल तक में उसे सहा या झेला मात्र जाता है। दूसरे स्कूल तो उसे कब का बाहर निकाल करते। जितने वयस्क उससे परिचित हैं उनमें से केवल कुछ ही ऐसे होंगे जो उसके असाधारण

गुणों को पहचानकर उनका मोल आँक पाते होंगे। अगर उनसे उसके चरित्र के बारे में राय ली जाती तो वे कहते, "उसका चरित्र बहुत खराब है।" वह कितना ही परेशान क्यों न करती हो, मेरी दिली कामना यही है कि काश, उस जैसे और बच्चे होते।

किसी ने कहा था कि साहस "एक सुन्दर गुण है"। सच, कितना सुन्दर होता है यह गुण। छोटे बच्चों में, जो इतने कमजोर व असहाय होते हैं, जिनके भयभीत होने के तमाम कारण होते हैं, यह शायद और भी सुन्दर हो उठता है।

कुछ अपवादों को छोड़कर स्कूल या स्कूली लोग बच्चों में साहस की कद्र नहीं करते हैं। इसलिए कि स्वयं उनके पास साहस नहीं होता। वे उससे डरते हैं, उसे दबाने, बुझाने के उपाय करते हैं। वे यह मानते हैं कि जो बच्चे साहसी हैं, उन्हें नियंत्रित करना कठिन होगा। ऐसे बच्चे विद्रोही और उद्दण्ड सिद्ध होंगे, जबकि डरे-सहमे बच्चों को नियंत्रित करने में आसानी होगी। असल में उनकी समझ ही उल्टी है। धृष्ट, तोड़फोड़ करनेवाले या हिंसक बच्चे, जिनकी हमारे शहर व देश के स्कूलों में भरमार है, साहसी होते ही नहीं हैं। चूँकि उनमें साहस नहीं होता इसलिए ही तो वे अपने साथियों की नज़र में साहसी सिद्ध होने के लिए कुछ भी करने को प्रस्तुत रहते हैं। उनके लिए दुनिया में सबसे महत्वपूर्ण है उनके हमउम्र साथियों की भीड़, उनकी मर्जी, उनके पूर्वाग्रह।

काश, स्कूल इस गुण को पहचानना सीख लेते, उसकी कद्र करते, बच्चों में इसे पोसते। तब शायद उन्हें उन तमाम समस्याओं का, केवल सीखने की नहीं, बल्कि अनुशासन की समस्याओं का भी हल मिल जाता। पर भविष्य में ऐसा कुछ होनेवाला हो, इसके आसार नज़र नहीं आते हैं।

□ अप्रैल 11, 1959

जो बातें बच्चे कक्षा में करते हैं, तब जब उन्हें बोलने की अनुमति दी जाए, वे सामान्य तौर पर वे बातें होती ही नहीं हैं जो उनके मन की

हों। किसी लम्बी चर्चा के बाद, बिरले ही मुझे लगता है कि मैं बच्चों के वास्तविक जीवन में झाँक पाया हूँ। ऐसी एक चर्चा थी छुपने की जगहों के बारे में और दूसरी, जो अभी चन्द रोज़ पहले ही हुई थी, गालियों या बुरे लगने वाले सम्बोधनों के बारे में।

यह दूसरी चर्चा रोमन इतिहास के घन्टे में उभरी। सन्दर्भ था रोम में राजनैतिक सत्ता का जनता के हाथों में चला जाना। उस समय रोम में ऊँचे ओहदों तक पहुँचने के लिए एक ही सुनिश्चित तरीका था - जनता को उकसाना। बच्चों ने जानना चाहा कि यह होता कैसे था। मैंने बताया कि यह गालियों या नामों से सम्भव होता था। अपने विपक्षी के विरुद्ध जनता को भड़काने के लिए उसे छाँट-छाँटकर ऐसी गालियाँ दी जाती थीं, जिनसे लोग घृणा करते हों। मेरे इन बच्चों में फिलहाल भीड़-वृत्ति पनप नहीं पाई है (यह स्थिति कुछ ही वर्षों में बदल जाएगी) सो उन्हें मेरी बात पर यकीन ही नहीं हो रहा था। वे जानना चाहते थे कि ऐसे कैसे नाम होंगे, जो किसी भीड़ को भड़का दें।

जवाब में मैंने पूछा, "तुम लोगों को ऐसे किन नामों से बुलाया जाए, जो तुम्हें बुरे लगें?" अब हम सब इस दिशा में बढ़ चले। कक्षा समाप्त होती, उसके पहले पूरा बोर्ड घृणित नामों से भर चुका था। उनमें करीब आधी तो वे सामान्य गालियाँ थीं, जिनसे कोई भी दस वर्षीय बच्चा चिढ़ सकता है - जैसे बेवकूफ, भोंदू, बुद्धू, उल्लू, उजड़ आदि। पर बाकी नामों से मैं स्तम्भित रह गया। वे सबके सब प्रेम सम्बोधन थे।

बड़ा तमाशा रहा। मेरे सामने दमकते चेहरों वाले जीवन्त बच्चे थे, जिनकी आँखें उत्तेजना व उत्साह से नाच रही थीं। मैं बराबर गौर कर रहा था कि कौन उन नामों के प्रति बच्चों की सामूहिक घृणा व विरक्ति को सबसे सशक्त रूप दे पाता है, जिन्हें वयस्क यह सोचकर काम में लेते हैं कि वे बच्चों को अच्छे लगते होंगे। कोई कहता, "प्यारी . . . छी!" सभी बच्चे उसका समर्थन करते। तब कोई दूसरा कहता, "डियर . . . छी, छी, छी, गन्दा!" और समर्थन। जिन-जिन स्नेह व प्रेम-सम्बोधनों की हम कल्पना कर सकते हैं उन सबकी सामूहिक रूप से छीछालेदर हुई। उनमें से कोई

भी बच्चों को उचित नहीं लगा। किसी एक तक को अनुमोदन या स्वीकृति नहीं मिली। किसी बच्चे ने यह नहीं कहा, “भई, यह तो कोई बुरा नाम नहीं है।” सम्भव है कि वे थोड़ा-बहुत खेल की उत्तेजना में बह गए हों। पर जैसे वे दिख रहे थे, उनकी जैसी ध्वनियाँ मैं सुन पा रहा था, उससे मुझे यह निश्चित रूप से लगा, और अभी भी लगता है कि वे जो कुछ कह रहे थे, उसे सच में मानते भी थे। उनके मन में इन प्रेम सम्बोधनों के लिए एक गहरी विरक्ति थी।

ऐसा क्यों है? वैसे तो दस साल की उम्र अधिकांश बच्चों के लिए शौर्य की ही होती है। मुझे तो उन्हें देखकर होमर-युगीन यूनानी याद आते हैं। वे लड़ाकू होते हैं। आक्रामक होते हैं। उनका आन-बान-शान और मान का विचार गहरा, पर नाजुक होता है। उनका पक्का विश्वास होता है कि प्रत्येक अपमान का बदला फौरन मय सूद चुकाना ज़रूरी है। अपने दोस्तों के प्रति उनकी वफादारी तक जुझारू होती है, जबकि वे अपने दोस्त अक्सर बदलते रहते हैं। उनमें औचित्य की समझ अपरिपक्व होती है। चालाकी व चालबाजी के वे प्रशंसक होते हैं। उनमें स्वामित्व की भावना मुखर होती है, पर साथ ही औदार्य भी होता है। उनकी छोटी से छोटी चीज़ “ली” नहीं जा सकती पर मन करे तो वे कुछ भी “भेंट” कर सकते हैं। वे तो अधिकतर समय स्वयं को बच्चा तक महसूस नहीं करते, सो कोई उन्हें बच्चा मानकर बात करे यह उन्हें रास नहीं आता।

पर बात सिर्फ इतनी ही थोड़े है, इससे कहीं गहरी है। बच्चे इन प्रेम-सम्बोधनों के प्रति इसलिए शंका लु रहते हैं, इसलिए चिढ़ते हैं क्योंकि उन्होंने वयस्कों को उनका झूठा प्रयोग करते देखा है। बच्चों के साथ काम करने वाले प्रत्येक व्यक्ति ने आज यह तो सुन ही रखा है कि बच्चों को प्यार की ज़रूरत होती है, पर जो सच में बच्चों से प्यार करते हैं वे बखूबी जानते हैं कि बच्चे हमेशा खुशी और आनन्द नहीं देते, बल्कि वे तो अक्सर वयस्कों का-सा व्यवहार करते हैं जो मन में अशैर्य और चिढ़ पैदा करे। तो फिर इसमें आश्चर्य कैसा कि ऐसे कई वयस्क होते हैं जो उन्हें पसन्द ही नहीं करते। या फिर करते भी हैं तो कोई खास नहीं। पर

मुश्किल यह है कि ऐसे वयस्कों को हमेशा यही लगता रहता है कि बच्चों को पसन्द करना अनिवार्य है। यह तो उनका कर्तव्य ही है। फलतः वे इसी कर्तव्य-पालन के प्रयास में जबरन यों पेश आते हैं मानो उन्हें बच्चे सच में पसन्द हों। यही कारण है कि वे बराबर निरर्थक ही “प्यारी,” “डियर” जैसे स्नेह-सम्बोधनों का उपयोग करते हैं। बच्चों से बात करते समय उनकी आवाज़ में एक निहायत नकली चाशनी घुल जाती है। बच्चे जब तक दसेक साल के होते हैं, वे इस नकली प्यार से उकता जाते हैं। वे यह विश्वास भी करने लगते हैं कि अक्सर वयस्क जो कुछ कहते हैं, उसे न तो वयस्क मानते हैं, न ही उस पर भरोसा करते हैं।

□ मई 3, 1959

जितना अधिक मैं अपनी शैतान जेन से मिलता हूँ, उतना ही उसके बारे में सोचता हूँ। यह महसूस करता हूँ कि प्यार की कितनी गहरी प्यास उसमें है। पर वह यह भी मानती है कि उस प्यार को पाने की यह शर्त, कि वह “अच्छी,” “प्यारी” और “आज्ञाकारी” बच्ची बने, नाजायज़ है। पर शायद यहाँ प्यार शब्द का उपयोग ही अनुचित हो। शायद मुझे कहना चाहिए कि उसे प्रशंसा की, आदर की या सम्मान की ज़रूरत है। वह सोचती है कि इससे घटिया क्या हो सकता है कि दूसरों का अनुमोदन व स्नेह पाने के लिए वह सब कहा या किया जाए, जो वे चाहते हों, या ठीक वैसा बना जाए जैसा वे चाहते हैं।

क्या इस दृष्टिकोण में प्रशंसा करने के लिए बहुत कुछ नहीं है। सम्भव है कि एक ऐसा समय भी आए जब वह बिना यह हिसाब लगाए दूसरों की मदद कर सके कि उसे बदले में क्या मिलेगा। पर फिलहाल उसे अपना सहज, स्वाभाविक स्नेह तक दर्शाना कठिन लगता है, जैसा दूसरे बच्चों को भी लगता होगा। इसके विपरीत उसे यह ज़रूरी लगता है कि वह उत्पात कर अपने प्रति दूसरों के स्नेह की परीक्षा लेती रहे। कभी-कभार वह हिसाब चूक जाती है। तब उसे सज़ा भुगतनी पड़ती है। जो उसे बड़ी

कठोर लगती है। और यों वह क्रोधजनित विद्रोह के चक्र में जा फँसती है, जिसे तोड़ना उसे नहीं आता।

आजकल वह दोपहर का खाना मेरी ही मेज़ पर खाती है। उसका साथ कितना आल्हादित करता है। वह कुछेक ऐसे प्रयास भी करने लगी है जिसे भोजन सम्बंधी शिष्टाचार कहा जा सकता है। काश, मैं उसे समझा पाता कि हर दिन हमारे स्नेह की अग्नि-परीक्षा लेना कतई ज़रूरी नहीं है। पर यह वह समय के साथ ही सीखेगी। उस दिन खाते समय उसने कहा, “मुझे शिक्षकों से घृणा है।” इतना कह उसने मेरी ओर एक पल की एक मुस्कान उछाली और मेरे हाथ पर एक मुक्का जड़ा। हम उसके लिए जीना कितना आसान कर सकते थे। अगर हम उसे बराबर वयस्कों के अनुमोदन और उसके आत्मसम्मान के बीच किसी एक को चुनने पर बाध्य नहीं करते।

स्कूल शेष होने के बाद जेन को मैंने गर्मियों के मध्य तक नहीं देखा। तब एक रोज़ मित्रों के साथ मैं उस कस्बे के समुद्र तट पर गया जहाँ वह रहती थी। हम एक सड़क पर मुड़े ही थे कि वह सामने दिखी, सड़क के उस पार अपनी दो सहेलियों के साथ। वह दौड़ती हुई आई और ठीक मेरे सामने खड़ी हो गई। “आप यहाँ क्या कर रहे हैं?” उसने जानना चाहा। मैंने कहा, “तट पर जा रहा हूँ। अगर तुम्हें आपत्ति न हो, तो।” उसने मुझे कुछ क्षण घूरा, तब कहा, “शिक्षक!” साथ ही उसने यह भी जोड़ा कि उनसे बच निकलने का कोई उपाय ही नहीं है। इसके बाद हम अपनी-अपनी राह पर निकल गए। पर मुझे उससे मिलकर बड़ा अच्छा लगा।

उस साल नवम्बर तक मैं उससे मिल नहीं पाया क्योंकि मैं एक दूसरे स्कूल में पढ़ाने लगा था। एक दिन मैं कैम्ब्रिज में एक सड़क पर जा रहा था कि वह मुझे अचानक मिली। उसने भी मुझे देखा और दौड़ते हुए बढ़ आई। मैं उसके ठीक सामने आ खड़ा होने और यह जानने की माँग करने का इन्तज़ार करने लगा कि मैं भला वहाँ क्या कर रहा हूँ। पर रुकने के बदले वह पास आ कुछ यों उछली कि मुझे उसे अपने हाथों में उठा लेना पड़ा। मैं आश्चर्य और आनन्द से भर उठा। वह

जान गई थी। अगले पल मैंने उसे नीचे उतारा और हम दोनों वहीं खड़े एक दूसरे को पुलकित हो निहारते रहे। कहने को हमारे पास विशेष कुछ नहीं था। स्कूल कैसा चल रहा है, ठीक-ठाक, नया स्कूल कैसा है, अच्छा है? तब हमने विदा ली और अपनी-अपनी राह पकड़ी। उसके बाद जब मैं उससे मिला तो वह ऐसी भावनाएँ प्रदर्शित करने के लिए बहुत बड़ी हो चुकी थी, अगर ऐसी भावनाएँ उसमें बची होतीं, तो।

पिछली गर्मियों में मैंने उसे फिर देखा, अब वह 31 वर्षीया विवाहित महिला है। मैंने उसे बताया कि वह कक्षा में मेरी सबसे चहेती छात्रा थी। वह चकित रह गई। उसका वयस्क मन उस क्षण वह बात भी भूल चुका था, जो एक दस वर्षीय बच्ची ने सहज ही पहचानी थी।

□ जून 3 1959

मैंने गणित की वार्षिक परीक्षा की उत्तर-पुस्तिकाएँ जाँच ली हैं। परिणाम पिछले सप्ताह जैसे निराशाजनक नहीं हैं। कई बच्चों ने पहले से बेहतर किया है। पर एक अपवाद सुझाता है कि अभ्यास हमेशा उतना सहायक नहीं होता, जितना लोग उसे मानते हैं। कैरोलीन ने अपनी पहली परीक्षा तब दी जब वह दो सप्ताह तक कहीं बाहर रहकर लौटी थी। यही कारण था कि जब पुनरावलोकन का काम हो रहा था तो वह अनुपस्थित थी। उसने उस परीक्षा में 25 में से 15 नम्बर पाकर मुझे हैरत में डाल दिया था। पर आज उसके ठीक एक सप्ताह बाद, पूरे सप्ताह पुनरावलोकन करते रहने के बाद, उसे सिर्फ 7 नम्बर मिले हैं। लगता है वह स्कूल के बनिस्बत स्कूल के बाहर रहकर ही अधिक सीखती है।

इस बात ने मुझे उस समय सचमुच चौंकाया था पर आज मैं इसे आश्चर्यजनक नहीं पाता। अधिकांश बच्चे स्कूल के बजाए स्कूल के बाहर कहीं अधिक सीखते हैं, यहाँ तक कि स्कूली काम भी। जैसा मैंने टीच यॉर ओन में कहा है कि जब बच्चे बीमारी या चोट के कारण स्कूल नहीं आ सकते, उनके घर पर शिक्षक भेजे जाते हैं, ताकि वे कक्षा

के दूसरे साथियों से पिछड़ न जाएँ। अधिकांश स्थानों पर यह व्यवस्था सप्ताह में कुल दो या तीन घंटों की ही होती है और कहीं-कहीं तो इससे भी कम होती है। पर इतना ही काफी होता है। बच्चे न केवल अपने सहपाठियों से पिछड़ने से बच जाते हैं, बल्कि कई तो उनसे आगे तक निकल जाते हैं। यह इसलिए होता है क्योंकि तब उनके पास दिन भर में जो कुछ वे पढ़ना चाहें, उसका समय होता है। और फिर पढ़ाई व मर्जी के कामों के बीच अन्तहीन, औपचारिक, निरर्थक, स्कूली दिनचर्या भी नहीं होती।

जिन्हें कम नम्बर मिले हैं, उन्हें देखकर मुझे अपने आप पर, परीक्षा लेने पर ही क्रोध आ रहा है। अच्छे बच्चों को इसकी ज़रूरत थी ही नहीं। और जो कमजोर हैं, उनका साल भर में अर्जित आत्मविश्वास व सहज विवेक तक इस महीने भर की तैयारी और पुनरावलोकन के दौरान उनसे छिन गया। आज मॉनिका को आँसुओं से भरा पाया। उसमें तो इतना साहस तक नहीं बचा था कि वह सवाल को हल करने की चेष्टा भी करती। मुझे लगा कि मैंने उसे गहरी चोट पहुँचाई है।

यह तो सच है कि जिस तरह की मुक्त कक्षा मैं पिछली पतझड़ से चला रहा था, उसमें सुधार की गुंजाइश थी। पर फिर भी मैं इतना तो देख ही रहा था कि बच्चे सोच और सीख रहे हैं अथवा उनका अपनी लियाकत पर विश्वास बढ़ रहा है। बेन एक अन्धे उत्पादक से एक ठोस कल्पनाशील विचारक में बदल रहा था। पर अब वह फिर से रटन्त विधि के द्वारा उत्पादन की सबसे घटिया रणनीति पर उतर आया है। आखिर यह परीक्षाओं का लफड़ा है क्या? क्या लोग अपना जीवन गणित की ऐसी परीक्षाएँ देते गुज़ारते हैं जहाँ उन्हें दूसरों से पर्चा जल्दी करने की नसीहत मिलती रहे। हम आखिर हासिल क्या करना चाहते हैं? हमें मेधावी छात्र तैयार करने हैं या अच्छे परीक्षार्थी?

सवाल का उत्तर ढूँढना कठिन नहीं था। स्कूल तो निश्चित रूप से अच्छे परीक्षार्थी ही चाहते थे। इससे अधिक महत्वपूर्ण उनके लिए दूसरा कुछ था ही नहीं।

एक वृद्ध मशीनमैन की याद आती है जो एक पुरानी प्रशिक्षण पनडुब्बी में बैठा उसके घिसे-पिटे इंजनों को झाड़-पोंछकर निरीक्षण के लिए चमक रहा था। उसने कडुवाहट से भरकर शिकायत की “ये इंजन चमक तो रहे हैं ना? इसकी किसे परवाह है कि ये काम भी करते हैं या नहीं!”

कोई तरीका होगा, इन छोटे बच्चों में निहित मानवीय गुणों को विकसित करने का। पर वह तब तक अपनाया नहीं जा सकता जब तक हम परीक्षाओं से अभिभूत रहेंगे। शिक्षकों की बैठकों में हम अपनी कक्षा के विचारकों को पुरस्कृत करने की बात करते हैं। पर कौन किसे छल रहा है? छोटे समूहों के चिन्तन सत्रों से मिले पुरस्कार या सन्तोष क्या उस क्षति को मिटा सकते हैं जो आज मॉनिका को वार्षिक परीक्षा के पर्चे के सामने बैठ झेलनी पड़ी? वह तो पर्चे को देखते ही समझ गई थी कि उसे कर नहीं पाएगी, वह फेल ही होगी। चन्द सुखद अनुभव कड़वे अनुभवों के डंक को मिटा थोड़े देते हैं। कोई बच्चा अगर आग से एक बार बुरी तरह जला हो तो फिर कभी जलने को तैयार कैसे होगा, चाहे कितने ही लुभावने पुरस्कार का लालच हम उसे देना चाहें। हमारी तमाम बातों व नेक इरादों के बावजूद स्कूलों में इनाम कम और डंडे ही ज़्यादा होते हैं। जब तक यह स्थिति बरकरार रहेगी, बच्चे ऐसी रणनीतियाँ अख्तियार करते चलेंगे जिनका लक्ष्य केवल कठिनाइयों से बचाव हो। हम यह अपेक्षा क्योंकर रखते हैं कि बच्चे उत्साह व चेतना समेत उस जीवन में पूरा सहभागित्व निभाएँ जो “सही उत्तरों” की पवित्र वेदी के इर्द-गिर्द घूमता हो।

□ मार्च 8, 1960

उस दिन, एक महिला ने स्कूली व्यवस्था की कमियों पर एक टिप्पणी कर मेरे लिए वह कह दिया जिसे मैं चाहकर भी कह नहीं पाया था। पिछली छुट्टियों में मैं एक स्कूल में गया, जिसका सत्र तब तक समाप्त नहीं हुआ था। स्कूल एक “अच्छे” और “सख्त” स्कूल के रूप में जाना जाता था। वहाँ की प्रधानाध्यापिका एक भली महिला थीं। उन्होंने मुझसे पूछा कि

232 बच्चे असफल कैसे होते हैं

मैं कहाँ पढ़ाता हूँ। मेरे जवाब को सुनकर वे कृत्रिम नम्रता से बोलीं, “मुझे लगता है आपको हमारा स्कूल काफी पुरातनपंथी लगेगा।” फिर भी उन्होंने मेरा स्वागत किया और कहा कि मैं उनकी चौथी की गणित शिक्षिका की कक्षा जाकर देखूँ। शिक्षिका कई सालों से स्कूल में कार्यरत थीं और उनके बारे में आम राय थी कि वे शिक्षिकाओं में एक अनमोल रतन हैं। स्कूल भी उन पर नाज़ करता था। मेरे पहुँचने के साथ ही कक्षा भी शुरू हो गई। बच्चों ने कुछ गुणा के सवाल किए थे और उस समय वे जाँचे हुए पर्चों में से अपने उत्तर पढ़ रहे थे। सब कुछ सही चल रहा था। एक बच्चे ने अपना उत्तर पढ़कर सुनाया ही था कि दूसरे ने हाथ खड़ा कर दिया। “क्या बात है जिमी?” शिक्षिका ने अपनी आवाज़ सायास सन्तुलित करते हुए कहा। उनकी आवाज़ ही साफ कह रही थी कि उन्हें ठीक उस वक्त बच्चे का टोकना पसन्द नहीं आया था। “पर मेरा तो यह उत्तर नहीं आया है,” जिमी ने कहा, “मेरा तो ...” वह आगे कुछ कहता इसके पहले ही शिक्षिका ने कहा, “जिमी, यह तो तय है कि हम सबको गलत उत्तर नहीं सुनने हैं।” सहमा हुआ जिमी आगे कुछ न कह सका।

यह शिक्षिका अधिकतर शिक्षकों से मेधा, शिक्षा व अनुभव में कहीं आगे हैं। वे मुखर हैं, सुसंस्कृत हैं, अच्छी शिक्षा-दीक्षा पाई है उन्होंने। उनके पति एक कॉलेज के प्रोफेसर हैं। पर अपने पढ़ाने के बीस वर्ष के अनुभव के दौरान उन्हें कभी यह नहीं सूझा कि अगर वे कभी-कभार पल-भर को रुककर जिमी जैसे असफल छात्रों के गलत उत्तरों को सुन लें तो शायद वे बच्चों की सोच को बेहतर पहचान सकेंगी। यह जान सकेंगी कि वह क्या है जो उनके उत्तरों को गलत बनाता है। फिर किस वजह से वे “अच्छी”, शिक्षिका कहलाती हैं? लगता है उनमें जिस गुण की प्रशंसा की जाती है वह है बच्चों को अनायास नियंत्रित करने की कला, जिसमें वे माहिर हैं। सम्भव है जिमी तक उन्हें एक बेहतरीन शिक्षिका मानता हो। क्योंकि ऐसे बच्चों को यह कभी नहीं सूझता कि उनके द्वारा गणित नहीं समझ पाने का दोष उनकी भली शिक्षिका पर भी लगाया जा सकता है। ना, यह तो उन्हीं की गलती है कि वे इतने बेवकूफ हैं।

कई दुखदाई वर्षों बाद मैं यह जान पाया कि ऐसी शिक्षिका किस कदर ठेठ शिक्षिका है।

अगर हम उन गलत उत्तरों को देखने की ज़हमत उठाते तो शायद यह पाते कि वे “गलत” नहीं, बल्कि पूरी तरह तर्कसम्मत हैं। वरमॉन्ट की एक युवती ने कुछ दिनों पहले मुझे एक पत्र लिखा। उसने एक दिन अपनी गणित की कक्षा को उनकी पाठ्यपुस्तक का एक सवाल करने को दिया। सवाल था, “किसी घर की एक खिड़की को रँगने के लिए 1 डिब्बे रंग की ज़रूरत पड़ती है, तो बताओ कितने आधे डिब्बे की ज़रूरत पड़ी?” जब उनके एक छात्र ने उत्तर “एक” बताया तो उसने पूछा कि उसे उत्तर कैसे मिला। बच्चे का कहना था, “एक डिब्बा तो पूरा है, और एक ही तो आधा है।” इसमें गलत क्या है? ठीक यही बात तो हम वास्तविक जीवन में भी कहते। पर अधिकांश शिक्षक और जाँचने वाली सभी मशीनें इस उत्तर को गलत ही करारते।

□ अप्रैल 17, 1960

ये पहली कक्षा के बच्चे उस “गिलिनाम पद्धति” से पढ़ना सीख रहे हैं जिसे बेहद प्रभावी और सिलसिलेवार माना जाता है। तरीका माँग करता है कि बच्चे स्वर और व्यंजन में भेद करना बता सकें। पर बच्चों को साफ-साफ यह बताने के बदले कि हम कुछ अक्षरों को स्वर और कुछ को व्यंजन का नाम देते हैं, यह तरीका उन्हें परिभाषा के माध्यम से यह अन्तर करना सिखाता है। अन्तर पहचानने का यह उपाय ही घटिया है। फिर चाहे कोई परिभाषा कितनी ही स्पष्ट और अच्छी क्यों न हो। बच्चों की शिक्षिका कहती है, “व्यंजन एक कटी हुई आवाज़ है, जिसे निकालते समय वाक् तंतुओं का उपयोग नहीं होता।” अपेक्षा यह रखी जाती है कि बच्चे इस परिभाषा को रट लें, याद से उसे दोहराएँ और तब उसके उदाहरण दें। बच्चे चकराए हुए दिखते हैं, पर उनकी परेशानियों की यह शुरूआत मात्र है। इसलिए कि यह परिभाषा (अंग्रेज़ी भाषा के) कई व्यंजनों

के लिए सही है लेकिन कई पर लागू ही नहीं होती जैसे - z, George में g, l, r, n, m, और v। कई दूसरे व्यंजनों के बारे में यह आधा सच है जैसे s, f, sh, ch। कालान्तर में बच्चे यह तो समझ ही लेंगे कि हम कुछ अक्षरों को इसलिए व्यंजन या स्वर कहते हैं, क्योंकि यह नाम उन्हें देना हमने तय किया है। पर तब तक व्यंजन की यह बेतुकी परिभाषा उन्हें परेशान करती रहेगी।

हम बच्चों को ऐसी बातें बताते ही क्यों हैं, जो क्षण भर सोचने की ज़हमत उठाते ही हमें गलत लगने लगें? शायद इसलिए कि स्वरों की पहचान करने के लिए हमें खुद किसी परिभाषा की ज़रूरत ही नहीं होती। इसलिए हमें अपवाद परेशान ही नहीं करते हैं। मैं एक कुत्ते या एक स्वर को देखते ही पहचान सकता हूँ, सो मुझे इससे फर्क ही नहीं पड़ता कि कोई उन्हें किस तरह परिभाषित करता है। पर कई बच्चे नियमों का अन्धानुकरण करते हैं, बिना तथ्यों से उनकी पुष्टि पाए, बिना उन्हें जाँचे। पर इससे भी गहरा कारण यह है कि जब बच्चों से हम कुछ कहते हैं तो यह मानकर चलते हैं कि जो कुछ हम कह रहे हैं, उससे कोई अन्तर नहीं पड़ने वाला है, सो हम एहतियात तक नहीं बरतते। बच्चों की बौद्धिक क्षमता को हम किस कदर घटाकर देखते हैं। हम यह नहीं जानते कि कम से कम शुरू-शुरू में वे जो कुछ भी सुनते हैं उसके बारे में कितना सोचते हैं, उसका अर्थ निकालने की कोशिश करते हैं। और जब ऐसा नहीं होता तो वे भ्रमित हो जाते हैं, परेशान होते हैं, डर जाते हैं।

जब बच्चों को यों पढ़ाया जाता है तो वे भी अजीबोगरीब तिकड़में लगाया करते हैं। एक बच्चा, जो अच्छा छात्र था, एक सवाल हल कर रहा था। सवाल था, "अगर तुम्हारे पास 6 जग हैं और हरेक में तुम्हें 2/3 लीटर शिकंजी डालनी है तो बताओ कुल कितने लीटर शिकंजी की ज़रूरत होगी?" उसका उत्तर आया, 18 लीटर शिकंजी। मैंने पूछा, "हरेक जग में कितनी शिकंजी डालनी है?" "दो तिहाई लीटर।" मैंने आगे पूछा, "दो तिहाई लीटर एक लीटर से अधिक होता है या कम?" "कम।" मैंने पूछा, "जग कितने हैं?" "छह।" मैंने कहा, "फिर तो तुम्हारा उत्तर सही

नहीं लगता।" उसने कँधे उचकाए और कहा, "पर जो तरीका था, उससे तो यही जवाब आता है।" यही तो बात है। इस बच्चे ने जाने कब से स्कूल से समझदारी की, विवेक की अपेक्षा रखना ही बन्द कर दिया था। शिक्षकों का काम है कि वे तथ्य और नियम बताएँ और छात्रों का काम है उन्हें वैसे ही लिखते जाना, जैसे-जैसे शिक्षक बताते चलें। उसका अर्थ समझ में आए या नहीं, इससे किसी का सरोकार रहता ही कहाँ है।

मैंने अपने मित्रों से शिकंजीवाले बच्चे की चर्चा की, यह बताने के लिए कि मैं शिक्षण-पद्धतियों पर आपत्ति क्यों करता हूँ। उनका मानना था कि वह बच्चा ही असामान्य रहा होगा, क्योंकि अधिकांश बच्चे स्कूल को विवेकपूर्ण व जीवन से जुड़ा हुआ ही पाते हैं। इसके दस ही मिनट बाद उनके घर के पिछवाड़े उनकी बेटी से मेरी बात हुई, जो उस समय दूसरी कक्षा में पढ़ती थी -

"आजकल स्कूल कैसा चल रहा है?"

"ठीक-ठाक।"

"किस तरह के काम कर रही हो अब?" (मैं यह सवाल अब किसी से नहीं पूछता।)

कुछ पल रुकने के बाद, "गॉन और वेंट जैसी चीजों के अन्तर जैसे काम।"

"अच्छा, बताना तो भई सही क्या है - आई हैव गॉन टू द मूवीज़ अथवा आई हैव वेंट टू द मूवीज़?"

विचार का एक लम्बा अन्तराल। तब, "मुझे नहीं पता, जब तक वाक्य बोर्ड पर नहीं लिखा जाए मेरी समझ में नहीं आता।"

हम दोनों ही इस बात पर हँस दिए।

बाद में उसके माता-पिता को बच्ची से कुछ न कहने की कसम दिलाकर (मैं यह जानता था कि उन पर भरोसा किया जा सकता है) मैंने उन्हें यह कहानी सुनाई। उन्होंने दुखी होते हुए कहा कि वे मेरी बात कुछ-कुछ समझ पा रहे हैं।

दूसरी कक्षा के बच्चों से, जिन्हें गिलिनाम पद्धति से ध्वनियों के बारे में पढ़ाया जा चुका था, उनकी शिक्षिका ने पूछा, "Potomac किस अक्षर से शुरू होता है?" उनके सामूहिक अनुमान में p, t, v और कई दूसरे अक्षर भी थे। सभी बच्चे एक-दूसरे से या शिक्षिका से सुराग पा लेना चाहते थे। केवल कुछ ही बच्चे ऐसे होंगे जो वास्तव में जवाब जानते थे। इन बच्चों के आत्मविश्वास और हमेशा सही होने की प्रसिद्धि के कारण कुछ देर में बाकी बच्चे भी p कहने लगे। शिक्षिका काफी सन्तुष्ट दिखी। कुछ देर बाद उन्होंने नक्शे की ओर इशारा करके पूछा, "अगर तुम्हें हवाई जहाज से पूर्व दिशा में उड़ना हो तो किस ओर जाओगे?" हर ओर हाथ लहराने लगे और तब नीचे हो गए, जब सबको सफल छात्र और शिक्षिका के चेहरे पर खेलते प्रोत्साहन के भाव से सुराग मिल गया।

कुछ देर बाद संगीत की कक्षा में बच्चों से कहा गया कि वे c स्वर सुनते ही झुककर अपने पैरों की उँगलियाँ छुएँ। शिक्षिका ने तब एक कवायद की धुन बजाई। बच्चे एक घेरे में चल रहे थे। जब भी वे c स्वर पर पहुँचती। वे कुछ देर रुकतीं। जाहिर था कि बच्चे उनके रुकते ही झुकते। पर यह भी तय था कि अगर वे c स्वर के बदले किसी दूसरे स्वर रुकतीं तो भी बच्चे झुककर पैर छूते। और अगर वे c बजाते समय नहीं रुकतीं तो बच्चे उसे पहचानते भी नहीं। पर यह शिक्षिका सोच रही थी कि वे बच्चों को c स्वर पहचानना सिखा रही हैं। यह सब वे पिछले दस या बीस सालों से हमारे एक "श्रेष्ठ" स्कूल में करती चली आ रही हैं।

यह एक दूसरे अर्थ में भी स्कूली सोच का ठेठ उदाहरण है। शिक्षक यह समझ ही नहीं पाते कि बच्चों को सीखना पसन्द आ भी सकता है। वे मानते हैं कि सीखना पीड़ादायक है, इसीलिए वे हरेक छोटे से काम जैसे c स्वर की पहचान को केन्द्र में रखकर इतना बड़ा खेल उसके इर्द-गिर्द रच लेते हैं। शिक्षकों की पत्रिकाओं में भी तमाम ऐसे सुझावों की भरमार होती है। इन खेलों की व्यवस्था करने और उन्हें करवाने में काफी समय नष्ट होता है। बच्चों का पूरा दिन ही ऐसी गतिविधियों से भर जाता है। पर इतना ही नहीं होता। ये गतिविधियाँ

सीखने की परिस्थिति को भी पेचीदा और भ्रान्तिमय बनाती हैं। इलेक्ट्रॉनिक शब्दावली में कहें तो इनके शोर में सारे के सारे संकेत ही दब जाते हैं। इस कक्षा के बच्चों के लिए गतिविधियों का ध्येय क्या था भला? कमरे में कवायद करना? पैर छूना? या संगीत सुनना? वे अपने काम में मन कैसे लगाएँ, जब उन्हें यह पता ही न हो कि करना क्या है?

सही या गलत की स्थिति में फँसने पर बच्चे स्वाभाविक रूप से हर सम्भव सुराग पकड़ने की चेष्टा करते हैं। हम शिक्षकों को ऐसे सवाल उठाने होंगे, जिससे हर आलतू-फालतू इशारा उन्हें सही उत्तर तक न पहुँचा दे। हमें सीखना होगा कि कब हमारे चेहरे और दिमाग पढ़े जा रहे हैं, ताकि हम उनके संकेतों को बदल सकें। इससे भी ज़रूरी है बच्चों को उनकी रणनीतियों के बारे में सचेत करना। उन तरीकों के बारे में बताना होगा जिनसे वे सोचने-विचारने का अपना काम हमसे करवाते रहते हैं। किसी समस्या पर काम कर रहे बच्चों से मैं अक्सर पूछता हूँ, "तुम मेरी ओर क्यों ताक रहे हो? उत्तर मेरे माथे पर नहीं उभरने वाला है।" जो बच्चे ऐसा कर रहे होते हैं वे सचेत होते ही हँस पड़ते हैं। पर अच्छा होता कि मैं उनकी ओर से मुँह फेर पाता ताकि वे चेहरा देख ही नहीं पाएँ।

जब कोई बच्चा किसी अवैध तरीके से सही उत्तर पाता है और उसे जानने का श्रेय मिल जाता है जो असल में वह जानता ही नहीं, और जब वह यह भी जानता है कि वह जानता नहीं है, तो इसका दोहरा नुकसान होता है। अब्बल तो वह सीखता ही नहीं है, उसके भ्रम गहराते हैं। वह यह मानने लगता है कि छल-कपट, अनुमान लगाना, मन पढ़ना, इंगितों को पकड़ना व दूसरों से उत्तर पाना ही वह बात है जो उसे स्कूल में करनी है। स्कूल इसी बारे में है। वहाँ दूसरा कुछ सम्भव ही नहीं है।

□ अप्रैल 22, 1960

दूड़ी को 20 + 7 जोड़ना था। उँगलियों पर पूरी संख्या जोड़ी। मैंने सोचा, "लो अब क्या होगा?" मैं हमेशा यही सोचता हूँ कि मैं बच्चों के अज्ञान

की अन्तिम तहों तक पहुँच गया हूँ, पर हमेशा स्वयं को गलत पाता हूँ। एक कोरे पन्ने पर मैंने लिखा : $10 + 3 = ?$ उसने गिनकर बताया 13। मैंने संख्या लिखी। इसके ठीक नीचे मैंने लिखा : $10 + 9 = ?$ जब उसने 19 बताया तो मैंने संख्या लिख डाली। इसके बाद मैंने उसे एक के बाद एक $10 + 4$, $10 + 5$, $10 + 3$, $10 + 6$, $10 + 2$ दिया। हर बार उत्तर पाने के लिए उसे उँगलियों पर गिनना पड़ा। तब मैंने उसे दोबारा $10 + 6$ दिया। उसने फिर से गिनकर "16" कहा। पन्ने को कुछ देर घूरने के बाद उसने कहा, "इसमें तो हमेशा पहले एक और तब जोड़ी हुई संख्या लिखी है।" एक खोज! मैं बहुत खुश हुआ और बोला, "देखें, अरे हाँ, तुमने बिलकुल ठीक कहा।" तब मैंने उसे ऐसे और कई सवाल दिए और फिर $20 + 5$, $20 + 9$, $20 + 6$, $40 + 3$ आदि भी। उसने सभी जोड़ बिना गिने झटपट कर डाले।

जब मैं अपने आपसे और उससे खुश हो चुका, तो मैंने फिर से विचार किया। क्या उसने ऐसा कुछ सीखा भी है जिसका वह दूसरे सन्दर्भों में उपयोग कर सकेगी? क्या उसे लगने लगा है कि अंकों का यह व्यवहार विवेकसम्मत है? या इसे भी उसने महज एक रहस्यमय इत्फाक माना है। उसे यह तर्कसंगत परिणाम लगा है या एक ऐसी विधि जिसे याद करना ज़रूरी है, और जिसे भूलते ही वह लुढ़क जाएगी? क्योंकि अगर ऐसा कुछ है तो वह फिर से उँगलियों पर गिनने की उस स्थिति में ही लौट जाएगी, जो उसे भरोसेमन्द लगता हो। सप्ताह भी नहीं गुज़रा था कि दूड़ी फिर से अपने पुराने ढर्रे पर लौट गई।

मुझे लगता है कि इस बच्ची को कम से कम हजार बार तो यह बताया ही गया होगा कि जब भी 10 में कोई संख्या जोड़ी जाए, तो जवाब 1 के पीछे उसी संख्या को लिखने से मिल जाता है। फिर भी जब उसने यह नियम उस दिन खोजा तो उसका व्यवहार ऐसा था मानो उसने पहले कभी यह सुना या देखा न हो। ऐसे में उसी बात को मेरे दोहरा देने भर से क्या फर्क पड़ने वाला था। जब किसी बच्चे को दसियों बार कुछ करने को कहा जाए और वह उसे फिर भी न करे सके, तो रुक जाना ही वाजिब

है। यह तो ज़ाहिर है कि जो सम्बंध आप उसके दिमाग में बैठाना चाह रहे हैं, वह बैठ ही नहीं रहा है, यानी कोई दूसरा तरीका अपनाना ज़रूरी हो गया है।

मैंने दूड़ी को एक दिन 7 का पहाड़ा लिखने को कहा। उसने हरेक उत्तर उँगलियों पर गिन-गिनकर लिखा, 7×2 भी। उसे यह तो सैकड़ों बार बताया गया होगा कि $7 \times 2 = 14$ होता है और उतनी ही बार उसने यह लिखा भी होगा। शायद वह यह जानती भी होगी। यानी अगर मैं उससे पूछता कि 7×2 कितने होते हैं, तो वह 14 कहती। पर ज्ञान के इस अंश पर उसका भरोसा नहीं है। उसे तो उँगलियों पर गिनना ही भरोसेमन्द लगता है। उसने $6 \times 7 = 42$ तक सब ठीक-ठाक लिखा। तब उससे एक ऐसी गलती हुई जैसी बच्चे अक्सर तब करते हैं जब वे ऊब चुके होते हैं। उसने लिखा $8 \times 7 = 49$ । कोई आत्म-परीक्षक तो वहाँ था नहीं जो कहता, "ज़रा ठहरो, देखो यह मामला तो गड़बड़ लग रहा है।" इसके बाद उसने लिखा : $9 \times 7 = 56$ । इस बार उसने 6 कुछ ऐसे लिखा कि वह शून्य-सा दिख रहा था। उसने अगली बार जोड़ते समय उसे शून्य ही पड़ा। और यों उसे $10 \times 7 = 57$ मिला, $11 \times 7 = 64$ और $12 \times 7 = 72$ । और ये सारी ऊलजलूल बातें लिखते समय मन में उनके प्रति कोई शंका, सन्देह या शिझक का भाव नहीं था। आखिर वह बड़े ध्यान से उँगलियों पर गिनती भी तो कर रही थी। फिर भला गलती की सम्भावना ही कहाँ थी?

मैंने उससे पन्ना ले लिया और उसे फिर से 7 का पहाड़ा लिखने को कहा। इस बार मुझे 7, 14, 21, 28, 36, 43, 50, 57, 64, 71, 78, 85 मिला।

मैंने उसका कागज़ लिया और एक बार फिर से कोशिश करने को कहा। इस बार गलती करते ही मैंने उसे बताया। उसने अपनी भूल सुधारी और मुझे सही पहाड़ा लिखकर दे दिया।

तब मेरे मन में एक विचार आया, जो उस समय मुझे बेहद अच्छा लगा था। मैंने सोचा कि अगर मैं, उसने जो कुछ लिखा था, उस पर उसे

सोचने दूँ तो वह समझ लेगी कि उसके कौन से उत्तर तार्किक हैं। और शायद तब गलती पकड़ने की और बकवास को छाँटने की प्रक्रिया भी उसके दिमाग में शुरू हो सकेगी। मैंने उसे उसके तीनों पन्ने पकड़ा दिए और कहा कि तीनों में अन्तर है। सो वह उनकी तुलना कर ले और जो उत्तर उसे सही लगे उसके सामने (✓) का निशान बना दे और जो गलत लगे उसके सामने (x) का। और जब वह सही-गलत का निर्णय न ले पाए तो वहाँ एक सवालिया निशान (?) बना दे।

इसके कुछ पल बाद ही मुझे अपने शैक्षिक जीवन का सबसे अप्रिय अनुभव हुआ। उसने वह पर्चा जिसमें पहाड़ा सही लिखा था, मुझे लौटाया। इसमें 7×1 के आगे तो सही का निशान था पर दूसरे सभी उत्तरों के सामने गलत का निशान बना हुआ था।

बेचारी बच्ची! वह तो स्कूल द्वारा पूरी तरह परास्त, पूरी तरह से ध्वस्त हो चुकी थी। सवालों के अर्थहीन अभ्यास, स्पष्टीकरण और परीक्षाओं के उस सिलसिले ने जिसे हम “शिक्षा” कहते हैं, उसे सिवाए उसकी सामान्य बुद्धि के विनाश के कुछ नहीं दिया था। पाँच साल तक गणित से जूझने और उसे झेलने के बाद उसके पास दिखाने को क्या था? वह किस तरह की वयस्क बनेगी? जिस दुनिया में उसे रहना है उसका क्या अर्थ समझेगी? अपने मन में अपनी सुरक्षा के लिए भ्रमों का कैसा किला गढ़ेगी?

लगता तो यह है कि अगर उसे गणित न पढ़ाया गया होता तो उसके लिए वही हर तरह से बेहतर होता। गणित ने उसके लिए स्कूल तक को एक पीड़ादायक और खतरनाक जगह बना डाला है। वह उससे बच निकलने और आत्मरक्षा के उपाय सोचने में इस कदर व्यस्त रहती है कि न तो वह कुछ सीख ही सकती है, न ही जो कुछ उसने सीखा है, उसे काम में ले सकती है।

इक्कीस वर्षों बाद, आज भी मुझे इस बात से तकलीफ होती है और मेरा क्रोध भड़क उठता है कि स्कूलों और जन सामान्य ने ऐसी घटनाओं से, जिन्हें हम इस देश की तमाम कक्षाओं के हजारों-लाखों उदाहरणों से गुणा कर सकते हैं, प्रायः कुछ भी नहीं सीखा है। सच में इस बच्ची

को स्कूल ने बिल्कुल पस्त कर दिया था। पूरी तरह से नष्ट कर दिया था। शायद केवल स्कूल ने नहीं, शायद पहले पहल स्कूल ने यह नहीं भी किया हो। पर जो कुछ उसके साथ स्कूल के बाहर हुआ होगा, उस सबको स्कूल ने निश्चित रूप से बदतर बनाया।

मान लीजिए कि मैं उससे कहता, “जितना चाहो समय लो और जो चाहो वही करो, बस उसके बाद आकर मुझे यह बताओ कि दो सत्ते क्या होता है। पर हाँ, जो बताओ उसे पूरी तरह जाँचकर, परखकर, सही लगने पर ही बताना।” तो क्या वह यह कर लेती? तय है कि वह यह नहीं कर पाती। उसका अंकों पर, भौतिक दुनिया पर, अपने आप पर, स्कूलों पर या मुझ पर कोई भरोसा नहीं था। वह कैसे मान लेती कि अगर वह सच में उस दिशा में काम करने लगती है, यह सुनिश्चित कर लेती है कि $7 \times 2 = 14$ होते हैं, तो मैं उसे कोई दूसरा और पेचीदा सवाल इस तथ्य को गलत सिद्ध करने के लिए या उसे बेवकूफ बनाने के लिए नहीं दे डालूँगा। एक ही चीज़ उसने स्कूल में सीखी थी और बाकायदा सीखी थी। वही बात जो विन्स्टन चर्चिल ने कही थी, कि शिक्षकों के सवाल यह जानने के लिए थोड़े ही होते हैं कि आप क्या जानते हैं। वे तो होते ही यह जानने के लिए हैं कि आप क्या कुछ नहीं जानते और आपके आसपास के सभी लोगों में यह ढिंढोरा पीटने के लिए होते हैं। शिक्षकों के सवाल उनकी परीक्षाओं की तरह ही सिर्फ फँदे होते हैं। उनकी गिरफ्त में टूटी हजारों बार आ चुकी थी और हर बार उसने पटकनी खाई थी। पर अब वह उस जाल में फँसने वाली नहीं थी। मेरे द्वारा भी नहीं। मैं शायद दूसरे शिक्षकों से कुछ अच्छा था, गलती होने पर डाँटता-फटकारता नहीं था, पर था तो मैं भी दूसरों की ही तरह एक शिक्षक।

अगर उसे अपनी तरह से जानने और पनपने दिया जाता तो सम्भव था कि अंकों से भरी इस दुनिया में जीते-जीते वह संख्याओं और उनकी संक्रियाओं के बारे में स्कूल के बनिस्बत कहीं अधिक सीख लेती और अगर दस वर्ष की उम्र तक भी उसने इस बारे में कुछ भी न सीखा

होता — जो शायद असम्भव था — तो भी उसका हाल बेहतर ही होता। कम से कम उसके दिमाग में झूठे “तथ्यों”, निरर्थक और विकृत नियमों, पीड़ा व भ्रम का कबाड़ा तो नहीं भरा होता। कम से कम तब ज़रूरत पड़ने पर उसे अंकों का कोई अर्थ निकालने का मौका तो मिला होता।

□ अप्रैल 27, 1960

प्राथमिक शाला से लेकर उच्च माध्यमिक शाला तक के हम सभी शिक्षक यह सिद्ध करने में पूरे दमखम के साथ जुटे रहते हैं कि हमारे छात्र असल में जितना जानते हैं, उससे कहीं अधिक जानते हैं। आखिरकार हम सबका दूसरे शिक्षकों के बीच रूतबा और हमारे स्कूलों का दूसरे स्कूलों के बीच रूतबा इस बात पर ही तो निर्भर करता है कि हमारे छात्र कितना जानने का आभास दे पाते हैं। इस बात पर नहीं कि वे असल में कितना जानते हैं, न ही इस बात पर कि वे जो जानते हैं उसका इस्तेमाल कर भी पाते हैं या नहीं। जितनी ज्यादा सामग्री हम अपने पाठ्यक्रम, पाठ्य-विवरण और पाठ्यचर्चा में “कवर” कर पाते हैं उतनी ही हमारी छवि बेहतर बनती है। तब यह दिखाना भी आसान हो जाता है कि हमारी कक्षा छोड़ते समय हमारे छात्र वह सब जान चुके थे जो उन्हें “जान लेना चाहिए था”। ताकि अगर बाद में यह ज़ाहिर भी हो जाए (और यह अक्सर होता है) कि जितना उन्हें जानना चाहिए उतना उन्होंने सीखा ही नहीं है, तो हम आसानी से इस दोष से स्वयं का बचाव कर सकें।

जब मैं अपने स्कूल की आखिरी कक्षा में था तो हम सभी सीनियर छात्र कॉलेज-बोर्ड की परीक्षाओं की तैयारी में, रटने के लिए करीब एक सप्ताह अधिक रुके थे। प्राचीन इतिहास के हमारे शिक्षक ने अपने लम्बे अनुभव के आधार पर हमें पन्द्रह विषयों की एक सूची इस सलाह के साथ दी कि हमें उन विषयों पर बीसेक मिनट लिखने का मसाला जुटा लेना चाहिए। हमने सूची पढ़ी और सलाह मानना ही उचित समझा। अगर हमने उनकी सलाह नहीं मानी होती तो हम उस कॉलेज में दाखिला ही

नहीं पाते। बोर्ड परीक्षाएँ होने पर हमने पाया कि उनकी सूची के आधार पर हम पर्चे के आठ सवाल आसानी से कर सकते थे। सो हमें प्राचीन इतिहास के बारे में ऐसा बहुत कुछ जानने का श्रेय मिल सका, जो असल में हम जानते ही नहीं थे। और शिक्षक महोदय को एक बेहतरीन अध्यापक होने का श्रेय मिला, जो वे थे नहीं। हमारे स्कूल को यह प्रसिद्धि मिली कि जिस किसी को बढ़िया कॉलेज में दाखिला चाहिए, उसे वहीं पढ़ने जाना चाहिए। पर सच्चाई तो यह थी कि मैं प्राचीन इतिहास के बारे में बहुत कम जानता था और तभी से मुझे इतिहास से चिढ़ हो गई थी, जो सालों तक बनी रही। मैं उसे एक निरर्थक और समय बर्बाद करने वाला विषय ही मानता रहा। अगर तब दो ही महीनों के बाद फिर से कॉलेज बोर्ड की परीक्षा होती और पर्चा भी उससे कहीं आसान दिया जाता, तो मैं उसमें फेल ही होता। पर परवाह किसे थी?

यह खेल मैंने भी खेला है। जब मैंने पढ़ाना शुरू किया तो मैं अनजाने ही यह मानता था कि परीक्षा का अर्थ सच में यह जाँचना, यह पता करना होता है कि छात्र अपने पाठ्यक्रम के बारे में क्या और कितना जानते हैं। पर यह पहचानने में मुझे बहुत समय नहीं लगा कि अगर मैं बिना बताए कोई परीक्षा ले डालूँ, ऐसी परीक्षा जो पूरे पाठ्यक्रम से सम्बंधित हो, तो मेरी कक्षा का हरेक बच्चा असफल रहे। पर इससे हासिल क्या होगा — बस मेरी छवि बिगड़ेगी और स्कूल के लिए नई मुसीबतें पैदा होंगी। मैंने यह जल्दी ही सीख लिया कि छात्रों की कुल संख्या का एक सम्मानजनक प्रतिशत परीक्षा में अच्छे नम्बर लाए या केवल पास हो सके, उसका एक ही उपाय है — परीक्षाओं की पूर्व घोषणा, परीक्षा में आने वाले पाठों की सविस्तार चर्चा और जिस तरह के सवाल पूछे जाने हैं उनका पर्याप्त अभ्यास, जिसे हम शिष्टतावश पुनरावलोकन का नाम देते हैं। मुझे बाद में यह भी पता चला कि सभी शिक्षक ठीक यही करते हैं। यह हम जानते हैं कि जो कुछ हम करते हैं, वह बेईमानी है, पर इसे रोकने वाले पहले व्यक्ति के रूप में आगे बढ़ने की हिम्मत हममें नहीं है। हम अपनी कैफियत दे, स्वयं को दोषमुक्त करने के लिए कहते हैं कि

आखिर इस सबसे कोई खास नुकसान भी तो नहीं होता। पर यहीं हम गलत हैं, क्योंकि इससे भारी नुकसान होता है।

हानिकारक तो यह सब है ही। अब्वल तो इसलिए क्योंकि यह सरासर बेईमानी है और छात्र भी इसे बखूबी पहचानते हैं। बोर्ड परीक्षाओं के लिए इतिहास के पाठ्यक्रम को सरसरी नज़र से देख जाते समय मेरे साथियों को और मुझे पता था कि एक छलावा हो रहा है पर हम यह नहीं समझ पा रहे थे कि छला असल में किसे जा रहा है। बोर्ड परीक्षाओं में जो हमारी सफलता थी, वह प्राचीन इतिहास के हमारे ज्ञान के बदौलत नहीं थी, क्योंकि वह ज्ञान तो था ही बड़ा छिछला। हमारी सफलता हमारे इतिहास शिक्षक के अनुमान लगा पाने के कौशल की बदौलत थी, जिसमें वे सचमुच माहिर थे। पर हमारी जो उम्र थी उससे कहीं छोटे बच्चे भी यह भाँप और सीख लेते हैं कि शिक्षक असल में जो चाहते हैं, जिसे पुरस्कृत करते हैं, वह ज्ञान या समझ नहीं है, बल्कि उसका आभास मात्र है। जो बच्चे सचमुच मेधावी और कुशल होते हैं वे भी स्कूल को एक छल के रूप में देखते हैं। यह वे बाकायदा सीखते हैं। वे अपने शिक्षकों की अव्यक्त और अचेतन पसन्दों व पूर्वाग्रहों को सूँघ निकालने में माहिर हो जाते हैं। उनका पूरा फायदा उठाना सीखते हैं। प्राथमिक शाला में हमारे अंग्रेज़ी के शिक्षक ने हमें मैकॉले का लॉर्ड क्लाइव पर लिखा लेख कक्षा में पढ़कर सुनाया था, उससे मैं भाँप गया कि लम्बे-लम्बे पेचीदा वाक्य जिनमें मुख्य क्रिया उनकी अन्त में आती हो, उनकी कमज़ोरी है। इसके बाद हर बार मैं कम से कम एक ऐसा ही वाक्य उनके लिए बनाता रहा और यों मैंने सुनिश्चित कर लिया कि मुझे उनके पर्चे में हमेशा अच्छे नम्बर मिलें।

परीक्षा के छलावे से न केवल यही हानि होती है कि बच्चे मानने लगते हैं कि ईमानदार समझ की खोज ही अनावश्यक है, बल्कि जो छात्र इस सबके बावजूद ऐसी ईमानदार खोज में लगे रहते हैं उन्हें भी हतोत्साहित होना पड़ता है। इसलिए कि शिक्षक भी शायद तथ्यों और विधियों के आगे कुछ नहीं जानते। ऐसे शिक्षक उन छात्रों से अधैर्य और नाराज़गी के साथ पेश आते हैं जो केवल यह नहीं जानना चाहते कि क्या हुआ, बल्कि यह

भी कि जो कुछ हुआ वह ठीक वैसे ही क्यों हुआ, किसी दूसरी तरह से क्यों नहीं हुआ। ऐसे सवालों के उत्तर दे पाने के लिए आवश्यक ज्ञान शिक्षकों के पास बिरले ही होता है। और तो और पाठ्यक्रम की तमाम सामग्री के दबाव के सामने इस सबका समय कहाँ रहता है।

संक्षेप में “पहले बताओ और तब परीक्षा लो” शिक्षण-पद्धति हमारे छात्रों को भ्रमित करती है। वे जानते हैं कि उनकी शैक्षिक सफलता एक कमज़ोर नींव पर खड़ी है। वे मानते हैं कि स्कूल एक ऐसी जगह है जहाँ उन्हें निरर्थक विधियों से, निरर्थक सवालों के निरर्थक उत्तर पाने हैं।

□ जुलाई 10, 1960

परीक्षाओं के पक्ष में दो तरह के तर्क प्रस्तुत किए जाते हैं। एक तो यह कि परीक्षा का भय बच्चों को अधिक, यानी बेहतर, काम करने को प्रेरित करता है। दूसरा यह कि परीक्षाएँ शिक्षकों को यह जाँच लेने देती हैं कि बच्चों ने सच में कितना सीखा है। दोनों ही तर्क गलत हैं। जिस सीमा तक बच्चे परीक्षाओं से डरते हैं, उतना ही उनका काम बदतर होता जाता है। उससे न तो यह पता चलता है कि अच्छे छात्र कितना जानते हैं और न ही उन छात्रों का भाँडा फूटता है तो बिल्कुल कुछ नहीं जानते।

एक दिन मैं टूडी और एल्यनॉर के साथ काम कर रहा था। टूडी एक बेहद खराब छात्रा है, अंकों की संक्रियाओं का उसे अतापता तक नहीं है। मैंने बोर्ड पर लिखा :

256

+ 327

तब मैंने सवाल के हर चरण को धीमे-धीमे, ज़ोर से बोलते हुए, किया ताकि उन्हें, जो कुछ कर रहा था, उस पर सोचने का पर्याप्त समय मिले। मुझे उत्तर में 583 मिला, जो मैंने बोर्ड पर लिखा। उस सवाल के ठीक पास मैंने दूसरा सवाल लिखा।

256	256
+ 327	+ 328
<hr/> 583	<hr/>

मैंने कहा, "हमें 256 में फिर कुछ जोड़ना है पर 327 के बदले 328। इस बार सवाल तुम करो।" क्या वे बच्चियाँ जान पाईं कि सवाल में जोड़ी जाने वाली संख्या एक अधिक थी, सो उत्तर भी पिछले उत्तर से एक ही अधिक होगा, यानी 584? नहीं, दोनों कुछ समय तक कागज़ पर काम करती रहीं, तब जानना चाह = 353?

इस पर मैंने एक नया सवाल लिखा और फिर से हरेक चरण किया, जब तक उन्हें भरोसा नहीं हो गया कि उत्तर सही है। तब उसके पास ठीक वही सवाल फिर से लिख डाला यानी, इस बार बोर्ड पर था

245	245
+ 179	+ 179
<hr/> 424	<hr/>

मैंने उनसे सवाल करने को कहा। उन्हें यह नहीं दिखा कि सवाल वही है। काफी देर बाद उन्होंने कहा, "524।"

यही मैंने $88 + 94 = 182$ के साथ दोहराया। कुछ समय बाद उन्हें यह पता चल गया कि सवाल वही है, सो उत्तर भी वही होना चाहिए।

तब मैंने लिखा $2 \times 12 = 24$, $2 \times 13 = ?$ । एल्यनॉर ने तुरन्त कहा, "मुझसे ऐसे पढ़ा नहीं जाता।" जब मैंने सवाल वैसे लिख दिया जैसे पढ़ने की उसे आदत थी तो उसने मुझे सही उत्तर दिया : 26। टूडी ने 68 दिया। उसने मेरा चेहरा पढ़ा और जल्दी से बोली, "एक मिनट रुकिए।" कुछ देर बाद उसने लिखा : 36। मैंने पूछा, उसे उत्तर कैसे मिला? तब वह बोर्ड पर आई। उसने लिखा : $2 \times 12 = 24$, $3 \times 12 = ?$ । उसे पता ही नहीं चला कि उसने सवाल बदल डाला है। तब उसने कहा, "आगे एक चरण और है।" उसने लिखा $2 + 1 = 3$, $4 + 1 = 5$, और

उत्तर लिखा 35। उसने जानना चाहा, "क्या यह सही है?" कुछ देर बाद एल्यनॉर ने मुझे बताया कि $20 + 10 = 29$ होते हैं।

ये बच्चे प्राथमिक शाला के सभी बच्चों की तरह हर साल एक या दो बार परीक्षाओं के सिलसिले से गुज़रते हैं, जिन्हें "उपलब्धि परीक्षाओं" का गलत नाम दिया गया है। ये परीक्षाएँ कई तरह की होती हैं, पर होती सभी निरर्थक ही हैं। सिद्धान्त में वे शिक्षकों व स्कूलों को छात्रों की उपलब्धि (जो कुछ बच्चे स्कूल में पढ़ते हैं, करते हैं उसके वर्णन के लिए यह कैसा शब्द छाँटा गया है!) को आँकने में व उनकी ही उम्र के देशभर के दूसरे छात्रों से तुलना करने में सहायक होती हैं। पर असलियत यह है कि ये परीक्षाएँ एक तरह के फरेब के प्रति बच्चों को प्रेरित करती हैं। शिक्षकों को इन परीक्षाओं के लिए बच्चों को रटाना नहीं चाहिए, पर यही तो वे करते हैं। खासकर उन स्कूलों में जहाँ उच्च प्राप्तांकों पर जोर दिया जाता है, और "उच्च स्तर" को हौवा बनाया जाता है।

ये परीक्षाएँ इस तरह बनाई जाती हैं कि बच्चे को मिले नम्बर उसकी कक्षा के समकक्ष हों। इस हिसाब से एक औसत पाँचवी के विद्यार्थी को लगभग 5.5 नम्बर मिलने चाहिए। जिन भटके हुए व नाउम्मीद बच्चों के साथ मैंने काम किया है उनके नम्बर उनके कुशल साथियों की तुलना में कम आते हैं। फिर भी वे उनसे एक या दो वर्ष से अधिक पिछड़े हुए नहीं दिखते। इस वर्ष की परीक्षाओं के अनुसार मेरे सबसे खराब छात्र के गणित का ज्ञान एक औसत चौथी कक्षा के बच्चे के बराबर रहा है। संक्षेप में, परीक्षाओं के हिसाब से उन छात्रों को जोड़ना, घटाना, स्थानीय मान निकालना, गुणा व भाग करना आता है। पर यह सरासर झूठ है। इन बच्चों को गणित के बारे में कुछ भी नहीं आता। सही अर्थों में देखें तो ये बच्चे उतना भी नहीं जानते जितना एक औसत पहली कक्षा के बच्चे को जानना चाहिए। एक सटीक परीक्षा (अगर ऐसी कोई चीज़ हो सकती है तो वह नापने का ऐसा सटीक औज़ार होगी जो सच में कुछ नापता हो) को काम में लिया जाए तो इन बच्चों का प्राप्तांक एक दशमलव कुछ ही बताएगा, जबकि किसी औसत छात्र को 5.5 अंक मिलने चाहिए।

नहीं, सच्चाई के और निकट, यह कहना होगा कि एक सटीक परीक्षा (अगर ऐसी कोई चीज़ हो सकती है तो) बच्चों के प्राप्तांक को ऋणात्मक संख्याओं में बदल देगी। देश के एक “बेहतरीन” स्कूल में पाँच वर्ष बिताने के बाद वे गणित में (सिर्फ गणित में ही नहीं) उस हाल में आ गए हैं जो उन बच्चों से भी खराब है जो कभी स्कूल में गए ही न हों।

फिर ये ऊँचे नम्बर मिलते कैसे हैं? परीक्षाओं के एक या दो सप्ताह पहले शिक्षक बच्चों को ऐसे सवालों का अभ्यास करवाने लगते हैं, जिस तरह के सवाल परीक्षा में आने वाले हों। जब परीक्षाएँ होती हैं तो ये बच्चे पैवलॉव के कुत्ते की तरह अनुकूलित हो चुकते हैं। वे जब एक निश्चित तरह की संख्याओं और उनके सामने लगाए प्रतीकों को देखते हैं तो उनके दिमाग में मानो बस्तियाँ-सी झपकने लगती हैं, कुछ हलचल होती है और वे रोबॉट की तरह उत्तर पाने की प्रक्रिया को पूरा करते हैं। कम से कम उसके आधे रास्ते तक तो पहुँच ही जाते हैं, ताकि उन्हें कामचलाऊ नम्बर तो मिल ही जाएँ। ऐसा शिक्षकों को नहीं करना चाहिए। पर सभी शिक्षक करते हैं, मैं भी करता था। स्कूल ने मुझसे कुछ क्षमा याचना के से भाव के साथ, पर साफ-साफ कहा, क्योंकि वे इन मसलों पर मेरी भावनाओं से परिचित थे, कि अगर बच्चों के नम्बर अच्छे नहीं आए तो उनके माता-पिता और अभिभावक बखेड़ा करेंगे। और फिर जब इन बच्चों को दूसरे स्कूलों में दाखिला दिलवाने का समय आया तो इन बच्चों को ही दिक्कत होगी। स्कूल तो जैसे हैं वैसे ही चलेंगे पर इन बच्चों को तमाम परेशानियाँ उठानी पड़ेंगी। यानी, उनके अथाह अज्ञान को जग-जाहिर करने से फायदा क्या होगा? सो मैं भी इसी पद्धति को अपनाता रहा। पर क्या अपने बच्चों को शिक्षित करने का यह रास्ता विवेकसम्मत है?

□ दिसम्बर 4, 1960

कुछ समय पहले मैं प्रजातीय रूढ़ छवियों (रेशियल स्टीरियोटाइप्स) पर एक पत्रिका में एक लेख पढ़ रहा था। उसमें कुछ ऐसा था जो ज़हन में

घर कर गया, पर उसका बच्चों के व्यवहार से कोई वास्ता है, यह मुझे हाल ही में समझ आया।

लेखक ने द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान जर्मन यातना-शिविर में कुछ समय बिताया था। लेखक और शिविर के दूसरे बन्दी अपनी जान और मानवीय सम्मान दोनों को बचाने की चेष्टाओं में लगे थे। अपनी लाचार नपुंसकता के बावजूद ये बन्दी अपने शिविर अधिकारियों की माँगों का विरोध करना चाहते थे। फलतः उन्होंने स्थिति से निपटने का एक उपाय ढूँढ़ निकाला, जिसे “शिविर-व्यक्तित्व” का नाम दिया जा सकता है। उन्होंने आज्ञाकारी और विनम्र पर मूढ़ होने का नाटक किया। उनके चेहरों पर हमेशा एक बेवकूफी भरी मुस्कान रहती थी। वे यह दशार्ते मानो जो कुछ कहा जाए, उसे करने को वे आतुर तो हैं पर अक्षम हैं। जब भी कोई निर्देश दिए जाते वे बड़े ध्यान से सुनते, सहमति में सिर हिलाते पर ऐसे सवाल करते जिससे जाहिर यह होता कि वे बात समझे ही नहीं हैं। कुछ समय बाद जब ऐसा करना सम्भव नहीं रहा तो वे, जहाँ तक हो सकता था, कहे का ठीक विपरीत करने लगते या उसे यथासम्भव अकुशलता के साथ करते। यह वे बखूबी जानते थे कि इससे जर्मनी के युद्ध-उपक्रमों में कोई बाधा नहीं पैदा होगी, न ही शिविर व्यवस्था इससे गड़बड़ाएगी। पर यही अकेला उपाय उनके पास उस निराशाजनक स्थिति में अपने सम्मान के एक अंश को बचा लेने का था।

युद्ध के बाद लेखक ने विश्व के विभिन्न भागों में बसी पराधीन कौमों के बीच काफी समय तक काम किया। उन्हें अफ्रीकी उपनिवेशों के “अच्छे काले छोकरे” या अमरीकी “अच्छे हब्बी” के व्यक्तित्व में, युद्ध के दौरान स्वयं द्वारा अपनाए गए “शिविर-व्यक्तित्व” को पहचानने में काफी समय लगा। जब उन्होंने पहले पहल यह साम्य देखा तो वे चौंक उठे। क्या ये लोग भी उनकी ही तरह इस व्यक्तित्व का जामा जानबूझकर ओढ़े थे? उनका विश्वास क्रमशः गहराने लगा कि यही सच्चाई है। पराधीन जातियाँ अपने शासकों को शान्त करने और अपने मानवीय सम्मान को बचाने के प्रयास में एक मुखौटा पहन लेती हैं। वे जानबूझकर और बेवकूफ व

अधिक अकुशल होने का स्वाँग रचती हैं। वे अपने शासकों को अपनी सम्पूर्ण मेधा व क्षमता का लाभ नहीं उठाने देतीं, वे दासत्व में जकड़े शरीरों से अपने दिमाग व आत्मा को मुक्त करार देती हैं।

क्या ऐसा ही कुछ स्कूलों में भी नहीं होता? बच्चे भी तो शासित कौम हैं। स्कूल उनके लिए कारागार ही हैं। क्या वे एक सीमा तक वयस्कों के कभी न शेष होनेवाले दबावों से बचने और उन्हें विफल करने के प्रयास में अपने दिमाग के सबसे मेधावी और रचनात्मक हिस्सों को छुपा नहीं लेते? क्या यह हम से कम एक आंशिक स्पष्टीकरण उस असामान्य बेवकूफी का नहीं है, जिसे बहुत से प्रखर बच्चे स्कूलों में प्रदर्शित करते हैं? अपने शिक्षकों के निर्दोष व स्पष्टीकरणों की प्रतिक्रिया में उनका अड़कर कहना कि “मुझे नहीं सम्भ आया” भला क्या है? क्या यह भय और बचाव के कथन के साथ-साथ विरोध का भी कथन नहीं हो सकता?

श्ले लगता है कि यही सच्चाई है। बच्चे यह सचेत हो, जानबूझकर कहते हैं “नहीं”, यह तो उनकी उम्र और व्यक्तित्व पर निर्भर करता है। पर जब कभी वे ऐसे दबावों का सामना करते हैं जिसका विरोध वे करना तो चाहते हैं पर खुले आम कर नहीं पाते, तो वे जानबूझकर बेवकूफ बन जाते हैं। मैंने तो यह देखा है, अहसास किया है। पर अधिकांश बच्चे यह जानते तक नहीं कि वे क्या कर रहे हैं। वे अपने जेलरों को, शिक्षकों को, अपनी पूरी मेधा नहीं दिखाते। यह शायद वे अपने शिक्षकों को कुंठित करने के लिए उतना नहीं करते जितना इसलिए कि अपनी मेधा का वे अन्यत्र बेहतर इस्तेमाल कर सकते हैं। जीवन जीने की स्वतंत्रता और उसके विषय में सोचने का अधिकार बच्चों के लिए न केवल महत्वपूर्ण है, बल्कि निहायत जरूरी भी। दूसरे उनसे जो अपेक्षाएँ रखते हैं उसे बच्चे केवल एक सीमित समय ही दे सकते हैं। बाकी समय बच्चा अपने लिए चाहता है। अपनी रुचियों, चिन्ताओं और अपने सपनों के लिए। फलतः स्कूल में बिताए घंटों में वह अधिकांश सभ्य पूरी तरह उपस्थित ही नहीं रहता। वह वहाँ होने से डरता है, या वहाँ होना ही नहीं चाहता है। दोनों ही स्थितियों में परिणाम एक-सा होता है। भय, ऊँच व विरोध मिलकर वह बनाते हैं, जिसे हम बेवकूफ बच्चा कहते हैं।

एक बड़ी सीमा तक स्कूल एक ऐसी जगह है जहाँ बच्चे बेवकूफ बनना सीखते हैं, क्योंकि शिशु तो बेवकूफ होते नहीं हैं। यह विचार हताश करता है, पर इससे बचा नहीं जा सकता। एक, दो या तीन साल तक के बच्चे जो कुछ करते हैं उसमें स्वयं को पूरी तरह झोंक देते हैं। वे जीवन का स्वागत करते हैं, उसे निगलना ही चाहते हैं। यही कारण है कि वे इतने कम समय में इतना कुछ सीख लेते हैं, इतने अच्छे साथी होते हैं। उदासीनता, ऊँच, भावशून्यता बाद में आती है। बच्चे स्कूल में जिज्ञासा से भरे आते हैं, पर कुछ ही सालों में उनकी मुखर जिज्ञासा की मौत हो जाती है, या कम से कम वह मौन तो हो ही जाती है। पहली या तीसरी कक्षा को सवाल पूछने दीजिए, सवालों की झड़ी लग जाएगी, बल्कि कहिए बाढ़ ही आ जाएगी। पर पाँचवी के बच्चे चुप्पी साधे रहेंगे। या तो उनके पास सवाल ही नहीं है या फिर वे उन्हें हमेशा पूछना ही नहीं चाहते। वे सोचते हैं, “अब इसका क्या मतलब हुआ? जरूर कहीं कोई पेंच है।” पिछले साल यह सोचकर कि शायद ये बच्चे अपने सवाल शिक्षक या संकोचवश नहीं पूछते, मैंने कक्षा में एक प्रश्न डिब्बा रख दिया। मैंने कहा कि उसमें डाले गए सभी सवालों का उत्तर मैं दूँगा। चार महीनों में मेरे पास एक सवाल आया - “भालू का जीवन काल क्या होता है?” जब मैं भालुओं और दूसरे जानवरों की आयु की बात कर रहा था तो एक बच्चे ने अर्धैर्य से भरकर कहा, “अब आगे बढ़िए भी, मुद्दे पर आइए।” बच्चों के चेहरे के भाव मानो कह रहे थे, “आप हमें यहाँ स्कूल में तो ले आए हैं, अब वह सब भी करवा लीजिए जो आप करवाना चाहते हैं।” जिज्ञासा, सवाल, अनुमान, ये सबके सब स्कूल के लिए नहीं, स्कूल के बाहर के लिए हैं।

ऊँच और विरोध स्कूल में जितनी बेवकूफी पैदा करते हैं, उतना भय भी। बच्चों को कोई भी ऐसा काम सौंपिए, जो उसे स्कूल में दिया जाए, तो चाहे वह उससे डरता हो, या उसका विरोध करता हो, या उसे करना तो चाहता हो पर उबाऊ पाता हो, वह उसे आधे ध्यान, आधी-अधूरी ऊर्जा, या आधी बुद्धि के साथ ही करेगा। यानी, वह उसे बेवकूफी से ही करेगा- चाहे सही क्यों न करे। जल्दी ही यह आदत का रूप ले लेती है। आधी शक्ति से काम

चलाने की आदत। बच्चा अपने लिए आवश्यक रणनीतियाँ भी तैयार कर लेता है, जिनसे वह गुज़ारा चला सके। कुछ समय बाद वह यह मानने लगता है कि वह सच में बेवकूफ है। अधिकांश पाँचवीं कक्षा के बच्चे अपने बारे में यही मानते हैं। वे तो यह भी मानते हैं कि कम से कम ऊर्जा खर्चने का यह उपाय ही स्कूली परिस्थितियों से निपटने का अकेला रास्ता है।

ऐसे छात्रों से ध्यान देने को कहना, जो वे कर रहे हों उस पर सोचने को कहना ही बेकार है। मैं अभी भी कॉलरेडो के स्कूल की नवी की बीजगणित की कक्षा को देख सकता हूँ। उसमें एक फेल होनेवाला बच्चा भी था, जो अपनी स्कूली बेवकूफी में जकड़ा ठिठ चुका था। उससे कहना कि “सोचो, सोचो, सोचो तो सही!” अपनी ऊर्जा का ही अपव्यय है। वह तो कब का भूल चुका था कि सोचा कैसे जाता है। उसका फूहड़, सहमा-सा, कल्पनाहीन, सुरक्षात्मक और टालमटोल का-सा रवैया जिससे वह बीजगणित के सवालों से निपटता था, अकेला तरीका था जो उसे याद था। उसकी रणनीतियाँ और अपेक्षाएँ तक जड़ हो चुकी थीं। वह तो दूसरे किसी तरीके की कल्पना तक नहीं कर सकता था। सचमुच अपनी ओर से पूरी कोशिश कर ही रहा था।

जो हम बच्चों से पूरे दिन करने की अपेक्षा रखते हैं, वह हम वयस्क चन्द घंटे भी नहीं कर सकते। हममें से कितने ऐसे हैं जो कि एक अरोचक भाषण को सुनते समय अपने ध्यान को बहकने से रोक सकते हैं? फिर बच्चों से चीख-चीखकर कहना कि वे ध्यान धरें, तो बेमानी ही है। अगर इस विषय में हम कड़ा रुख अपनाएँ, जैसा कई स्कूल करते हैं, तो हम पूरी की पूरी कक्षा को कुछ यों सहमा सकते हैं कि वे चुपचाप बिना हिले-डुले, हाथ पर हाथ धरे, हम पर या किसी दूसरे पर नज़रें गाड़े बैठे रहें। पर उनके मन कक्षा से कहीं बहुत दूर भटक रहे होंगे। बच्चों के ध्यान को तो फुसलाना, अटकाना, पकड़ना पड़ता है। मानो एक भयभीत जंगली जानवर को फुसलाकर पास बुलाने के लिए चारा डाला जा रहा हो। अगर बच्चे के सामने पेश की गई स्थितियाँ, सामग्री या सवाल उसे रोचक न लगें तो उसका ध्यान फिसलता है और वहाँ जा अटकता है जो उसे रोचक लगता हो। तब न हमारा उपदेश, न ही धमकी उसे लौटाकर वापस ला सकती है।

बच्चा केवल उस समय अपनी पूरी मेधा प्रदर्शित करता है, जब उसके सामने खड़ी वास्तविकता उसके ध्यान को, रुचि को, एकाग्रता को शिद्दत के साथ बाँध ले। या यों कहे कि जब वह जो करे उससे उसका कोई वास्ता, कोई सरोकार हो। यही कारण है कि हमें अपनी कक्षा को, वहाँ किए जानेवाले हरेक काम को भरसक रोचक और जोश जगानेवाला बनाना चाहिए। केवल इतना-भर नाकाफी है कि स्कूल को हम एक सुखद जगह बना दें, बल्कि यह भी सुनिश्चित करना आवश्यक है कि वह एक ऐसी जगह हो जहाँ बच्चे अपनी बुद्धि को काम में लेने की आदत डाल सकें। जो बात स्कूल में ऊब के विरुद्ध कही जा सकती है, वही भय के विरुद्ध भी कही जा सकती है। भय से भी बच्चे बेवकूफों सा व्यवहार करते हैं। कुछ जानबूझकर, लेकिन अधिकांश इसलिए कि इसके सिवाय वे कुछ कर ही नहीं सकते और अगर यह सब लम्बे समय तक चलता रहे तो वे यह भी भूल जाते हैं कि किसी चीज़ को समझा कैसे जाए। जबकि एक समय वह भी था जब वे पूरे मन और इन्द्रियों की सहायता से हरेक चीज़ को समझ पाते थे, जीवन व उसके अनुभवों को उत्तेजना व उत्साह के साथ सकार पाते थे। वे तो यह सोचना और कहना तक भूल जाते हैं कि “मैं देख रहा हूँ। मुझे आ गया है। मैं यह कर सकता हूँ।”

□ अप्रैल 9, 1961

“वास्तविक ज्ञान” वाले भाग में क्यूसिनेर छड़ों के साथ मार्जरी के अप्रतीकात्मक काम का ब्यौरा है। पर शब्दों में उस उन्मुक्ति, उस आनंद-उल्लास, दबावों से उस आज़ादी, उस सजगता, उस एकाग्रता व उस बुद्धिमानी का वर्णन ही असम्भव है जो वह उस काम को करते समय दिखा रही थी। तब वह एक ऐसी बच्ची में बदल गई थी, जैसी मैंने पहले कभी देखी ही न थी। वह भी स्कूल में बिताए गए सालों में छलावे, झूठ व नाजायज़ तरीकों से दूसरों से उत्तर उगलवाने में और यह नाटक करने में व्यस्त रही थी, कि वह भी वह सब जानती है जो वह दरअसल जानती न थी। पर अब वह इस सबसे मुक्त थी, उसे इसकी ज़रूरत न थी।

मैं दिमाग में जब कभी उसके दोहराए वाक्य, “वाह! जब कुछ करने का तरीका आ जाए तो क्या मज़ा आ जाता है” की गूँज सुनता हूँ तो मैं दुख और क्रोध से भर उठता हूँ। मुझे अपने उन नेक इरादों वाले उपायों पर आश्चर्य होता है जो मार्जरी और उस जैसे असंख्य बच्चों को असल में सोचने, खोजने और ईमानदारी से समझने के मौके ही नहीं देते। हमने उनकी मेधा के साथ वह अन्याय किया है जो किसी बच्चे को खाना न देकर हम उसके शरीर के साथ करते हैं। हमने उन्हें बौद्धिक रूप से कमज़ोर व बौना बना है। पर इससे भी भयावह बात तो यह है कि हमने उन्हें बेईमान बनाया है। इसमें कोई शंका नहीं कि बच्चे अपने शिक्षकों को बुद्ध बनाने में चतुर हैं। पर उनका काम इस बात से कितना आसान हो जाता है कि हम शिक्षक बुद्ध बनने को कितने तैयार और आतुर रहते हैं। हम तुरन्त अपने आपसे यह कह देते हैं कि लो, बच्चे वह जान गए हैं, जो कुछ ही क्षणों के निरीक्षण से हम चाहें तो तय कर सकते हैं कि वे उसे समझे तक नहीं हैं।

□ जून 15, 1961

एक बच्चे की माँ ने कुछ दिनों पहले कहा था, “मुझे लगता है कि आप स्कूल के काम को बच्चों के लिए रोचक बनाकर एक भारी गलती कर रहे हैं। आखिरकार, उन्हें अपनी ज़िन्दगी ऐसे ही कामों को करते बितानी है जो उन्हें पसन्द नहीं आएँगे। बेहतर होगा कि वे अभी से इसकी आदत डाल लें।”

कई बार उन नारों व घिसे-पिटे कथनों पर से क्षण-भर को पर्दा हटता है जिनके पीछे अधिकांश लोग अपने जीवन बिताते हैं, और तब हम लोग सच में क्या सोचते हैं, इसकी झलक पा लेते हैं। यह बात पहली मर्तबा किसी अभिभावक ने मुझसे नहीं कही है पर मैं फिर भी उसे उतना ही भयावह पाता हूँ। एक महान देश के एक महान नागरिक का यह कैसा जीवन-दर्शन है? क्या जीवन कोल्हू के बैल की तरह जुते रहना-भर है, नीरस व उबाऊ कर्तव्यों का अनन्त सिलसिला ही है? और शिक्षा क्या वह प्रक्रिया है जिससे बच्चे इस सबके लिए तैयार हो सकें? मानो उस महिला ने यह कहा हो, “मेरा

बेटा अपनी ज़िन्दगी एक गुलाम बनकर काटनेवाला है, सो मैं चाहती हूँ कि आप उसे गुलामी के विचार से समझौता करना सिखा दें ताकि जब वह गुलाम बने तो वह आज्ञाकारी, परिश्रमी व अच्छा वेतन पानेवाला गुलाम बन सके।”

यह तो समझ आता है कि एक वयस्क हताशा के क्षणों में स्वयं को चारों ओर से निरर्थक छोटी-बड़ी ज़िम्मेदारियों व कर्तव्यों से घिरा पाकर यह सोचने लगे कि जीवन गुलामी मात्र है। पर आशा तो यही रखी जाती है न कि जो लोग अपने जीवन के बारे में ऐसा अनुभव करते हैं वे अपने बच्चों के जीवन को सुधारने, बेहतर बनाने के लिए कहेंगे, “अपने जीवन की सार्थकता और आनन्द का मौका तो मैं चूक गई पर कृपया मेरे बच्चे को ऐसे शिक्षित कीजिए ताकि उसका जीवन मुझसे बेहतर हो।”

और यही हमारा काम है, चाहे माता-पिता यह कहें या न कहें।

भद्र महिला देखने-भालने में आकर्षक हैं, प्रखर हैं, अपने बेटे से प्यार करती हैं, उसमें रुचि है उनकी। पर इसके बावजूद वे शिक्षकों व अभिभावकों द्वारा प्रचारित उस विश्वास से सहमत हैं जो न केवल बच्चों के प्रति गहरा अविश्वास और अश्रद्धा दर्शाता है, बल्कि पूरी तरह झूठा भी है। इन लोगों का मानना है कि बच्चे अपने-आप कभी कोई सार्थक काम नहीं करते, न ही करेंगे, जब तक उनसे कोई वयस्क जबरन वह सब न करवाए। उस महिला की अपने व अपने पुत्र के बारे में सुनाई गई कहानियों का कथानक हमेशा एक ही होता है; वह अपने आप कोई काम करना नहीं चाहता, तब वे उससे ज़बर्दस्ती करवाती हैं, अन्ततः वह उसे अच्छी तरह करता है और शायद तब उसे वह करने में मज़ा भी आता है। वे कभी मुझे ऐसी कहानियाँ नहीं सुनातीं जहाँ उनका बेटा बिना किसी के कुछ करवाए कोई अच्छा काम करता हो। और जब मैं उनके बेटे के बारे में ऐसी कहानियाँ सुनाता हूँ तो वे उनमें रुचि नहीं लेतीं बल्कि नाराज़ ही हो जाती हैं। उन्हें अपने बच्चे की केवल उन उपलब्धियों में रस आता है जिनका अधिकांश श्रेय वे खुद को दे सकें।

बच्चे इस धारणा को महसूस करते हैं। वे इसका विरोध करते हैं और ऐसा करने में वे सही भी होते हैं। लेकिन हमें यह मानने का क्या अधिकार है कि बच्चों में कुछ अच्छा है ही नहीं सिवाय उसके जो हम उनमें डालते हैं?

256 बच्चे असफल कैसे होते हैं

यह विचार दर्प और पूर्वाग्रह से भरपूर है। और इससे भी महत्वपूर्ण बात यह कि यह एकदम झूठा विचार है। यह हमें इस सच्चाई से दूर रखता है कि बच्चों के चरित्र को गढ़ने के अपने फूहड़ और बेवकूफी भरे प्रयत्नों से हम उनके उतने ही गुणों को नष्ट करते हैं जितने कि हम विकसित करते हैं। यानी हम उनका उतना ही नुकसान करते हैं जितना कि फायदा।

नहीं, हम नुकसान फायदे से कहीं ज्यादा करते हैं।



सार संक्षेप

जब हम मेधा की बात करते हैं तो हमारा अर्थ किन्हीं खास तरह की परीक्षाओं में अच्छे नम्बर पाने की क्षमता से नहीं होता। इसका सम्बंध स्कूल में सब कुछ अच्छा करने से भी नहीं होता। वह तो एक गहरी और गम्भीर वस्तु का इंगित भर ही है। मेधा से हमारा अर्थ है जीवन जीने का एक सलीका, विभिन्न परिस्थितियों में व्यवहार करने का तरीका। खासकर, नई अनजानी व उलझन भरी परिस्थितियों से निपटने का तरीका। बुद्धि की वास्तविक परीक्षा इसमें नहीं होती कि हम क्या-क्या कर सकते हैं, बल्कि इसमें कि जब हमें कुछ करना न आता हो तो हमारा व्यवहार कैसा होता है।

मेधावी व्यक्ति, चाहे वह जवान हो या बूढ़ा, एक नई परिस्थिति या समस्या को सामने पा, स्वयं को पूरी तरह खोल देता है। वह अपने दिमाग और इंद्रियों की सहायता से जितनी सम्भव हो, जानकारी सोखता है। तब वह उसके विषय में सोचता है, अपने विषय में नहीं। वह यह नहीं सोचता कि उससे उसपर क्या प्रभाव पड़ेगा। वह साहस, कल्पनाशीलता और पूरी जुगत के साथ उस स्थिति से जूझता है। अगर उसके पास विश्वास नहीं होता तो आशा तो होती है। अगर वह समाधान तक नहीं पहुँच पाता तो भी अपनी गलतियों को बिना शर्माए, बिना डरे देखता है, उनसे सीखता तो है। यह है मेधा। ज़ाहिर है कि इसकी जड़ें जीवन के विषय में, जीवन के सन्दर्भ में, स्वयं के विषय में व्यक्ति की निजी भावनाओं में मिलती हैं। उतनी ही साफ यह बात भी है कि बुद्धिहीनता वह नहीं है जो अधिकांश मनोवैज्ञानिक मानते हैं। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार मेधा की मात्रा का कम होना ही बुद्धिहीनता है। वह तो एक दूसरी ही तरह का व्यवहार है जो जन्मता ही एक पूर्णतः भिन्न दृष्टिकोण से है।

सालों तक प्रखर, निस्तेज और बिलकुल सुस्त, बच्चों के अवलोकन और तुलना ने सिद्ध कर दिया है कि वे तो होते ही दो तरह के लोग हैं। तेज बच्चे

जीवन व उसकी वास्तविकता के प्रति जिज्ञासु होते हैं, वे उनसे रिश्ता जोड़ने को आतुर होते हैं, उसे गले लगाना चाहते हैं, वे तो उसके साथ एकमेव हो जाना चाहते हैं। ऐसे बच्चों और प्राणवान जगत के बीच कोई दीवारें, कोई बाधाएँ नहीं होती हैं। पर निस्तेज बच्चा कम जिज्ञासु होता है। जो कुछ उसके आसपास घटता है, जो वास्तविकता है, उसमें उसकी रुचि कम होती है। वह हवाई किले गढ़ता रहता है। प्रखर बच्चा प्रयोग करना पसन्द करता है, वह नए-नए काम करना चाहता है। वह तो मानो यह सोचकर चलता है कि ज़रूरत पड़ने पर टेढ़ी उँगली से भी धी निकाला जा सकता है। जब वह एक तरीके के इस्तेमाल के बाद असफल रहता है तो वह दूसरा उपाय काम में लेता है, पर निस्तेज बच्चा कुछ भी करने से डरता है। उसे तो एक बार कोशिश करने के लिए भी उकसाना पड़ता है। और अगर वह एक बार असफल हो जाए तो वह उस काम की ही इतिश्री मान लेता है।

प्रखर बच्चा धैर्यवान होता है व अनिश्चय और असफलता दोनों ही झेल सकता है। जब तक उसे उत्तर न मिले वह लगा ही रहता है। पर अगर उसके सभी प्रयोग असफल हो जाएँ तो वह अपने और दूसरों के सामने यह स्वीकार कर लेता है कि कम से कम फिलहाल उसे उत्तर नहीं मिलेगा। वह इस हाल में खुश तो नहीं होता पर वह इन्तज़ार कर सकता है। सामान्यतः ऐसे बच्चे को यह पसन्द नहीं आता कि जिस सवाल या पहेली से वह जूझ रहा हो उसे करने या बूझने की विधि कोई उसे बता दे। क्योंकि वह उसे स्वयं हल करने का मौका चूकना नहीं चाहता, पर निस्तेज बच्चा ऐसा नहीं करता। वह अनिश्चय और असफलता को झेलने में असमर्थ होता है। उसके लिए एक अनुत्तरित प्रश्न एक चुनौती या एक अवसर नहीं होता। वह तो एक धमकी होता है। उसे अगर फौरन उत्तर नहीं मिले तो उसे उत्तर दूसरों से चाहिए होता है, और वह भी तुरत-फुरत। उसे हरेक सवाल का जवाब चाहिए। ऐसे बच्चों के बारे में एक दूसरी कक्षा की शिक्षिका ने एक बार मुझे कहा था, “पर मेरे बच्चों को तो ऐसे सवाल पसन्द हैं जिनका एक ही उत्तर हो।” सच, उनके बच्चे यही चाहते थे और किसी रहस्यमय संयोग से शिक्षिका भी यही चाहती थी।

प्रखर बच्चा अधकचरी समझ और अपूर्ण जानकारी के आधार पर भी आगे बढ़ने को तैयार रहता है। वह जोखिम उठाने को, नए सागरों को पार करने को आतुर होता है। उसे परिदृश्य खोजने होते हैं जहाँ पहचान के पत्थर न हों, और प्रकाश भी कम हो। इसका एक ही उदाहरण काफी होगा – वह ऐसी पुस्तकें पढ़ने को प्रस्तुत रहता है, जिन्हें वह समझता नहीं हो। पढ़ता वह इस आशा के साथ है कि कुछ समय बाद वह इतना समझ सकेगा कि वह आगे बढ़ सके। ठीक ऐसी ही भावना से पाँचवीं कक्षा के कुछ बच्चों ने मॉबी डिक को पढ़ना शुरू किया था पर कोई निस्तेज बच्चा केवल तभी आगे बढ़ता है जब वह यह जान ले कि वह कहाँ खड़ा है और उसके आगे क्या है। अगर उसे यह पता न हो कि उसे किस तरह का अनुभव होने वाला है या जैसा पहले हो चुका है वैसा न होनेवाला हो, तो वह यह अनुभव करना ही नहीं चाहेगा। क्योंकि जहाँ प्रखर बच्चों को यह लगता है कि पूरी सृष्टि ही एक तार्किक, विवेकपूर्ण और भरोसेमन्द जगह है, निस्तेज बच्चे को वह अतार्किक, अननुमेय और छल-कपट से भरी जगह लगती है। वह हर नई और अपरिचित परिस्थिति से डरता है। आगे क्या होगा, यह विचार उसे सताता है। वह तो बस इतना ही जानता है कि जो कुछ भी होगा, वह शायद खराब ही होगा।

शुरू से तो कोई बच्चा बेवकूफ नहीं होता। शिशुओं और नन्हें बच्चों को देखते ही यह सोचने पर बाध्य होना पड़ता है कि वे कितना कुछ सीखते और करते हैं। उन्हें देखते ही हम यह जान लेते हैं कि मानसिक रूप से विकलांग बच्चों को छोड़कर सभी बच्चे अपनी विशिष्ट जीवन-शैली का, सीखने की उत्कट इच्छा व क्षमता का ऐसा परिचय देते हैं जिसे हम वयस्कों में पाते ही “जीनियस” का नाम दे डालते हैं। शायद ही हज़ारों या लाखों वयस्कों में एक वयस्क ऐसा होगा जो बड़े हो जाने के बाद अपने जीवन के तीन सालों में इतना सीखता होगा, अपनी समझ में इतना विकास करता होगा, जितना कोई भी शिशु अपने प्रारम्भिक तीन वर्षों में अपने आसपास की दुनिया को समझने में करता है। सीखने की इस विलक्षण क्षमता और इस अद्भुत बौद्धिक विकास को बड़े होने पर यह कैसा ग्रहण लग जाता है?

जो होता है वह यह है कि सीखने की क्षमता ही नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है। वह भी शायद किसी दूसरी चीज से इतनी नहीं जितनी उस प्रक्रिया से जिसे हम भ्रमवश शिक्षा का नाम देते हैं, और जो अधिकांश घरों व स्कूलों में चलती है। हम वयस्क जो कुछ करते हैं, और बच्चों से करवाते हैं उससे उनकी बौद्धिक व रचनात्मक शक्तियों का विनाश होता है। हम उन्हें डरा-धमकाकर इन शक्तियों को नष्ट करते हैं, हम उन्हें दूसरों के बताए कामों को न करने पर धमकाते हैं, नाराज़ हो जाने की धमकी देते हैं, असफल होने का भय पैदा करते हैं, गलत होने का डर जगाते हैं। हम उन्हें जोखिम उठाने से डरना सिखाते हैं, प्रयोग करने से डरना सिखाते हैं। परेशानियों और अज्ञात से जूझने का भय पैदा करते हैं। जब हम सायास ये सारे भय नहीं जगाते, बल्कि बच्चों को ही ऐसे भयों के साथ स्कूलों में पाते हैं, तो हम उनके उपयोग से नहीं चूकते। हम अपनी मनमर्जी उन पर लादने और उन्हें नियंत्रित करने के लिए बच्चे के निजी भयों का इस्तेमाल करते हैं। उन भयों को खत्म करने के बदले उन्हें भड़काते हैं, कई बार तो दानवाकारों तक - क्योंकि हमें ऐसे ही बच्चे पसन्द हैं जो हमसे डरते हों, आज्ञाकारी हों और विनम्र हों। हाँ, यह भी सच है कि हम उन्हें इतना डरा या सहमा हुआ भी नहीं देखना चाहते कि वे हमारी एक सहृदय और स्नेही व्यक्ति - जिससे डरने का कोई कारण ही न हो - की आत्मछवि को ही खराब कर दें। हमें ऐसे बच्चे आदर्श लगते हैं जिन्हें हम "अच्छे" बच्चे कहते हैं। ऐसे बच्चे जो हमसे बस इतना भर डरें कि वे वह सब करते चले जो हम उनसे करवाना चाहते हैं, पर हमें यह अहसास भी न होने दें कि वे सब कुछ इसलिए कर रहे हैं, क्योंकि वे हमसे डरते हैं।

बच्चों में सीखने के प्रति निष्काम प्रेम मिलता है जो उनके बचपन में सशक्त होता है। इस प्रेम को हम बच्चों से घटिया, घृणित काम करवा-करवाकर नष्ट कर डालते हैं। और इसके पुरस्कार स्वरूप हम उन्हें किसी कागज़ पर छपा एक सुनहरा सितारा, या दीवारों पर टँगी उत्तर पुस्तिकाओं में 100 में से 100 नम्बर, या प्रगति-पत्र पर प्रथम श्रेणी, या सम्मान-सूची में नाम, या हेडमास्टर की सूची में दर्ज़ कर देते हैं। यानी किसी भी हालत में उन्हें यह संतोष दिलाना चाहते हैं कि वे दूसरों से बेहतर हैं। हम उनमें यह भावना

पनपाते हैं कि स्कूल में जो कुछ वे करते हैं, उसका लक्ष्य परीक्षा में अच्छे नम्बर पाने या दूसरों को अपने फर्जी ज्ञान से प्रभावित करने के अलावा कुछ नहीं है। न केवल हम बच्चों की जिज्ञासा की हत्या करते हैं, बल्कि इस भावना को भी मार डालते हैं कि जिज्ञासु होना अच्छी बात है। सो जब तक वे दसक वर्ष के होते हैं वे कोई भी सवाल नहीं पूछते, बल्कि उन बच्चों के प्रति तिरस्कार दर्शाते हैं जो सवाल उठाने का साहस करते हैं।

हम कई-कई उपायों से बच्चों के इस विश्वास को भी डिगाते हैं कि हमारी आसपास की दुनिया में कोई अर्थ है। उनकी इस आशा को भी मार डालते हैं कि शायद कभी यह सिद्ध हो सके कि कहीं कोई अर्थ है। सबसे पहले हम जीवन को ही मनमाने ढंग से असम्बद्ध विषयों के टुकड़ों में बाँट देते हैं। तब उन्हें कृत्रिम या निरर्थक तरीकों से समेकित करने का प्रयास करते हैं। इसका उदाहरण लें - स्विट्ज़रलैंड का भूगोल पढ़ाते समय वहाँ के लोकगीत बच्चों से गवाना या लिन्कन के बचपन के बारे में पढ़ाते समय लकड़ी चीरने से सम्बंधित गणित के सवाल करवाना। हम बच्चों के सामने हमेशा निरर्थक, अस्पष्ट या परस्पर काटनेवाली बातें रखते हैं, पर इससे भी डरावनी बात तो यह है कि हम यह जानते तक नहीं कि हम ऐसा कर रहे हैं। फलतः बच्चे हमारी सारी बकवास इस तरह ग्रहण करते हैं मानो उसमें सार और सच्चाई हो। उन्हें यह लगने लगता है कि उनकी निजी भ्रान्ति का स्रोत सामग्री में नहीं है, बल्कि उनकी ही व्यक्तिगत बेवकूफी में है। इसके बाद हम बच्चों को उनके सामान्य ज्ञान व वास्तविक दुनिया से भी काटते हैं। यह सब हम उन शब्दों या संकेतों के उपयोग की माँग से करते हैं, जिनका बच्चों के तर्ज़ कोई अर्थ ही न हो। फलतः हम अपने अधिकांश विद्यार्थियों को ऐसे लोगों में बदल देते हैं, जिनके लिए सभी प्रतीक निरर्थक हों, जो प्रतीकों का वास्तविकता को जानने या उससे निपटने के लिए उपयोग ही न कर सकते हों, जो लिखित निर्देश नहीं समझ पाते हों, जो पुस्तकें पढ़ जाने के बावजूद अपने ज्ञान में रत्ती-भर बढ़ोतरी नहीं कर सकते हों, जिनके दिमाग में कुछेक नए शब्द बजते हों पर जिनकी दुनिया से सम्बंधित मानसिक संरचना में रत्ती-भर का बदलाव नहीं आता। और तो और, उस बदलाव की सम्भावना

तक शेष हो जाती है। चन्द सफल और कुशल छात्रों के साथ हमारा व्यवहार होता तो कुछ दूसरी ही तरह का है, पर होता वह भी इतना ही खतरनाक है। हम उन्हें ऐसे बच्चों में बदल देते हैं जो शब्दों व प्रतीकों से सहजता से खेल सकें, पर उनकी वास्तविकता से कटे रहें, ऐसे लोग जो बड़े-बड़े सामान्यीकरणों की भाषा तो बोलें पर उस समय खामोश या नाराज़ हो जाएँ जब उनसे उनकी बात का एक भी उदाहरण माँगा जाए। ऐसे लोग जो विश्व के मसलों की चर्चा के दौरान “वृहद मृत्यु” या “वृहद विनाश” जैसे शब्द गढ़कर उनका प्रयोग तो करें पर इन शब्दों से संकेतित खून-खराबे व पीड़ा की कल्पना तक न कर पाएँ।

हम बच्चों को बेवकूफी भरा व्यवहार करने को उकसाने के लिए न केवल उन्हें डराते या भ्रमित करते हैं, बल्कि उन्हें उबाकर भी अपना मकसद हासिल करते हैं। हम उनके दिन ऐसे नीरस और निरन्तर दोहराव वाले कामों से भर देते हैं जो उनके ध्यान, उनकी मेधा से किसी तरह की माँग नहीं करते। लगता है हमारे दिल उस समय खुशी से भर उठते हैं जब हम बच्चों को एक कमरे में ठुंसे, लादे हुए कामों से जूझता देखते हैं। और तो और, हमारा आनन्द और सन्तोष उस समय और बढ़ जाता है जब हमें कोई यह बताता है कि बच्चे जो कुछ कर रहे हैं, वह उन्हें पसन्द नहीं आ रहा। हम अपने आपसे कहते हैं कि यह मशक्कत, यही बराबर उलझाए रखनेवाला काम ही जीवन की तैयारी है। हम डरते हैं कि इसके बिना बच्चों को “नियंत्रित” करना कठिन होगा पर व्यस्त रखनेवाला काम भी इतना नीरस क्यों हो? उन्हें रोचक व चुनौती भरे काम क्यों नहीं सौंपे जा सकते? इसलिए, क्योंकि स्कूलों में जहाँ हरेक काम पूरा होना चाहिए, हरेक उत्तर सही होना चाहिए, वहाँ अगर हम बच्चों को अधिक माँग करनेवाला काम देंगे तो वे सहम जाएँगे और फिर तुरन्त यह जानना चाहेंगे कि उसे कैसे करना है, यह हम उन्हें बता दें। पर जब हमारे पास लाल स्याही से निशान लगाने के लिए एकड़ों कागज़ हों तो सोचने की अय्याशी का समय किसके पास रहता है। यानी हमारे सभी उपाय और काम ऐसे होते हैं जिससे बच्चे में अपने सोचने की क्षमता का आंशिक उपयोग करने की आदत पक्की होती जाती है। बच्चे

यह मानने लगते हैं कि स्कूल होती ही वह जगह है जहाँ उन्हें अपना अधिकांश समय नीरस कामों को, नीरस तरीकों से करने में बिताना है और जल्दी ही बच्चों का बेवकूफी भरा व्यवहार पूरी तरह पुख्ता हो जाता है। यह वह स्थिति है जिससे बच्चे अगर चाहें तो भी बच नहीं सकते हैं।

कोई छह-सात वर्षों पहले मैंने शिक्षकों या भावी शिक्षकों से स्कूलों में क्रांतिकारी परिवर्तनों की चर्चा बंद कर दी। उनसे ऐसा कुछ कहने का क्या लाभ जो उनके बस में ही न हो? मैंने तब उनसे छोटे-छोटे, सस्ते, दक्ष तरीकों की बात की जिन्हें अपनाने पर उनकी नौकरी पर कोई आँच न आए पर वे पढ़ने, लिखने और गणित के शिक्षण को बेहतर बना सकें। यह विषय ही वह “आधारशिला” है जिन्होंने मुझे शिक्षक के रूप में बिताए पहले दिन से ही आकृष्ट किया था।

इलिनॉय के शिक्षा महाविद्यालय में बोलते हुए मैंने कहा था कि बच्चों को कैसे बेहतर पढ़ना, लिखना, हिसाब करना, या हिज्जे करना सिखाना जैसी छोटी-छोटी व तुच्छ लगनेवाली बातों पर विचार करने ने ही शिक्षक के रूप में मेरे रोज़मर्रा के काम को चुनौतियों व उत्तेजना से भर दिया था। मैंने आग्रह किया कि वे भी ऐसा ही रचनात्मक, जिम्मेवार, ठोस व व्यावहारिक दृष्टिकोण अपने काम के प्रति अपनाएँ। उन विधियों को त्यागें जो असफल रहती हैं। ऐसी विधियों को तलाशते रहें, जो सफल हों। मैंने बताया कि मेरे पहले छात्र ने भिन्नो के बारे में जो सवाल उठाया था उसका सही उत्तर ढूँढ़ पाने में मुझे तेरह वर्ष लग गए। ऐसे सवाल, ऐसी शोध व खोज ही शिक्षक के रूप में काम करने का आनन्द है।

इस सबको कहने के बीच मैं साँस लेने कहीं रुका और अपने सामने बैठे शिक्षा के छात्रों पर एक नज़र दौड़ाई। वे सब मुझे बड़े ध्यान से देख रहे थे पर उनके चेहरे पर वह विचित्र भाव क्या था। क्या वे उत्तेजित थे? प्रसन्न थे? उलझे हुए थे? शंकालु थे? नाराज़ थे? नहीं, जो मैंने देखा वह इनमें से कुछ भी नहीं था। अचानक एक विचार मन में कौंधा। यह तो भय था! उनके सवालों ने बाद में मेरे अनुमान की पुष्टि की। वे ऐसे सवालों के बारे में कुछ भी नहीं सुनना चाहते थे जिनके उत्तर के लिए

उन्हें तेरह वर्ष प्रतीक्षा करनी पड़े। उन्हें अपने उत्तर उसी वक्त चाहिए थे। वे चाहते थे कि उन्हें क्या और कैसे करना है, यह बता दिया जाए और अगर वह तरीका असफल रहे तो उस समस्या से कोई और ही सलते।

इसके कुछ ही समय बाद मैंने पहली बार एक दूसरी ही वृत्ति से परिचय पाया। किसी शिक्षक महाविद्यालय के मनोविज्ञान के दो प्रोफेसर मित्रों ने अपनी कक्षाओं को सम्बोधित करने के लिए मुझे बुलाया। हम एक छोटे से ठसाठस भरे कमरे में मिले। मैं सामने रखी मेज़ के किनारे पर टिका बैठा था। क्योंकि मुझे उस संध्या की मुख्य वार्ता देनी थी, मैंने एक नए विषय पर बात छेड़ी। यह विषय अविवादास्पद था। विषय था कि हमें दैनिक जीवन से मनोवैज्ञानिक विचारों पर जुगाली करने के लिए कितनी बातें मिलती हैं। मैंने इस पर कोई वार्ता नहीं दी थी, सो मैं इस विषय की छानबीन कर रहा था और मुझे बोलते हुए बड़ा मज़ा आ रहा था।

अचानक मेरा ध्यान कहीं अटका। मैं हमेशा की तरह बोलते समय कभी एक तो कभी दूसरे श्रोता पर नज़र डालता चल रहा था। मैंने पाया कि जब कभी किसी शिक्षार्थी से मेरी नज़रें मिलतीं तो वह अपनी नज़रें चुरा लेता। पहले दो-तीन-पाँच बार मैंने इस पर गौर नहीं किया पर तब यह मेरी चेतना में धकियाकर पैठने लगा। मैं बोलते-बोलते ही सोचने लगा, “यह भला क्यों हो रहा है?” मैंने ध्यान से देखने पर पाया कि यह वृत्ति पूरे कमरे में बराबर मिल रही थी। कोई भी शिक्षार्थी आँखें मिलाने को तैयार नहीं था। मैं यह भी समझ पा रहा था कि नज़रें हटते ही वे फिर से ताकने लगते थे और उन सबके चेहरे मेरी ही ओर थे। पर बोलते समय मैं जिन श्रोताओं से दृष्टि-सम्पर्क कर पाया, वे केवल मेरे प्रोफेसर मित्र ही थे। पल-भर को मैंने सोचा कि मैं उन्हें सोचने और शोध करने के लिए इसी मनोवैज्ञानिक वृत्ति को सुझाऊँ। पर फिर यह सोच, कि शायद इससे उन्हें शर्मिंदगी महसूस हो, मैंने ऐसा नहीं किया।

उसके बाद मैंने अनेकों बार यह घटते देखा है, गोकि केवल तभी जब मैं छोटे समूहों में शिक्षार्थियों से मिला हूँ। सम्भवतः एक बड़े भाषण-कक्ष में वे मुझसे पर्याप्त दूरी पर बैठकर स्वयं को सुरक्षित महसूस करते हों,

या भाषण कक्ष ही उन्हें सुरक्षा की भावना देता हो।

बहरहाल, मैं सहमे-सहमे चेहरों और नज़रें चुराने की वृत्ति का आदी हो चुका हूँ। इतना कि मुझे केवल तभी आश्चर्य होता है जब मैं इसे नहीं पाता। काश, मैं इन नौजवानों को एक सलाह दे पाता, और अगर मन में यह आशा भी होती कि वे उसे मानेंगे, तो मैं कहता, “भगवान के लिए जब तक दुनिया के प्रति अपने इस भय पर काबू न पा लो, इस कक्षा के बाहर ही रहो। पहले कुछ और करो। यात्रा करो, अलग-अलग जगहों पर रहो, अलग-अलग तरह के काम करो, रोचक अनुभव करो, स्वयं को बेहतर पहचानना और प्यार करना सीखो। जो चाहे करो, पर अपने चेहरे पर से भय का यह भाव कम से कम हटा लो अन्यथा तुम्हारा शिक्षण एक भयानक हादसा सिद्ध होगा।”

यह तो तय है कि अगर मैं कॉलेज से बाहर कदम रखते ही शिक्षा के क्षेत्र में घुस पड़ता तो मेरा पढ़ाना भी एक हादसा ही होता। इन्हीं युवक-युवतियों की तरह मैं भी इक्कीस वर्ष की उम्र में अपने आप पर भरोसा नहीं कर पाता था, मुझे भी दुनिया से डर लगता था खासकर उससे जो नया था। सौभाग्य से मैंने 30 वर्ष के पहले पढ़ाना शुरू ही नहीं किया था और तब तक मेरे पास पनडुब्बी अफसर के रूप में तीन वर्ष का अनुभव था, जिसका कुछ अर्सा युद्ध-काल में भी बीता था। मैं छह वर्षों तक विश्व-सरकार आन्दोलन में जिम्मेदार पदों पर काम कर चुका था। उस दौरान मैंने छह सौ वार्ताएँ दीं थीं। योरोप के कई शहरों में बहुत कम पैसों पर अकेले रहकर अपना गुज़ारा चला चुका था। विश्व-सरकार के लिए काम करने के दौरान मैं पचास ऐसे परिवारों का मामा-चाचा बन चुका था, जिसमें छोटे बच्चे थे। अपने अविश्वास या दुनिया के प्रति भय को मैं पूरा-पूरा दूर तो नहीं कर पाया था पर इतना मुक्त उनसे अवश्य हो गया था कि कक्षा में आनेवाली चुनौतियों व अपनी असफलता को मैं अपनी सत्ता या व्यक्तिगत हैसियत पर होनेवाले प्रहार के रूप में न देखूँ, बल्कि उन्हें ऐसी रोचक समस्याओं के रूप में ग्रहण करूँ जिन पर मुझे विचार करना हो और जिन्हें सुलझाने का मुझे प्रयत्न करना हो।

पर इन भयग्रस्त युवक-युवतियों से यह सब कहने का क्या लाभ होगा। उन्हें नौकरियाँ चाहिएँ और तनखाह भी, वह भी फौरन। स्कूल में पढ़ाना ही वह क्षेत्र है जिसे सीखने में उन्होंने अपना धन और समय लगाया है। अकुशल मजदूरी के अलावा वे कर भी क्या सकते हैं। वे उस तरह के रोचक या सन्तोष देनेवाला काम कहाँ से पाएँ जिन्हें मैं सौभाग्यवश पा सका था। शायद किसी दिन शिक्षा के प्रबुद्ध संस्थान ऐसे कार्यों को भी अपने प्रशिक्षण का ही हिस्सा बना सकेंगे। पर फिलहाल जितने संस्थानों को मैं जानता हूँ, वहाँ ऐसा कुछ भी नहीं होता है।

नहीं, कक्षाओं में जाने के सिवा उनके पास कोई उपाय नहीं है। वे त्रस्त हों या न हों, जाना तो उन्हें वहीं है। एक बार पहुँचकर वे आत्मविश्वास की कमी पर, अपने कमजोर व नाजुक आत्म-मूल्य पर, आकंठ ग्रस लेनेवाले भय पर, उस तरह से काबू पाने की चेष्टा करेंगे जो ऐसे असुरक्षित लोगों का अकेला उपाय होता है। वे बच्चों के विरुद्ध सतत मानसिक युद्ध चलाएँगे। वे खुद जितने असुरक्षित, चिंताग्रस्त और भयभीत हैं, उससे कहीं अधिक वे बच्चों को बनाएँगे।

यह बहुत पहले शुरू हो जाता है। एक माँ ने मुझे कुछ समय पहले बताया था कि उसका पाँच साल का बेटा पहले दिन बालशाला में गया और वहाँ एक साथी से बात करने लगा। उसे पहले यह कभी बताया ही नहीं गया था कि कक्षा में बात नहीं करनी चाहिए। उसे यह पता नहीं था कि बातें करना भी एक अपराध हो सकता है। उसे सीधे-सीधे यह नियम बताने के बदले उसकी शिक्षिका ने उसे पूरी कक्षा के सामने फटकारा। तब कागज़ की एक बड़ी-सी लाल "जीभ" काटकर उसकी कमीज़ पर टाँग दी और उसकी खिल्ली उड़ाने लगी। उसका नामकरण कर डाला, "बड़ी जीभ!" इसके बाद उन्होंने कक्षा के दूसरे बच्चों को आमंत्रित किया कि वे भी उसका मज़ाक उड़ाएँ। ऐसे आमंत्रण का लालच बच्चे भला कैसे छोड़ते। ये हैं युद्ध के तरीके। और जब तक यह सब चलता रहेगा, सीखना सम्भव नहीं होगा और इस सबके शेष होने के आसार नज़र नहीं आ रहे हैं।

स्कूल सिर्फ बेईमानी भरी जगह नहीं है, बल्कि मानसिक त्रास की जगह भी है। हम वयस्क अक्सर बच्चों के साथ साफगोई से पेश नहीं आते, खासकर स्कूलों में। हम बच्चों से वह सब नहीं कहते जो हम सोचते हैं बल्कि उन्हें वह सब बताते हैं जो हमें सोचना चाहिए। हमारे बीच ऐसे दबाव-समूह काम करते हैं जो सभी अप्रिय या असुविधाजनक तथ्यों, सच्चाई व विचारों को खरपतवार की तरह हमारी कक्षाओं, पाठ्य-पुस्तकों, पुस्तकालयों से निकाल बाहर करते हैं। बच्चों के साथ हम उतनी ईमानदारी भी नहीं बरतते, जितनी हम आसानी से अभिभावकों या राजनीतिज्ञों के रूप में दबाव-समूहों की अनुमति से ही बरत सकते हैं। शिक्षण के सबसे अविवादास्पद क्षेत्रों में- पुस्तकों व पाठ्य-पुस्तकों तक में - हम बच्चों के लिए दुनिया की एक ऐसी छवि प्रस्तुत करते हैं जो झूठी और विकृत हो।

सच्चाई यह है कि हम यह मानते ही नहीं हैं कि बच्चों से सच बोलने की हमारी कोई ज़िम्मेदारी भी है। हम तो वॉशिंग्टन, लन्दन, बीजिंग, पेरिस या दुनिया की दूसरी किसी राजधानी में बैठे समाचार प्रबन्धकों या सम्पादकों की तरह हैं। हम यह माने बैठे हैं कि हमारा अधिकार और कर्तव्य है कि हम बच्चों से सच न कहें, बल्कि वह कहें जिससे हमारे पक्ष को सबसे अधिक लाभ हो। इस सन्दर्भ में यह लाभ, बच्चों को ऐसे लोगों में विकसित करना मानते हैं जो वह सब करते चलें जो हम चाहें। जैसा हम चाहें, वही वे सोचें। हमें तो बस अपने आपको विश्वास भर दिलाना है (और हम बड़ी आसानी से विश्वास कर भी लेते हैं) कि बच्चों के लिए झूठ सच से "बेहतर" है, और तब हम झूठ ही बोला करते हैं। हमें तो हमेशा यह बहाना भी नहीं चाहिए होता, हम अक्सर केवल अपनी सुविधा के लिए ही झूठ बोलते हैं।

सबसे खराब बात तो यह है कि हम अपने बारे में भी ईमानदार नहीं होते। न ही अपने भयों, सीमाओं, कमजोरियों, पूर्वाग्रहों या मंशाओं के बारे में। हम बच्चों के सामने स्वयं को यों प्रस्तुत करते हैं मानो हम खुदा हों। सर्वज्ञ व सर्वशक्तिमान हों। हमेशा तार्किक, हमेशा न्यायप्रिय, और हमेशा सही हों। अपने बारे में कहे गए तमाम झूठों में सबसे बड़ा झूठ तो यही है। मैंने कई बार शिक्षकों को यह कहकर ठेस पहुँचाई है कि जब कोई बच्चा मुझसे ऐसा

सवाल करता था, जिसका उत्तर मुझे नहीं आता होता तो मेरा जवाब यही होता था, “मुझे तो इस बारे में कुछ भी नहीं पता है।” या जब मैं कोई गलती करता तो कहता, “लो भई, मैं तो फिर से लुढ़क गया।” या जब मैं ऐसा कुछ करता जो मुझे अच्छी तरह से न आता होता, जैसे चित्र बनाना, शहनाई बजाना या बिगुल बजाना, तो यह मैं ऐन बच्चों की नज़रों के सामने करता, ताकि वे मुझे भी जूझता देखें और यह समझ सकें कि वयस्क सभी चीज़ों में माहिर नहीं होते। कोई बच्चा जब ऐसा कुछ करने को कहता जो मैं उस समय करना नहीं चाहता, तो मैं यह साफ कह देता, “मेरा मन नहीं है।” मैं उसे “अच्छे” कारणों की कोई ऐसी सूची नहीं थमाता था जो उच्चतम न्यायालय से पारित कारणों-से लगते हों। यह रोचक है कि ऐसा खुला व्यवहार कारगर रहता है। अगर आप किसी बच्चे से कहें कि आप कोई काम इसलिए नहीं करना चाहते क्योंकि आपकी इच्छा नहीं है, तो वह इस कारण को एक ऐसे तथ्य के रूप में स्वीकारता है जिसे वह बदल नहीं सकता। अगर आप उसे किसी काम को करने से इसलिए रोकें क्योंकि वह आपको पगलाए दे रहा है, तो सम्भव है कि बच्चा उसे बिना आगे बहस किए बन्द कर दे क्योंकि वह जानता है कि यह क्या होता है।

हम विशेषकर अपनी भावनाओं के बारे में बेईमान होते हैं। भावनात्मक बेईमानी हमारे स्कूलों के वातावरण को बेहद अप्रिय बना डालती है। जो लोग किताबें लिखते हैं, वे बार-बार यह दोहराते हैं कि एक शिक्षक को कक्षा के सभी बच्चों से प्यार करना चाहिए और वह भी समभाव से। अगर इससे उनका आशय यह है कि शिक्षक को अपनी कक्षा के हरेक बच्चे के लिए अपने श्रेष्ठतम प्रयास करने चाहिए, हरेक बच्चे के कल्याण की जिम्मेवारी उसकी है, हरेक बच्चे की समस्याओं से उसका समान सरोकार होना चाहिए, तो वे बिल्कुल सही कह रहे हैं। पर जब वे प्रेम की बात करते हैं तो उनका यह आशय होता ही नहीं है। उनका आशय भावनाओं, स्नेह या उस तरह के आनन्द व प्रसन्नता से होता है जो किसी व्यक्ति को दूसरों के संसर्ग से मिला करता है। और यह तो ऐसी कोई चीज़ नहीं है न जिसे चम्मचों से नाप-नापकर बराबर-बराबर बाँटा जा सके।

शिक्षाकर्मियों की एक कक्षा में इस विषय की चर्चा करते हुए मैंने एक बार कहा था कि मुझे कुछ बच्चे दूसरों से अधिक पसन्द आते थे। बिना यह खुलासा किए कि वे बच्चे कौन से थे मैं यह बात भी बच्चों को बता देता था। आखिर यह बात तो बच्चे जानते ही हैं, चाहे हम उनसे कुछ भी क्यों न कहते रहें। यानी इस विषय में झूठ बोलना तो बेकार ही है। सभी श्रोता शिक्षक स्तम्भित रह गए। “कितनी खराब बात कह दी,” एक ने कहा, “मैं तो अपनी कक्षा के सभी बच्चों से समान प्यार करता हूँ।” बकवास! जो शिक्षक यह कहता है वह अपने आपसे व दूसरों से सरासर झूठ बोल रहा है। और सम्भव है कि वह किसी भी बच्चे से प्यार न करता हो। आखिर इसमें बुराई क्या है। कई वयस्क बच्चों को पसन्द नहीं करते और कोई कारण भी नहीं कि सबको बच्चे अच्छे लगने ही चाहिए। पर परेशानी यह है कि शिक्षकों को लगता है कि उन्हें बच्चों को पसन्द करना ही चाहिए। यही भावना उनमें अपराध-बोध पैदा करती है और वे बच्चों से खार खाने लगते हैं। अपने अपराध-बोध को दूर करने के लिए वे कृपा का सहारा लेते हैं। अपने द्वेष को छिपी हुई क्रूरता से निकालते हैं। ऐसी क्रूरता जिसका परिचय हमें तमाम कक्षाओं में मिला करता है। यह सब शिक्षकों को बाध्य करता है कि वे एक कृत्रिम, चाशनी घुली आवाज़ और व्यवहार को अपनाएँ, एक नकली मुस्कान चेहरे पर चस्पाँ रखें और सायास ठहाके मारें। बच्चे यह स्कूलों में हमेशा देखते हैं और ज़ाहिर है इससे घृणा भी करते हैं।

क्योंकि हम बच्चों के साथ ईमानदारी नहीं बरतते, हम उन्हें भी हमारे प्रति ईमानदार होने से रोकते हैं। सबसे पहले तो हम उन्हें बाध्य करते हैं कि वे भी उस कपोल कल्पना में भाग लें कि स्कूल एक अद्भुत जगह है और बच्चे वहाँ बिताए हरेक क्षण का आनन्द उठाते हैं। बच्चे शुरू से ही यह सीख लेते हैं कि स्कूल और शिक्षकों को नापसन्द करने की *मनाही* है। इस भावना का तो उल्लेख ही नहीं होना चाहिए - विचारों तक में नहीं। मैं एक बच्ची को जानता हूँ जो वैसे एक स्वस्थ और प्रसन्न बच्ची थी पर पाँच वर्ष की उम्र में चिन्ता से बीमार हो चली थी। इसलिए, क्योंकि उसे अपनी बालशाला की शिक्षिका अच्छी नहीं लगती थी। रॉबर्ट हाइनेमन ने कई वर्षों

तक ऐसे बीमार छात्रों के साथ काम किया था, जिनसे स्कूल निपट नहीं सकते थे। उन्होंने पाया कि जो एक तथ्य दूसरे सभी तथ्यों से कहीं अधिक बच्चों को जड़ बनाता था, वह यह था कि ये बच्चे स्कूल और शिक्षकों के प्रति भय, शर्म, क्रोध व घृणा को व्यक्त तो क्या, स्वीकार तक नहीं पाते थे। जब उन्हें ऐसी परिस्थिति मिली जहाँ वे इन भावनाओं को स्वयं के और दूसरों के सामने व्यक्त कर सकें तो वे एक बार फिर से सीखने लगे। हम अपने बच्चों से यह क्यों नहीं कह सकते हैं, जो मैं अपनी पाँचवीं कक्षा के उन नाराज़ बच्चों से कहता था, कि कानून यह तो कहता है कि तुम्हें स्कूल जाना ही पड़ेगा, पर कानून यह नहीं कहता कि तुम उसे पसन्द भी करो। यह भी नहीं कि तुम मुझे भी पसन्द करो। शायद ऐसा कहने से बच्चों के लिए स्कूलों को झेलना आसान हो जाए।

बच्चे हमेशा यह सुनते हैं, “अच्छे लोग ऐसी बातें नहीं करते।” बच्चे शुरू से ही यह सीख लेते हैं कि किसी अज्ञात कारणवश जो भी वे सोचते या महसूस करते हैं, जो उन्हें रोचक लगता है या चिन्तित करता है, उसे वे व्यक्त नहीं कर सकते। बिरले ही बच्चे को अपनी बढ़ती हुई उम्र में कोई ऐसा वयस्क मिलता है जिससे वह खुलकर अपनी रुचियों, सरोकारों या चिन्ताओं को कह सके। ऐसे अवसर सम्पन्न माता-पिता अपने तनावग्रस्त बच्चों के लिए 25 डॉलर फी घन्टे के हिसाब से (और आज तो इससे कहीं अधिक दर पर) खरीदते हैं। वे अपने बच्चों को मनोचिकित्सक के पास भेजते हैं। वहीं एक ऐसा व्यक्ति है जिससे सच बोला जा सकता है, मन में जो कुछ हो उसका खुलकर बयान किया जा सकता है। बिना इस चिन्ता के कि वह नाराज़ हो जाएगा। पर क्या यह ज़रूरी है कि जब तक बच्चा भय और उलझनों से पूरी तरह पस्त न हो जाए, हम उसे यह मौका ही न दें। क्या यह भी ज़रूरी है कि हमें एक उच्च प्रशिक्षित व्यावसायिक का समय वह सब सुनवाने के लिए लेना पड़े जो बच्चा पहले किसी से भी कह सकता था, बशर्तें सुननेवाला कुछ सहानुभूति और ईमानदारी बरतता? कैम्ब्रिज, मैसाच्युसेट्स की “नुकड़ शोध” नामक परियोजना के कर्मियों ने पाया कि कई गए गुजरे बाल अपराधियों को अपने जीवन को सुधारने और पूरी तरह बदलने के लिए

किसी दूसरी चीज़ से अधिक ऐसे मौकों की ज़रूरत थी, जिनमें वे खुलकर अपने व अपने जीवन के बारे में ऐसे लोगों से बात कर सकें, जो उन्हें किसी जज की नज़रों से न देखें, जो उनमें निपटाने या हल करने लायक कोई समस्याएँ न ढूँढ़ें, बल्कि उन्हें भी मानव का दर्जा दें। हम क्या इस शोध से कुछ भी नहीं सीख सकते? क्या बच्चों से, जो कुछ वे सोचते हैं उसे कहने के लिए तब तक इन्तज़ार करवाना ज़रूरी है, जब तक वे पूरी तरह से बीमार न पड़ जाए?

मैंने शीघ्र ही पाया कि यह एक समस्या तो थी पर एक बड़ी समस्या न तब थी और न आज है। पाँचेक वर्ष बाद जब स्कूलों में तथाकथित उदारवादी, प्रगतिशील व स्वच्छंदतावादी क्रान्ति अपने चरम पर थी, तब चार्ल्स सिल्वरमैन व उनकी शोध मंडली देश भर के सैकड़ों स्कूलों में गए। जो उन्होंने पाया उसे सिल्वरमैन ने अपनी पुस्तक *क्राइसिस इन द क्लास* में वर्णित किया है। वे लिखते हैं कि उन्हें स्कूल के अधिकांश वयस्कों में बच्चों के प्रति “भयावह अभद्रता” मिली।

इसके अलावा बच्चों के प्रति, खासकर छोटे बच्चों के प्रति स्कूलों में पर्याप्त मात्रा में शारीरिक हिंसा भी मिलती है। एडा माउरेर, जो शारीरिक दण्ड विरोधी पत्रिका *द लास्ट रिजॉर्ट* की सम्पादिका हैं, ने हाल में स्कूलों का एक राष्ट्रव्यापी सर्वेक्षण किया था, जिसका लक्ष्य यह जानना था कि साल भर में कितने बच्चों को औपचारिक व आधिकारिक रूप से पीटा जाता है। जिन स्कूलों ने उत्तर नहीं दिया अगर वे बच्चों को उतना भी पीटते हैं जितना वे स्कूल जिन्होंने उत्तर दिया - गोकि सम्भावना यही है कि वहाँ और अधिक पिटाई होती होगी - तो हर वर्ष स्कूलों में करीब 15 लाख बच्चे पीटते हैं। पर यह पिटाई, जिसे स्कूल “चपतियाना” का नाम देते हैं, जबकि इसके कुछ शिकार अस्पतालों तक भी पहुँचते हैं, केवल आधिकारिक पिटाई है जो प्रधानाध्यापक के कमरे में होती है और जिसका रिकॉर्ड रखा जाता है। पर अनौपचारिक रूप से चाँटे, मुक्के, बाल खींचना, हाथ या कान उमेठना, गाल नोचना, सिर दीवारों से पटकना, घूँसे जड़ना आदि जो कक्षाओं में चलता रहता है, उसका तो अनुमान तक लगाना

असम्भव है। सम्भव है ऐसी पिटाई ऊपर बताई गई संख्या से दुगुनी, तिगुनी, पाँच या फिर दस गुनी हो। इस बात की भी पुष्टि हुई है कि एक या दो बच्चों द्वारा किए अपराध की सज़ा पूरी की पूरी कक्षा को भुगतनी पड़ती है। परीक्षा में खराब अंक आने पर भी कई बार जमकर ठुकाई होती है। एक शिक्षक ने तो पहले ही दिन सभी बच्चों को ठोका था ताकि वे “यह समझ लें कि उन्हें भविष्य में क्या अपेक्षा रखनी है।”

और शारीरिक हिंसा के प्रत्येक दृष्टान्त के साथ अनेक दृष्टान्त मानसिक या आत्मिक हिंसा के भी होते हैं - व्यंग, ताने मारना, गालियाँ देना जिसे आर्थर पर्ल (जिन्होंने अपना काफ़ी समय कक्षाओं में बिताया और जो अब शिक्षा के प्रोफेसर हैं) “बेइज्जती के रस्मो-रिवाजों” का नाम देते हैं। यह सब प्रारम्भिक कक्षाओं से ही शुरू हो जाता है, जब सबसे कमजोर बच्चे भी पूरी तरह विश्वास और उम्मीद करनेवाले होते हैं और शिक्षक को किसी भी तरह का शारीरिक नुकसान नहीं पहुँचा सकते। इसके उदाहरण इतने हैं कि उनसे कई किताबें भरी जा सकती हैं। मैंने केवल एक का उल्लेख किया है, दूसरे उल्लेखों की आवश्यकता नहीं है।

ना, समस्या झूठी मुस्कान या झूठी प्रशंसा में निहित नहीं है। यह तो बच्चों के प्रति इससे भी कहीं गहरी, गम्भीर और व्यापक नापसन्दगी, अविश्वास और भय में निहित है, जो इतनी तीव्र है कि उसे घृणा का नाम देना भी गलत न होगा। चूँकि इस भावना की जड़ शिक्षकों की निजी असुरक्षा, कमजोरी व भय है, इसलिए यह आशा ही बेमानी है कि इसे शीघ्रता से या आसानी से बदला जा सकेगा। खासकर उस स्थिति में जहाँ यह भावना आम जनता में भी पाई जाती हो।

ऐसे शिक्षक और अन्य लोग भी हैं जो वास्तव में बच्चों को प्यार करते हैं, उनमें विश्वास करते हैं, उनका सम्मान करते हैं। उनमें से कई तो - मेरे पास ऐसे सैकड़ों लोगों के पत्र हैं - कुछ ही वर्षों में स्कूल छोड़ देते हैं। कुछ को निकाल दिया जाता है तो कुछ स्वयं निकल जाना पसन्द करते हैं। क्योंकि अगर आपको बच्चे अच्छे लगते हों तो ऐसे लोगों से दिन-भर धिरे रहना जो उन्हें नापसन्द करते हैं, कुछ ही समय में बेहद पीड़ादायक और असह्य

बन उठता है। इस बात की पुष्टि के आँकड़े नहीं हैं। और हों भी कैसे? क्या शिक्षकों को कोई ऐसा प्रश्न भेजा जा सकता है - “क्या आप बच्चों से घृणा करते हैं?” नहीं ना! यानी इसके प्रमाण केवल रपटों में ही मिल सकते हैं। मैंने ऐसी तमाम रपटें पढ़ी हैं जो बच्चों के माता-पिता ने, शिक्षा के छात्रों ने, कक्षाओं में स्वैच्छिक काम करनेवाले कार्यकर्ताओं ने, या फिर स्वयं शिक्षकों ने और ऐसे लोगों ने लिखी हैं जिनका स्कूलों से लम्बा सम्पर्क रहा है। मैं यह स्वीकार कर सकता हूँ कि जो कुछ इन रपटों में कहा जा रहा है वह अपवाद नहीं है, बल्कि नियम ही है। बच्चों के प्रति यह हिंसा - शारीरिक व आत्मिक - हमारे स्कूलों के बच्चों में पाई जानेवाली हिंसा व क्रूरता का अकेला कारण न होते हुए भी निश्चित रूप से बड़ा कारण है।

स्कूलों में होनेवाली अधिकांश गतिविधियाँ जिन विचारों से प्रेरित होती हैं, उसे हम यों व्यक्त कर सकते हैं : (1) मानवीय ज्ञान के अथाह सागर में कुछ ऐसे अंश भी हैं जिन्हें हम आवश्यक कह सकते हैं, जिन्हें हरेक को जानना ज़रूरी है; (2) आज की दुनिया में किसी व्यक्ति को जिस सीमा तक शिक्षित या विवेकशील जीवन यापन करने योग्य, या समाज का उपयोगी सदस्य कहा जा सकता है, वह इस बात पर निर्भर करता है कि वह आवश्यक ज्ञान का कितना भाग ग्रहण कर सका है; (3) यानी, यह स्कूलों का कर्तव्य है कि वे जितना और जहाँ तक सम्भव हो, इस आवश्यक ज्ञान को बच्चों को दें। तभी तो हम शिक्षकों को कुछ तथ्य, विधियाँ और विचारों को बच्चों के गले में ठूसता हुआ पाते हैं। फिर चाहे वह निवाला बच्चों को अच्छा लगे या न लगे; या बच्चों की रुचि दूसरे ही कामों को सीखने में क्यों न हो।

ये सभी विचार बकवास हैं। खतरनाक बकवास हैं। हम तब तक स्कूलों में सच्ची शिक्षा या वास्तविक सीखना नहीं ला पाएँगे, जब तक हम इस बकवास को झाड़-बुहारकर बाहर न फेंक दें। स्कूल ऐसी जगह होनी चाहिए, जहाँ बच्चा वह सीखे जो वह सबसे ज़्यादा जानना चाहता हो, बनिस्बत उसके जो हमें लगता हो कि उसे जानना चाहिए। अगर बच्चा वास्तव में कुछ जानना या सीखना चाहता है तो वह उसे याद भी रखता है, उस ज्ञान का उपयोग कर सकता है; पर जो कुछ दूसरों को खुश या शान्त करने के लिए सीखता है

उसे वह उसी वक्त भूल जाता है जब खुश या शान्त करने की ज़रूरत खत्म हो जाती है। यही कारण है कि बच्चे स्कूल में सीखी अधिकांश बातें भूल जाते हैं। वह सब न तो उसके लिए काम का होता है न ही रोचक; वह न तो उसे याद रखना चाहता है, न याद रखने की अपेक्षा करता है, न याद रखने का उसका इरादा होता है। अच्छे व बुरे छात्रों में अन्तर केवल यही है कि बुरे छात्र वह सब तुरन्त भूल जाते हैं, जबकि अच्छे छात्र सावधानी बरतते हैं और परीक्षा हो जाने का इन्तज़ार करते हैं। जो कुछ हम स्कूलों में पढ़ते हैं, अगर उसके अधिकांश हिस्से को पाठ्यक्रमों से हटाने का दूसरा कोई कारण न भी मिले, तो यह कारण तो हमारे सामने है ही कि बच्चे उसे, प्रायः समूचे को ही, दिमाग से निकाल फेंकते हैं।

अगर बच्चे वह सब याद भी रखते होते जो उन्हें “पढ़ाया” जाता है तो भी पाठ्यक्रम का विचार, आवश्यक ज्ञान का विचार, उतना ही बेवकूफी भरा होता। हम किसे आवश्यक मानते हैं, उस पर शिक्षाविद् तक एकमत नहीं हैं। हरेक व्यक्ति, जो किसी खास क्षेत्र का विशेषज्ञ है, स्वाभाविक रूप से यह चाहेगा कि उसका विषय भी पाठ्यक्रम में लिया जाए। क्लासिकी विशेषज्ञ चाहेंगे कि यूनानी और लैटिन पढ़ाई जाए, इतिहासज्ञ इतिहास का शोर करेंगे, गणितज्ञ गणित की पैरवी करेंगे, और वैज्ञानिक विज्ञान की; आधुनिक भाषाविद् फ्रांसीसी, स्पैनिश या रूसी भाषा का नारा लगाएँगे आदि-आदि। हरेक अपनी विशेषता को इस “आवश्यक ज्ञान” की श्रेणी में लाना चाहेगा, क्योंकि जितनी उसकी विशेषता की माँग बढ़ेगी वह उसे उतना ही भुना सकेगा। कौन इस झगड़े में जीतता है और कौन हारता है, यह बच्चों की वास्तविक ज़रूरत या सामाजिक आवश्यकताओं पर निर्भर न होकर इस बात पर निर्भर करेगा कि जन-सम्पर्क में कौन कुशल है, किसके पास अच्छे शैक्षिक दलाल हैं जो उन घटनाओं का भी फायदा उठाने में माहिर हैं, जिनका शिक्षा से कोई लेना-देना ही न हो - जैसे रात के आकाश में किसी स्पूतनिक का दिखाई देना।

और अगर हम इस बात पर एकमत हो भी जाते कि पाठ्यक्रम में क्या-क्या होना चाहिए तो भी यह निर्णय वैध न होता। जो कुछ बच्चा स्कूल में सीखता

है उसके कुछ ही सालों में वही झूठा सिद्ध हो जाता है। मैंने स्कूल में एक नई ताज़ा पुस्तक से भौतिक शास्त्र पढ़ा था, जिसमें यह घोषणा की गई थी कि भौतिकी का आधारभूत नियम है, पदार्थ की अविनाशिता का सिद्धान्त - यानी वहाँ कहा गया था कि पदार्थ न तो बनाया जा सकता है न उसे खत्म किया जा सकता है। स्कूल छोड़ने के पहले ही मुझे इस नियम को काटना पड़ा। अर्थशास्त्र के कॉलेज में मुझे कई ऐसी बातें पढ़ाई गईं जो तात्कालिक स्थिति तक पर लागू नहीं की जा सकती थीं। और वहाँ पढ़ाई गई कई दूसरी बातें आज बासी और बेकार हो चुकी हैं। कॉलेज छोड़ने के कई वर्षों बाद ही मुझे यह पता चला कि यूनानी कौम तटस्थ, न्यायप्रिय व धवल मन्दिरों से घिरी कौम होने के बदले गरम मिज़ाज, शोर-शराबा करनेवाली झगड़ालू लोगों की कौम थी जो अपने मन्दिरों को सोने की पत्तियों और भड़कीले रंगों से सजाया करते थे; या रोम साम्राज्य के अधिकांश नागरिक एक खुले चौक के चारों ओर बने कमरों में न रहकर कई मंजिलोंवाले घरों में रहा करते थे, जिनमें से एक तो शायद प्राचीन विश्व की सबसे बड़ी इमारत थी। अगर कोई बच्चा वे सब बातें याद रखे जो उसने स्कूल में पढ़ी थीं तो वह अपना जीवन कई ऐसी बातों को मानते हुए बिताए, जो सच हैं ही नहीं।

और फिर हम यह कैसे तय करेंगे कि आज से चालीस, बीस या दस वर्षों में किस तरह के ज्ञान की आवश्यकता पड़ेगी। मैंने स्कूल में लातिन व फ्रांसीसी पढ़ी थी। कई शिक्षक उस समय दावा करते थे कि लातिन आवश्यक है, वे शायद आज भी यही दावा करें; फ्रांसीसी के बदले शिक्षक आज शायद हिस्पानी या रूसी पढ़ाना चाहेंगे। आज कुछ स्कूल रूसी पढ़ाते हैं, पर शायद उन्हें चीनी या हिन्दी या न जाने कौन सी भाषा पढ़ानी चाहिए?

जब मैंने यह लिखा था उस समय लोग शायद इस सुझाव का मज़ाक उड़ाते कि अच्छा हो अगर हम जापानी सीखने लगे।

भौतिकशास्त्र के अलावा मैंने रसायनशास्त्र भी पढ़ा था जो उस समय विज्ञान विषयों में शायद सबसे लोकप्रिय था; पर बेहतर होता कि मैं जीवशास्त्र या पर्यावरणशास्त्र पढ़ता, अगर उस समय ऐसा कोई पाठ्यक्रम स्कूलों में होता (पर यह पाठ्यक्रम तब था ही नहीं)। हम हमेशा ही बाद

में चेतते हैं कि जिन विशेषज्ञों की हमें ज़रूरत है वे हमारे पास हैं ही नहीं। पर यह स्थिति तो हमेशा ही रहेगी, क्योंकि हम यह जान ही नहीं सकते कि भविष्य में हमें किस तरह के ज्ञान की आवश्यकता पड़नेवाली है। सो उसे पहले से पढ़ाना तो बेकार ही होगा। अच्छा हो कि हम अपना समय ऐसे लोग तैयार करने में लगाएँ जो सीखने से प्यार करते हैं। और जो इतना भर सीख लें कि जिस भी विषय को सीखने की आवश्यकता पड़े, वे उसे स्वयं सीख सकें।

ऐसे में भला हम यह कैसे कह सकते हैं कि किसी एक तरह का ज्ञान किसी दूसरी तरह के ज्ञान से अधिक महत्वपूर्ण है, या जो हम स्कूलों के सन्दर्भ में हमेशा कहते रहते हैं कि कुछ ज्ञान बच्चों के लिए आवश्यक है और बाकी सब बेकार है? जो बच्चा ऐसा कुछ सीखना चाहता है जो उसे उसका स्कूल नहीं सिखाता या सिखाना नहीं चाहता, तो उसे हमेशा यह कहा जाता है कि वह अपना समय बर्बाद न करे। पर हम उसे किस आधार पर यह कह सकते हैं कि जो वह सीखना चाहता है, वह उससे कम महत्वपूर्ण है जो हम उसे सिखाना चाहते हैं? हमें यह पूछना चाहिए कि स्कूली शिक्षण के समापन पर मानवीय ज्ञान का कुल कितना भाग कोई बच्चा जान लेता है? शायद दल लाखवाँ अंश। तो क्या हम सच में यह मानते हैं कि पूरे दस लाख भागों में केवल वही एक अंश सबसे महत्वपूर्ण है? या फिर हम यह कहना चाहते हैं कि अगर हम कोई ऐसा उपाय ढूँढ पाते जिससे दस लाख का एक नहीं, दो भाग पढ़ा दिया जाए तो हमारी राष्ट्रीय व सामाजिक समस्याएँ दूर हो जाएँगी? हमारी समस्या इस बात से पैदा ही नहीं होती कि हमारे पास ऐसे विशेषज्ञ नहीं हैं जो हमें यह बता सकें कि हमें क्या करना चाहिए, बल्कि इस बात से जन्मती है कि हम वह नहीं करते या करना चाहते जो हमें आज कर लेना चाहिए।

सीखना ही सब कुछ नहीं है और निश्चित रूप से ज्ञान का एक अंश उतना ही अच्छा है, जितना कोई दूसरा। पाँचवीं कक्षा का एक प्रखर व तेज़ बच्चा साँपों में रुचि रखता था। मैं जितने भी लोगों को जानता हूँ उनसे कहीं अधिक ज्ञान उस बच्चे को साँपों के बारे में था। स्कूल में ऐसा

कोई विषय नहीं था, न ही साँप हमारे पाठ्यक्रम में कहीं भी आते थे। पर जहाँ तक मेरे व्यक्तिगत मत का प्रश्न है, मैं मानता था कि जो भी समय वह साँपों के बारे में जानकारी इकट्ठी करने में बिताता वह मेरे द्वारा सुझाए गए किसी भी दूसरे विषय पर बिताए गए समय से कहीं बेहतर उपयोग था। खासकर इसलिए क्योंकि साँपों के बारे में सीखने की प्रक्रिया में वह तमाम दूसरी चीज़ों के बारे में भी जानकारी हासिल कर पा रहा था। और वह सारी जानकारी मेरे द्वारा “पढ़ाए गए” वे छात्र कभी नहीं पा सकते थे जिनकी किसी भी चीज़ में रुचि नहीं थी। किसी एक पाँचवीं कक्षा में ब्रिटेन के रोमवासियों के बारे में पढ़ाते हुए मैंने एक लड़के को छुपकर विज्ञान की पुस्तक पढ़ते पाया। वह पकड़ा गया और उसे कहा गया कि वह विज्ञान की किताब रखकर शिक्षक की बात सुने। उसने एक गहरी साँस छोड़ी, और यही किया। पर क्या लाभ हुआ? हमने विज्ञान सीखने की पूरे घण्टे की ठोस प्रक्रिया को इतिहास की क्षणिक और उबाऊ समझ में बदल डाला। या वह समय उस बच्चे ने कुछ भी नहीं सीखने में, खयालों में खोए रहने में या नाराज़ होने में बिताया होगा।

विषयवस्तु किसी एक तरह के ज्ञान को किसी दूसरे से अधिक कीमती नहीं बनाती; कीमती होती है सीखने की प्रक्रिया या विधि। जब बच्चा उस तरह से सीखता है जैसे हमारे स्कूली बच्चे सीखते हैं तो वह अपना समय बर्बाद करता है; क्योंकि बच्चे स्कूलों में सीखते समय केवल शब्दों को निगलते हैं ताकि माँग करते ही वे उन्हें उगल सकें। ऐसा ज्ञान न तो स्थाई होता है, न ही उपयोगी। पर जब बच्चा स्वाभाविक रूप से सीखता है, अपनी जिज्ञासा से खिंचा बढ़ता चलता है, वास्तविकता की अपने मानसिक प्रारूप में वह सब जोड़ता चलता है जिसकी उसे ज़रूरत है, जब वह बिना भय या अपराधबोध के कुछ चीज़ों को अस्वीकार कर सकता है केवल तभी वह सचमुच विकास कर पाता है। अपने ज्ञान का विकास, ज्ञान के प्रति प्रेम का विकास, सीखने की निजी क्षमता में विकास कर पाता है। वह उस मानव का रूप धरने की दिशा में बढ़ता है जिसकी हमारे समाज को आवश्यकता है। पर हमारे “श्रेष्ठतम” स्कूल और कॉलेज ऐसे लोग नहीं

गढ़ते। ऐसे लोग जो व्हिटनी प्रिस्वल्ड के शब्दों में - जो कुछ भी वे करते हैं उसमें अर्थ खोजते व पाते हैं और उसी में सत्य व आनन्द भी खोज पाते हैं। ऐसा व्यक्ति आजीवन सीखता चला जाता है। उसका हरेक अनुभव उसके वास्तविकता के मानसिक प्रारूप को पहले से अधिक पूर्ण, अधिक सच्चा बनाता चलता है और तब वह अधिक कुशलता, वास्तविकता, सजीवता, कल्पनाशीलता व रचनात्मकता के साथ उन नए अनुभवों व चुनौतियों से भी निपट सकता है जिन्हें जीवन उसके राह में ले आए।

स्कूलों में सीखना तब तक वास्तविकता का रूप नहीं ले सकता जब तक हम यह मानते रहें कि बच्चों को यह बताना हमारा कर्तव्य व अधिकार है कि उन्हें क्या सीखना चाहिए। हम यह तय नहीं कर सकते कि किसी पल विशेष के लिए बच्चों को किस तरह के ज्ञान या समझ की सबसे अधिक जरूरत है, जो न केवल वास्तविकता के उसके निजी प्रारूप को पुष्ट भी करे, बल्कि उसमें ठीक भी बैठे। यह तो केवल बच्चा स्वयं ही तय कर सकता है। सम्भव है वह अपना चुनाव अच्छी तरह न कर पाए, पर फिर भी उसका चुनाव हमारे चुनाव से सैकड़ों गुना बेहतर होगा। हम तो ज्यादा से ज्यादा इतना भर कर सकते हैं कि उसे यह बता दें कि क्या-क्या कहाँ-कहाँ उपलब्ध है। क्या सीखना या नहीं सीखना है, इसका चुनाव तो उसे ही करना चाहिए।

एक और, सम्भवतः सबसे महत्वपूर्ण कारण है, जिसके आधार पर हमें इस विचार को ही नकारना चाहिए कि स्कूल और कक्षा ऐसी जगह है जहाँ बच्चे अपना अधिकांश समय वह सब करने में बिताते हैं जो उसे वयस्क करने को कहते हैं। वह कारण यह है कि किसी भी बच्चे को कुछ भी करने पर बाध्य करने का हमारे पास ऐसा कोई उपाय है ही नहीं, जो उसे भयभीत न करे, या उसे पहले से कहीं अधिक सहमा हुआ न बना दे। इस तथ्य को नकारना खुद अपनी ही आँखों में धूल झोंकना होगा। भविष्य के उन सभी प्रगतिवादियों ने, जो हाल तक पूरे अमरीका की सरकारी स्कूली शिक्षा को प्रभावित करते रहे थे, इस तथ्य को नहीं पहचाना था। न आज इसे पहचानते हैं। वे सोचते थे, कम से कम जो कुछ वे कहते या लिखते थे उससे तो यही प्रतीत होता था मानो वे यह सोच रहे हों, कि बच्चों को बाध्य करने के भी

अच्छे या बुरे तरीके हो सकते हैं (बुरे वे, जो कठोर और क्रूर हों तथा अच्छे वे, जो कोमल, फुसलानेवाले, सूक्ष्म व करुणामय हों)। उनका मानना था कि अगर बुरे तरीकों को त्याग दिया जाए और अच्छे अपना लिए जाएँ तो कोई नुकसान नहीं होगा। वह उनकी सबसे बड़ी भूल थी। यही वह कारण भी था कि जिस क्रान्ति की आशा उनके मन में थी, वह कहीं आ नहीं पाई।

पीड़ा या भय के बिना बलप्रयोग का विचार ही एक मरीचिका है। भय तो बलप्रयोग का अविभाज्य साथी है, उसका निश्चित परिणाम है। अगर आप यह सोचते हैं कि बच्चों से वह सब करवाना आपका कर्तव्य है जो आप चाहते हैं तो यह भी स्वतः सिद्ध है कि उन्हें इस बात से डरना भी सीखना होगा कि अगर उन्होंने वह सब नहीं किया जो आप चाहते हैं, तो उनकी खैर नहीं। आप यह भय पुरानी विधि से खुल्लमखुल्ला, कठोर शब्दों के डर से, स्वतंत्रता पर अंकुश लगाकर, या शारीरिक दण्ड के डर से पैदा कर सकते हैं। या फिर यही काम आधुनिक सूक्ष्म तरीके से, सहजता के साथ चोरी-छुपे कर सकते हैं, जिसमें आप उसे वह स्वीकृति या अनुमोदन ही न दें जिस पर आपने उसे निर्भर रहना सिखाया है। या फिर आप उनमें यह भावना पनपा सकते हैं कि भविष्य में किसी न किसी तरह का दण्ड उनकी राह देख रहा है। ऐसा दण्ड जिसकी कल्पना तो नहीं की जा सकती पर जिससे बचना भी असम्भव है। आप उन दक्ष शिक्षकों की तरह शब्दों, हाव-भावों, एक नज़र या मुस्कान से ही बच्चों में पाए जानेवाले लज्जा व अपराधबोध के अथाह सागर को साध सकते हैं, जिसे वे अपने साथ लेकर स्कूलों में आते हैं। यह भी किया जा सकता है कि आपकी आज्ञा की अनुपालना न होने की स्थिति के परिणामों के अपने निजी भय से ही आप बच्चों को संक्रामित कर दें। बच्चे तब क्रमशः यह मानने लगेंगे कि दुनिया एक ऐसी खतरों भरी जगह है, जहाँ बचाव के लिए उन्हें आप सरीखे वयस्कों की साख की जरूरत है और यह साख ऐसी क्षणभंगुर वस्तु है जिसे हर दिन फिर से अर्जित करना जरूरी है।

जो अकेला विकल्प है - दूसरा कोई मुझे तो सूझता तक नहीं - वह यह है कि ऐसे स्कूल हों, ऐसी कक्षाएँ हों जहाँ बच्चे अपनी तरह से अपनी जिज्ञासा को संतुष्ट करें। स्वयं ही निजी क्षमताएँ व गुण विकसित करें। अपनी रुचियों

व रक्षानों को पनपाएँ। अपने आसपास के वयस्कों के जीवन की विविधता और सम्पन्नता की झलकियाँ पाते रहें। संक्षेप में स्कूल, बुद्धि, कला, रचना, खेलकूद का ऐसा विशाल मंच बने जिसमें हरेक बच्चा जो चाहे व जितनी मात्रा में चाहे, स्वयं चुन सके। जब ऐना मेरे साथ एक सत्र बिताने के बाद छठी कक्षा में आई तो मैंने इस विचार का उससे जिक्र किया। ये स्कूल किस तरह चलें और बच्चे वहाँ क्या कर सकते हैं, इसकी संक्षिप्त रूपरेखा खींचकर मैंने पूछा, “बताओ तो तुम्हें यह विचार कैसा लगता है? क्या यह काम कर भी सकेगा, बच्चे क्या कुछ सीख सकेंगे?” उसने पूरे विश्वास के साथ कहा था, “जी हाँ, यह तो अद्भुत होगा।” तब वह दो-एक पल चुप रही; शायद अपने पिछले स्कूली अनुभवों को याद करती रही हो। फिर सोचते हुए बोली, “पता है, बच्चों को सीखना सच में अच्छा लगता है, पर लोग हमें धकियाते रहें यह हमें अच्छा नहीं लगता।”

सच बच्चों को यह पसन्द नहीं है, और हमें इस बात का शुक्र मानना चाहिए। उन्हें धकियाना बन्द कर उन्हें एक मौका देना चाहिए।

यह लिखने के बाद मैंने यह मानना बन्द कर दिया है कि “स्कूल” चाहे उनकी व्यवस्था कैसी भी क्यों न हो, सीखने के लिए उपयुक्त जगह है। जैसा मैंने *इन्स्टेड ऑफ एज्युकेशन और टीच यॉर ओन* में लिखा है कि कुछ विशेष परिस्थितियों को छोड़कर सीखने के ऐसे स्थानों का विचार - जहाँ सीखने के अलावा कुछ न होता हो - मुझे अब नहीं जमता है। जो कुछ सीखना बच्चों के लिए आवश्यक हो या जो कुछ वे सीखना चाहते हों, उसे सीखने का सही और सबसे उपयुक्त स्थान वहीं है जहाँ कुछ समय पहले तक दुनिया भर के बच्चे सीखा करते थे। वह स्थान है वयस्क जीवन की मूल धारा। हमें प्रत्येक समुदाय में (शायद पुरानी स्कूली इमारतों में ही) संदर्भ गतिविधि केन्द्र या नागरिक मंच बनाने चाहिए, जहाँ हर तरह की गतिविधि के लिए पर्याप्त जगह हो। पुस्तकालय, संगीत कक्ष, रंगमंच, व्यायामशाला, कार्यशाला, सभागृह-जो बच्चों, बूढ़ों, जवानों सभी के लिए खुले हों। हमने अपने नेक इरादों के बावजूद तब एक भयानक भूल की थी जब हमने बच्चों को वयस्कों से तथा जीवन से सीखने के अवसरों से

काट दिया था। आज हमारा सबसे ज़रूरी काम है इन बाधाओं को तोड़ना जो हमने उनके बीच बनाई हैं, ताकि वे फिर से समाज के साथ हो लें।

पर पहले की ही तरह अन्तिम शब्द भी मैं बच्चों के लिए ही छोड़े देता हूँ। ऐना को अपने पिछले स्कूल से एक असम्भव छात्र और बेहद बुरी बच्ची करार कर निकाल दिया गया था। उसके माता-पिता सम्पन्न थे सो उन्होंने बॉस्टन के नामी-गिरामी विशेषज्ञ उसके इलाज के लिए जुटाए। उनका मत था कि उसकी समस्या सीखने की विकलांगता है और साथ ही भावनात्मक व मनोवैज्ञानिक अस्थिरता। मेरी कक्षा में पहले ही दिन से वह मुझे एक बेहद आनन्द व सन्तोष देनेवाली बच्ची लगी। साहसी, ऊर्जा से भरी हुई, उत्साही, स्व-प्रोत्साहन से आगे बढ़ते जानेवाली, स्नेही, कल्पनाशील, बेहद गुणी व एक स्वाभाविक नेता। उस जैसे कुल दो-तीन बच्चे ही रहे होंगे जो इतने वर्षों में मुझे इतना सन्तोष दे सके थे। जिस समय वह मेरी कक्षा में आई तो वह पढ़ नहीं पाती थी। सत्र समाप्त होता उसके पहले वह बिना मेरे “पढ़ाए” ही *मोबी डिक* पढ़ रही थी, वह भी पुस्तक का रस लेकर। बड़ी होकर भी वह उतनी ही रोचक व कुशल वयस्क बनी, जितनी वह बचपन में थी। दुनिया जिस तरह सफलता नापती है, उस तरह भी देखा जाए तो तीस वर्ष की होते-होते वह विभिन्न क्षेत्रों में सफलता पा चुकी थी। उसने अपनी आत्मा को न खुद तोड़ा, न ही दूसरों को तोड़ने दिया था। एक नीरस और बुरी दुनिया से स्वयं समझौता करने के बदले उसने दुनिया को बाध्य किया कि वह उसके लिए स्थान बनाए। और इस तरह उसने दुनिया को ही कुछ अधिक जीवन्त और बेहतर बनाया। सब बच्चों को ऐसा करने में सहायता पहुँचाना ही हमारा काम है और हमारा आनन्द भी।

यह पुस्तक बाल गतिविधि कार्यक्रम के तहत अनुदित की गई थी। यह कार्यक्रम मानव संसाधन मंत्रालय, भारत सरकार की आर्थिक सहायता से पहले किशोर भारती तथा बाद में एकलव्य द्वारा संचालित किया गया था। इस कार्यक्रम का खास मकसद स्कूलों और अनौपचारिक माहौल में बाल केन्द्रित शिक्षण पद्धति विकसित करना था।



एकलव्य औपचारिक व अनौपचारिक शिक्षा तथा जन विज्ञान में कार्यरत एक स्वयंसेवी संस्था है। एकलव्य की प्रकाशन गतिविधियां उस प्रक्रिया का हिस्सा हैं जिसके तहत शिक्षा व शिक्षण शास्त्र के विभिन्न पहलुओं - दर्शन, पद्धति, प्रशासन, तकनीक - पर देश विदेश की महत्वपूर्ण पुस्तकें उपलब्ध कराई जाती हैं।

